वर्ग पृष्ठ

अध्याय ७

ऋग्वेद १०. १७–९८ के देवता

१ सरण्यू की कथा (क्रमशः) २१६
२ सरण्यू की कथा (शेषांश) । ऋग्वेद १० १७ के देवता ... २१६
३ ऋग्वेद के १०. १८, अन्त्येष्टि सूक्त का विस्तृत विवरण ... ११७
४ ऐसे मन्त्र जिनमें किसी देवता का उल्लेख नही होता ... २१९
५ ऋग्वेद १९. १९–२७ के देवता २२०
६ ऋग्वेद १०. २७ (क्रमश.) । ऋग्वेद १०. २८ : इन्द्र और वसुक्र का सवाद २२१
७ ऋग्वेद १०. ३०–३३ के देवता २२२
८ अक्ष-सूक्त : १० ३४ । ऋग्वेद १० ३५–४४ के देवता ... २२३
९ ऋग्वेद १०. ४५–४६ के देवता । घोषा की कथा .. २२४
१० घोषा की कथा (शेषांश) २२५
११ इन्द्र वैकुण्ठ की कथा २२५
१२ इन्द्र वैकुण्ठ की कथा (क्रमशः) ... २२६
१३ इन्द्र वैकुण्ठ की कथा (शेषांश) । अग्नि तथा उनके भ्राताओं की कथा : ऋग्वेद १० ५१–५३ .. ... २२७
१४ अग्नि के पलायन की कथा (क्रमशः) ... २२८
१५ 'पञ्चजना' का अर्थ २२९
१६ अग्नि के पलायन की कथा (क्रमशः) २२९
१७ अग्नि के पलायन की कथा (शेषांश) । ऋग्वेद १० ५४–५७ २३०
१८ सुबन्धु की कथा ऋग्वेद १० ५७–५९ .. ... २३१
१९ सुबन्धु की कथा (क्रमश:) २३२
२० ऋग्वेद १०. ५९ ६० का विस्तृत विवरण ... २३३
२१ सुबन्धु की कथा (शेषांश) ऋग्वेद १० ६१–६६ के देवता ... २३४
२२ ऋग्वेद १० ६३–६६ का विवरण । ऋग्वेद १०. ६७–७२ के देवता २३५
२३ ऋग्वेद १० ७१ का विस्तृत विवरण .. २३६
२४ ऋग्वेद १० ७२–८४ के देवता । खिल २३७
२५ सूर्या-सूक्त : ऋग्वेद १०. ८५ । उषस् के तीन रूप .. २३८
२६ सूर्या-सूक्त का विवरण (क्रमशः) २३९
२७ चन्द्रमस् की व्युत्पत्ति । ऋग्वेद १० ८५, २०–३० का विषय-वस्तु २४०
२८ ऋग्वेद १० ८५, ३१–४३ ... ... २४१

वर्ग
२९ सूर्या-सूक्त पर टिप्पणी (शेषांश) २४२
३० ऋग्वेद १० ८९–९३ के देवता। पुरूरवस् और उर्वशी की कथा २४३
३१ पुरूरवस और उर्वशी की कथा (शेषांश) २४४
३२ ऋग्वेद १० ९६ ९७ के देवता। देवापि की कथा १० ९८ २४५

अध्याय ८

ऋग्वेद १० ९८–१९१ (१–९८) के देवता। निष्कर्ष (९९–१४०)
१ देवापि की कथा (क्रमश) २४६
२ देवापि की कथा (शेषांश)। ऋग्वेद १० १०१ के देवता २४७
३ ऋग्वेद १० १०२ १०३ के देवता। नकुल का खिल २४८
४ ऋग्वेद १० १०४–१०५ के देवता। भूतांश काश्यप ऋग्वेद १० १०६ २५०
५ ऋग्वेद १० १०७। सरमा और पणियों की कथा ऋग्वेद १० १०८ २५१
६ सरमा और पणियों की कथा (क्रमश) २५२
७ सरमा और पणियों की कथा (शेषांश) २५३
८ ऋग्वेद १० १०९–१२० के देवता २५४
९ ऋग्वेद १० १२१–१२९ के देवता। तीन खिल २५४
१० ऋग्वेद १० १३०–१३७ के देवता २५५
११ भूमि' खिल। ऋग्वेद १० १३८–१४२ के देवता २५६
१२ ऋग्वेद १० १४३–१५४ के देवता। खिल मेधासूक्त २५७
१३ ऋग्वेद १० १५५–१५९ के देवता २५९
१४ ऋग्वेद १० १६०–१६४ के देवता। ऋषि कपोत नैर्ऋत २५९
१५ ऋग्वेद १० १६५–१७४ के देवता २६०
१६ ऋग्वेद १० १७५–१८१ के देवता २६२
१७ ऋग्वेद १० १८२–१८४ के देवता २६३
१८ नेजमेष खिल। ऋग्वेद १० १८५–१८८ के देवता २६४
१९ ऋग्वेद १० १८९ १९०। 'संज्ञानम्' खिल २६५
२० दो खिल। ऋग्वेद १० १९१। महानाम्नी ऋचायें २६६
२१ महानाम्नी ऋचायें सूक्त क्या होता है २६७
२२ निविद् निगद और छन्दों के देवता २६९
२३ छन्दों, वेदों, वषट्कार, स्वाहाकृतियों के देवता। स्वर २७०
२४ स्वरों के देवता २७१

वर्ग	पृष्ठ
२५ स्वरों के देवता (शेषांश)। प्रस्ताव, उद्गीथ, उपद्रव, प्रतिहार, निधन, के देवता	२७२
२६ वैश्वदेव सूक्तों के विभिन्न नैपातिक देवता	२७३
२७ देवता सम्बन्धी विवरण तथा उनका ज्ञान	२७४
२८ देवताओं को जानने का महत्व	२७५

परिशिष्ट १ : बृहद्देवता में उद्धृत वैदिक प्रतीकों की सूची २७७

परिशिष्ट २ : बृहद्देवता में उद्धृत आचार्यों के नाम २८८

परिशिष्ट ३ : बृहद्देवता के अनुसार ऋग्वेद के देवताओं की सूची २८६

परिशिष्ट ४ : बृहद्देवता में वर्णित कथाओं की सूची ३०२

परिशिष्ट ५ : अन्य ग्रन्थों में उद्धृत बृहद्देवता के स्थलों की सूची ३०४

परिशिष्ट ६ : अन्य ग्रन्थों के साथ बृहद्देवता का सम्बन्ध ३०७

परिशिष्ट ७ : संस्कृत शब्दों और नामों की अनुक्रमणिका ३२७



॥ शौनकीयबृहद्देवता ॥

॥ अथ शौनकीयबृहद्देवतारम्भ ॥

१–देवताओं को जानने का महत्त्व, वैदिकत्रयी

मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्वा[1] समाम्नायानुपूर्वशः[2] ।
सूक्तगर्धर्चपादानाम् ऋग्भ्यो वक्ष्यामि दैवतम् ॥ १ ॥

मन्त्र द्रष्टाओं को नमस्कार करते हुये, मैं परम्परागत पाठ[2] के सन्दर्भ में (प्रत्येक) ऋचा को उद्दिष्ट करके सूक्तों के देवताओं, ऋचाओं, अर्धऋचाओं और मन्त्रों का वर्णन करूँगा।

[1] ऋग्विधान १ १ १ म नमस्कृत्वा मन्त्रदृग्भ्य पाठ है।
[2] समाम्नायानुपूर्वशः ऋग्विधान १ १ २ में भी आता है।

वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः ।
दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थमवगच्छति ॥ २ ॥

(सभी व्यक्तियों को) प्रत्येक मन्त्र के देवताओं का ठीक ठीक ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि जो मन्त्रों के देवता को जानते है वह उनके अर्थ को भी समझते हैं।

तद्विदांस्तदभिप्रायान् ऋषीणां मन्त्रदृष्टिषु ।
विज्ञापयति विज्ञानं कर्माणि विविधानि च ॥ ३ ॥

ऋषियों पर मूलत प्रकट होने के समय मन्त्रों में निहित अभिप्रायों[1] से परिचित तथा उनके और उनसे सम्बद्ध संस्कारों को ठीक ठीक ग्रहण करने की क्षमता रखनेवाले व्यक्ति ही मन्त्रों के विविध अभिप्रायों तथा कर्मों के सम्बन्ध में प्रामाणिक मत व्यक्त कर सकते हैं,

[1] तु० क० 'एवम उच्चावचैर अभिप्रायैर ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति', निरुक्त ७ ३।

न हि कश्चिदविज्ञाय याथातथ्येन दैवतम् ।
लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलमश्नुते ॥ ४ ॥

क्योंकि वस्तुतः में मन्त्रों से सम्बन्धित देवताओं के ठीक-ठीक ज्ञान के बिना लौकिक अथवा वैदिक संस्कारों[1] का फल नहीं प्राप्त किया जा सकता।

[1] सर्वानुक्रमणी के अनुसार भी इस प्रकार के ज्ञान के बिना 'श्रौत' और 'स्मार्त' संस्कारों का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। तु० का० नीचे १ २१, तथा ऋग्विधान १ २, १, भी।

प्रथमो भजते त्वासां वर्गोऽग्निमिह दैवतम् ।
द्वितीयो वायुमिन्द्रं वा तृतीयः सूर्यमेव च ॥ ५ ॥

देवों का प्रथम वर्ग अग्नि देवता के, द्वितीय वायु अथवा इन्द्र के, और तृतीय सूर्य के अन्तर्गत आता है ।[1]

[1] तु० कौ० नीचे १ ६९; निरुक्त ७. ५, सर्वानुक्रमणी, १. ८ ।

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति ।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः ॥ ६ ॥

ऐसा कथन है कि किसी वस्तु की कामना करते हुये एक द्रष्टा जिस किसी देवता की स्तुति करता है वही उस मन्त्र का देवता होता है ।[1] किसी देवता की प्रमुख रूप से भक्तिपूर्वक स्तुति करनेवाला मन्त्र उसी देवता को सम्बोधित होता है ।

[1] तु० कौ० निरुक्त ७ १ ।

२–स्तुति और आशीस

स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च ।
स्वर्गायुर्धनपुत्राद्यैर् अर्थैराशीस्तु कथ्यते ॥ ७ ॥

स्तुति को नाम, रूप, कार्य, और बन्धुत्व के द्वारा व्यक्त किया जाता है, किन्तु आशीस को स्वर्ग, आयुस्य, धन और पुत्र के द्वारा ।[1]

[1] तु० कौ० ऋग्विधान, १ १, ६

स्तुत्याशिषौ तु यास्वृक्षु दृश्येतेऽल्पास्तु ता इह ।
ताभ्यश्चाल्पतरास्ताः स्युः स्वर्गो याभिस्तु याच्यते ॥८॥

ऐसे मंत्र जिनमें आशीस और स्तुति दोनों हों (ऋग्वेद में) पाये तो जाते हैं किन्तु अत्यन्त कम । इनसे भी कम ऐसे मंत्रों की संख्या है जिनमें स्वर्गप्राप्ति की याचना की गयी हो ।

स्तुवन्तं वेद सर्वोऽयम् अर्थयत्येष मामिति ।
स्तौतीत्यर्थं ब्रुवन्तं च सार्थं मामेष पश्यति ॥९॥

हम सभी लोग अपनी स्तुति करनेवालों को जान लेते हैं, और उनके सम्बन्ध में यह भी अनुमान कर लेते हैं कि 'वह (याचना करनेवाला) व्यक्ति हमसे कुछ चाहता है, और अपने अभीष्ट की याचना करनेवाला व्यक्ति

भी हमारे सम्बन्ध में यह समझता है कि हम उसका अभीष्ट उसे प्रदान कर सकते हैं।

स्तुवद्भिर्वा ब्रुवद्भिर्वा ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
भवत्युभयमेवोक्तम् उभयं ह्यर्थतः समम् ॥१०॥

किन्तु तत्त्वदर्शी ऋषि चाहे आशीष करे अथवा किसी बात को कहे उसमें दोनों ही बातों की अभिव्यक्ति होती है क्योंकि यह दोनों ('आशीष' और 'किसी बात का कथन') समान हैं।

प्रत्यक्षं देवतानाम यस्मिन्मन्त्रेऽभिधीयते।
तामेव देवतां विद्यान् मन्त्रे लक्षणसंपदा ॥ ११ ॥

यदि किसी मन्त्र में किसी देवता का नाम मध्यम पुरुष[1] में आता है तो भी उसी को उस मन्त्र का देवता समझना चाहिये क्योंकि ऐसे पदों का यही लक्षण होता है।

[1] तु० रा० 'प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगाम् त्वम् इति चैतेन सर्वनाम्ना', निरुक्त ७ २।

३-सूक्तों के विभिन्न प्रकार

तस्मात्तु देवतां नाम्ना मन्त्रे मन्त्रे प्रयोगवित्।
बहुत्वमभिधानां च प्रयत्नेनोपलक्षयेत् ॥१२॥

अतः मन्त्रों के प्रयोग से परिचित व्यक्ति को चाहिये कि वह देवों के नाम और विविध उपाधियों की दृष्टि से मन्त्र में देवता को प्रयत्नपूर्वक देखे।

सम्पूर्णमृषिवाक्यं तु सूक्तमित्यभिधीयते।
दृश्यन्ते देवता यस्मिन् एकस्मिन् बहुषु द्वयोः ॥१३॥

किसी ऋषि के सम्पूर्ण वाक्य को सूक्त कहते हैं जिसके एक, दो, अथवा अनेक मन्त्रों में देवता दिखाई देते हैं।

देवतार्षार्थछन्दस्तो वैविध्यं च प्रजायते।
ऋषिसूक्तं तु यावन्ति सूक्तान्येकस्य वै स्तुतिः ॥ १४ ॥
श्रूयन्ते तानि सर्वाणि ऋषेः सूक्तं हि तस्य तत्।
यावदर्थसमाप्तिः स्याद् अर्थसूक्तं वदन्ति तत् ॥ १५ ॥

देवता, आर्ष, विषय-वस्तु और छन्द की दृष्टि से सूक्तों में विविधता उत्पन्न

वास्तव में लोग यह प्रश्न पूछते हैं कि 'कितने कर्मों से नामों की उत्पत्ति होती है ?'[1]

[1] यह व्याहृति 'लौक्यानाम्' के ही समान है; तु० की० 'लौक्यानां वैदिकानां वा', ऊपर १. ४।

नवभ्य इति नैरुक्ताः पुराणाः कवयश्च ये।
मधुकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्वते ॥ २४ ॥

व्युत्पत्ति-शास्त्रियों अथवा नैरुक्तों का कथन है कि नौ (कर्मों) से इनकी (नामों की) उत्पत्ति होती है; पौराणिक ऋषिगण, और मधुक, श्वेतकेतु तथा गालव आदि कवि भी ऐसा ही विचार रखते हैं।

निवासात्कर्मणो रूपान् मङ्गलाद्वाच आशिषः।
यदृच्छयोपवसनात् तथामुष्यायणाच्च यत् ॥ २५ ॥

इन नौ के अन्तर्गत आवास, कर्म, रूप, मङ्गलत्व, वाच्, आशीस, स्वेच्छा, निकटवास तथा उच्च-कुलत्व आते हैं।

चतुर्भ्य इति तत्राहुर् यास्कगार्ग्यरथीतराः।
आशिषोऽथार्थवैरूप्याद् वाचः कर्मण एव च ॥ २६ ॥

इसी समस्या के सम्बन्ध में यास्क, गार्ग्य, और रथीतर ने चार आधार, अर्थात् आशीस, अर्थ-वैरूपता[1], वाच्, तथा कर्म, निश्चित किये हैं।

[1] यहाँ 'अर्थ-वैरूप्य' उपरोक्त २५वें के 'रूप' के समान है।

६–शौनक का दृष्टिकोण : सभी नाम कर्म से उत्पन्न होते हैं

सर्वाण्येतानि नामानि कर्मतस्त्वाह शौनकः।
आशी रूपं च वाच्यं च सर्वं भवति कर्मतः ॥२७॥

किन्तु शौनक का कथन है कि सभी नाम कर्म द्वारा उत्पन्न होते हैं, अर्थात् आशीस, रूप, वाच्, आदि सभी की उत्पत्ति कर्म से ही होती है।[1]

[1] यहाँ 'रूप' उपरोक्त २६वें श्लोक के 'अर्थ-वैरूप्य' के तथा 'वाच्य', 'वाच्' के समान हैं।

यदृच्छयोपवसनात् तथामुष्यायणाच्च यत्।
तथा तदपि कर्मैव तच्छृणुध्वं च हेतवः ॥ २८ ॥

इसी प्रकार स्वेच्छा, निकटवास तथा उच्च-कुल से उत्पन्न नामों को

भी कर्म द्वारा ही उत्पन्न मानना चाहिये। इस स्थापना का आधार क्या है, उसे सुनें :

प्रजाः कर्मसमुत्था हि कर्मतः सत्त्वसंगतिः।
क्वचित्संजायते सच निवासात्तत्प्रजायते ॥ २९ ॥

प्राणियों की उत्पत्ति कर्म से ही होती है, कर्म से सत्त्व-संगति विकसित होती है; और प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में किसी न किसी स्थान पर ही अस्तित्व धारण करता है, अर्थात् वह अपने निवास में ही उत्पन्न होता है।

याहच्छिकं तु नामाभिधीयते यत्र कुत्रचित्।
औपम्यादपि तद्विद्याद् भावस्यैवेह कस्यचित् ॥ ३० ॥

स्वेच्छया रक्खे गये नाम भी किसी न किसी स्थान पर ही रक्खे जाते हैं। अतः लोगों को जानना चाहिये कि यहाँ यह भी अस्तित्व के किसी न किसी भाव की तुलना से ही निष्पन्न होते हैं,

नाकर्मकोऽस्ति भावो हि न नामास्ति निरर्थकम्।
नान्यत्र भावान्नामानि तस्मात्सर्वाणि कर्मतः ॥ ३१ ॥

क्योंकि अस्तित्व का कोई भी रूप ऐसा नहीं जो कर्म से सम्बद्ध न हो, और न कोई नाम ही ऐसा है जो निरर्थक हो। नामों का अस्तित्व के अतिरिक्त और कोई स्रोत है ही नहीं। इस प्रकार सभी नाम कर्म से ही निष्पन्न होते हैं।

७–मांगलिकनाम; विभिन्नप्रकार के मंत्र

मङ्गलात्क्रियते यच्च नामोपवसनाच्च यत्।
भवत्येव तु सा ह्याशीः स्वस्त्यादेर्मङ्गलाद्धि ह ॥ ३२ ॥

मांगलिकता की दृष्टि से निर्मित और निवास से सम्बन्धित नाम भी 'स्वस्ति' जैसे सौभाग्य सूचक शब्दों के आधार पर केवल आशीष का रूप धारण कर लेते हैं।

अपि कुत्सितनामायम् इह जीवेत्कथं चिरम्।
इति क्रियन्ते नामानि भूतानां विदितान्यपि ॥ ३३ ॥

प्राणियों के प्रसिद्ध नाम इस (मङ्गलत्व के) सिद्धान्त पर ही निर्मित

होते हैं कि 'यह कुत्सित नामवाला व्यक्ति चिरकाल तक कैसे जीवित रह सकता है ?'[1]

[1] अर्थात् साधारण नाम या अमाङ्गलिकता को बचाने के सिद्धान्त पर ही निर्मित होते हैं। तु० की० निरुक्त १. २०, जहाँ यदि पशु (मृग) की उपाधि है तो उस दशा में 'कुन्चर' शब्द के 'कु' की 'कुत्सित' के रूप में व्याख्या की जा सकती है; किन्तु यदि यह (कुन्चर) किसी देवता के लिये व्यवहृत हुआ है तो ऐसा अर्थ नहीं होगा।

मन्त्रा नानाप्रकाराः स्युर् दृष्टा ये मन्त्रदर्शिभिः।
स्तुत्या चैव विभूत्या च प्रभावाद्देवतात्मनः ॥३४॥

मन्त्र द्रष्टाओं द्वारा दृष्ट मन्त्र, देवता के अपने प्रभाव से उत्पन्न विभूति तथा स्तुति की दृष्टि से नाना प्रकार के हो सकते हैं।

स्तुतिः प्रशंसा निन्दा च संशयः परिदेवना।
स्पृहाशीः कत्थना याच्ञा प्रश्नः प्रैषः प्रवल्हिका ॥३५॥

स्तुति (४७)[1], प्रशंसा (४८), निन्दा (४९), संशय (५१), परिदेवन (५०), स्पृहा (५३), आशीस (५०), दम्भ (५१), याचना (४९), प्रश्न (५०), प्रैप (५७), प्रवल्हिका (५७),

[1] ३५-३९ श्लोकों के अर्थ में कोष्ठों में लिखी संख्याओं से प्रस्तुत अध्याय के उन श्लोकों का तात्पर्य है जिनमें इन व्याहृतियों की व्याख्या की गई है। तु० की० निरुक्त ७. ३, जहाँ 'स्तुति', 'आशीस्', 'आचिख्यास', 'परिदेवना', 'निन्दा', और 'प्रशंसा', के उदाहरण दिये गये हैं।

नियोगश्चानुयोगश्च श्लाघा विलपितं[1] च यत्।
आचिख्यासाथ संलापः पवित्राख्यानमेव[2] च ॥ ३६ ॥

नियोग (५१), अनुयोग (५२), श्लाघा (५३), विलाप (५३), वृत्तान्तकथन (५८), वार्तालाप (५२), पवित्र आख्यान (५३),

[1] इसके लिये ५३वें श्लोक में 'विलाप' का प्रयोग किया गया है।
[2] ५३वें श्लोक में केवल 'आख्यान' है।

८–विभिन्न प्रकार के मन्त्र तथा अभिव्यंजनात्मक पद्धतियाँ

आहनस्या नमस्कारः प्रतिराधस्तथैव च।
संकल्पश्च प्रलापश्च प्रतिवाक्यं तथैव च ॥ ३७ ॥

प्रतिषेधोपदेशौ च प्रमादापह्नवौ च ह।
उपप्रैषश्च यः प्रोक्तः संज्वरो यश्च विस्मयः ॥ ३८ ॥
आक्रोशोऽभिष्टवश्चैव क्षेपः शापस्तथैव च।
उपसर्गो निपातश्च नाम चाख्यातमित्यपि ॥ ३९ ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च पुमान् स्त्री च नपुंसकम्।
एवंप्रकृतयो मन्त्राः सर्ववेदेषु सर्वशः ॥ ४० ॥

कामनात्मक श्लोक (५५), नमस्कार (५४) प्रतिराध (५५), सङ्कल्प (५५), प्रलाप (५५), उत्तर (५०), प्रतिषेध और उपदेश (५२) प्रमाद और अपह्नव (५६, ५७), तथा जिसे आमन्त्रण (५६), सञ्ज्वर (५६) और विस्मय (५७) कहते हैं, आक्रोश (४८), अभिष्टव,[1] आक्षेप (४९), शाप[2] (४९, ५८), उपसर्ग, निपात, संज्ञा, और क्रिया[3], भूत, वर्तमान[4], और भविष्य, पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, क्लीब[5], इत्यादि की प्रकृति से युक्त मन्त्र ही समस्त वेदों में सर्वत्र मिलते हैं।

[1] इन वर्गों का नीचे कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसका कारण सम्भवत व्यावहारिक दृष्टि से 'स्तुति' के साथ इसकी समानता ही है।

[2] देखिये नीचे (४७–५८) जहाँ व्याहृतियों का इन समस्त पैंतीस पद्धतियों के ('अभिष्टव' के अतिरिक्त) उदाहरण दिये गये हैं।

[3] व्याकरण सम्बन्धी इन चार कोटियों की नीचे (१ ४२–४५ और २ ८९–९८) विवेचना की गई है।

[4] 'भव्य' का यहाँ 'वर्तमान' तथा १ ६१ में 'भविष्य' अर्थ है

[5] तु० की० नीचे २ ९६।

वाक्यार्थदर्शनार्थीया ऋचोऽर्धर्चाः पदानि च।
ब्राह्मणे चाथ कल्पे च निगद्यन्तेऽत्र कानिचित् ॥ ४१ ॥

ऋचाओं, अर्धऋचाओं और पदों का प्रयोजन अपने वाक्यार्थ को व्यक्त करना ही होता है, साथ ही ब्राह्मण और कल्प की भी कुछ ऋचायें यहाँ उद्धृत हैं।

९—संज्ञा और क्रिया की परिभाषा

शब्देनोच्चरितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते।
तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४२ ॥

कोई भी उच्चरित शब्द, जिससे किसी द्रव्य या वस्तु का बोध हो, जब उच्चारणानुकूल अक्षर-विन्यास से युक्त होता है तो उसे मनीषिगण 'संज्ञा' कहते हैं।

अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः।
तन्नाम कवयः प्राहुर् भेदे वचनलिङ्गयोः ॥ ४३ ॥

जिसमें विभिन्न अर्थों में आठ विभक्तियों का प्रयोग होता है उसे कविगण 'संज्ञा' कहते हैं, और उसमें लिङ्ग तथा वचन का भी भेद होता है।

क्रियासु बह्वीष्वभिसंश्रितो यः पूर्वापरीभूत इहैक एव।
क्रियाभिनिर्वृत्तिवशेन सिद्ध आख्यातशब्देन तमर्थमाहुः॥

अनेक क्रियाओं से सम्बद्ध पूर्व अथवा अपर रूप धारण करने पर भी,[1] एक होते हुये यदि कोई शब्द क्रिया की निर्वृत्ति द्वारा सिद्ध होता है तो उसे 'क्रिया' (आख्यात) शब्द से व्यक्त किया जाता है।

[1] अर्थात् वह जो कालक्रम को व्यक्त करता है : यह व्याहृति निरुक्त १. १ से गृहीत है।

क्रियाभिनिर्वृत्तिवशोपजातः
कृदन्तशब्दाभिहितो यदा स्यात्।
संख्याविभक्त्यव्ययलिङ्गयुक्तो
भावस्तदा द्रव्यमिवोपलक्ष्यः ॥ ४५ ॥

जो भाव किसी क्रिया की निर्वृत्ति से उत्पन्न हो, और जो कृदन्त शब्द से व्यक्त हो तथा जो संख्या, विभक्ति (अथवा) अव्यय और लिङ्ग से संयुक्त हो, उसे 'द्रव्य' मानना चाहिये।

१०—विभिन्न प्रकार के मन्त्रों के उदाहरण

यथा नानाविधैः शब्दैर् अपश्यन्नृषयः पुरा।
विविधानीह वाक्यानि तान्यनुक्रमतः शृणु ॥ ४६ ॥

अब क्रम से यह सुनिये कि पूर्वकाल में ऋषियों ने विभिन्न प्रकार के शब्दों से किस प्रकार उनके विभिन्न वाक्यों को देखा था।

रूपादिभिः स्तुतिः प्रोक्ता आशीः स्वर्गादिभिस्तथा।
यानि वाक्यान्यतोऽन्यानि तान्यपि स्युरनेकधा॥

सुन्दर रूपादि व्यक्त करनेवाले वाक्य स्तुति कहलाते हैं, स्वर्गादि व्यक्त करनेवाले आशीस कहलाते हैं, इनसे अन्य जो वाक्य है वे भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं।

मन्त्रे प्रशंसा भोजस्य चित्र इत् सोभरे स्तुतिः।
आक्रोशार्थास्तु दृश्यन्ते माता चेत्यभिमेथति ॥ ४८ ॥

'चित्र इत्' (ऋग्वे० ८. २१, १८) मन्त्र में सोभरि द्वारा उदार दाता की स्तुति एक प्रशंसा है। आक्रोश की अभिव्यक्ति करनेवाले मन्त्र भी दृष्टिगत होते हैं, जैसे 'माता च'[1]।

[1] वास० २३ २४, २५ तस० ७ ४ १९ ३ मैस० ३ १३ १ शतब्रा० १३ ५, २, ५ तैब्रा० ३ ९, ७ ४, आश्रौ० १० ८ १०, शाश्रौ० १६ ४ १।

ऋद् मोघमन्नं निन्दा च शापो यो मेत्यृगेव तु।
याच्ञा यदिन्द्र चित्रेति क्षेपोऽभीदमिति त्वृचि ॥ ४९ ॥

'मोघम् अन्नम्' (ऋग्वे० १० ११७, ६) ऋचा में निन्दा का, तथा 'यो मा' (ऋग्वे० ७ १०४, १६) में शाप का भाव निहित है। इसी प्रकार 'यद् इन्द्र चित्र' (ऋग्वे० ५ ३९, १) में याचना का और 'अभीदम्' (ऋग्वे० १० ४८, ७) में आक्षेप का भाव है।

आशीस्तु वात आ वातु दण्डेति परिदेवना।
प्रश्नश्च प्रतिवाक्यं च पृच्छामि त्वेत्यृचौ पृथक् ॥ ५० ॥

'वात आ वातु' (ऋग्वे० १० १८६, १) आशीस, और 'दण्डा' (ऋग्वे० ७. ३३, ६) परिदेवन है, जब कि 'पृच्छामि त्वा' (ऋग्वे० १ १६४, ३४ ३५) से आरम्भ होनेवाली दो ऋचाओं में क्रमश प्रश्न और उत्तर है।

संशयोऽधः स्विदासीच्च कत्थना स्यादहं मनुः।
इमं नो यज्ञमित्यस्यां नियोगः पाद उच्यते ॥ ५१ ॥

'अध स्विद् आसीत' (ऋग्वे० १० १२९, ५) में संशय और 'अहं मनु' (ऋग्वे० ४ २६, १) में दम्भ का भाव है। 'इमं नो यज्ञम्' (ऋग्वे० ३ २१, १) मन्त्र के प्रथम पाद में नियोग का कथन है।

इह ब्रवीत्वनुयोगः संलाप ऋगुपोप मे।
प्रतिषेधोपदेशौ तु अक्षैर्मेत्यक्षसंस्तुतौ ॥ ५२ ॥

'इह ब्रवीतु' (ऋग्वे० १. १६४, ७) में अनुयोग और 'उपोप मे' (ऋग्वे० १. १२६, ७) में वार्तालाप है, किन्तु पासे[1] के खेल की स्तुति करनेवाले 'अक्षैर् मा' (ऋग्वे० १०. ३४, १३) में प्रतिषेध और उपदेश दोनों हैं।

[1] अर्थात् अक्ष सूक्त १०. ३४।

आख्यानं तु हये जाये विलापः स्यान्नदस्य मा।
अवीरामात्मनः श्लाघा सुदेव इति तु स्पृहा ॥ ५३ ॥

'हये जाये' (ऋग्वे० १० ९५, १) आख्यान[1] और 'नदस्य मा' (ऋग्वे० १. १७९, ४) विलाप[2] है। 'अवीराम्' (ऋग्वे० १०. ८६, ९) में आत्मश्लाघा है जब कि 'सुदेव'[3] (ऋग्वे० १०. ९५, १४) में स्पृहा की अभिव्यक्ति है।

[1] यहाँ 'आख्यान' उपरोक्त ३६वें श्लोक के 'पवित्राख्यान' के समान है।

[2] यहाँ 'विलाप' उपरोक्त ३६वें श्लोक के 'विलपितम्' के समान है। निरुक्त ५. २ में भी ऋग्वेद (१. १७९, ४) के सन्दर्भ में 'विलपितम्' का ही प्रयोग किया गया है।

[3] निरुक्त ७. ३ में इस स्थल को 'परिदेवना' कहा गया है।

नमस्कारः शुनःशेपे नमस्ते अस्तु विद्युते।
संकल्पयन्निदं तुल्योऽहं स्यामिति यदुच्यते ॥ ५४ ॥

शुनःशेप से सम्बद्ध मन्त्र 'नमस् ते अस्तु विद्युते' (अवे० १. १३, १)[1] में नमस्कार व्यक्त किया गया है, किन्तु जब व्यक्ति शब्दों से व्यक्त भाव द्वारा संकल्प कर लेता है जैसे 'इदं तुल्योऽहं स्याम्',[2] तो,

[1] तु० की० नीचे ८. ४४।

[2] 'संकल्प' का उदाहरण दे सकने में असमर्थ होने के कारण यहाँ लेखक केवल उसकी परिभाषा मात्र से सन्तोष कर लेता है।

संकल्पस्तु यदिन्द्राहं प्रलापस्त्वैतशस्य यः।
महानग्न्याहनस्या स्यात् प्रतिराधो भुगित्यपि ॥ ५५ ॥

उसे 'संकल्प' कहते हैं। 'यद् इन्द्राहम्' (ऋग्वे० ८. १४, १; अवे० २०. २७, १) ऐतश[1] के प्रलाप का उदाहरण है, जब कि 'महानग्नी' (अवे० २०. १३६, ५) एक कामनाभिव्यंजक मन्त्र है। पुनश्च, 'भुक्' (अवे० २०. १३५, १–३)[2] में प्रतिराध व्यक्त किया गया है।

[1] देखिये ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३३, १ और इस पर सायण भाष्य। हॉग : ऐतरेय ब्राह्मण, भाग २, पृ० ४३४ भी देखिये।

[2] तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ६. ३३. १९; हॉग उ० पु०, पृ० ४३५।

प्रमादस्त्वेप हन्ताहं न स स्व इत्यपह्नवः।
इन्द्राकुत्सेत्युपप्रैपो न विजानामि संज्वरः ॥ ५६ ॥

'हन्ताहम्' (ऋग्वे० १०. ११९, ९) मन्त्र मे प्रमाद, 'न स स्व' (ऋग्वे० ७. ८६, ६) में अपह्नव, 'इन्द्राकुत्सा' (ऋग्वे० ५. ३१, ९) में आमन्त्रण, और 'न वि जानामि' (ऋग्वे० १. १६४, ३७) मे सक्षोभ है।

होता यक्षदिति प्रैपः को अद्येति तु विस्मयः।
जामयेऽपह्नवो नैपा विततादिः प्रवल्हिका ॥ ५७ ॥

'होता यक्षत्' (ऋग्वे० १. १३९, १०) मे प्रैप, 'को अद्य' (ऋग्वे० १. ८४, १६, अथवा ४. २५, १) में विस्मय, 'न जामयें' (ऋग्वे० ३. ३१, २)[1] मे अपह्नव, और 'विततौ' (अवे० २०. १३३, १-६)[2] मे प्रवल्हिका है।

[1] तु० का० नीचे ४ १११। यदि यहाँ पाठ (जामयेऽपह्नवो न) शुद्ध है तो 'न' की स्थिति महत्त्वपूर्ण है, और इस प्रकार हमें 'अपह्नव' के तो दो उदाहरण मिल जाते हैं, किन्तु 'अभिष्टव' के एक भी नहीं। ऊपर २ ३९ पर टिप्पणी देखिये।

[2] 'विततादि' की सन्धि इस पंक्ति में एक द्वितीय अनियमितता ला देती है।

न मृत्युरासीदित्येताम् आचिख्यासां प्रचक्षते।
अभिशापोऽप्रजाः सन्तु भद्रमाशीस्तु गोतमे ॥ ५८ ॥

'न मृत्युर् आसीत्' (ऋग्वे० १०. १२९, २) से आरम्भ होनेवाली ऋचा को वृत्तान्तकथन कहा गया है[1], और 'अप्रजा सन्तु' (ऋग्वे० १. २५, ५) एक शाप[2] है, जब कि 'भद्रम्' (ऋग्वे० १. ८९, ८) में गोतम[3] का आशीस[4] है।

[1] निरुक्त ७ ३ में भी इस ऋचा का वर्णन करने के लिये इसी शब्द का प्रयोग किया गया है।

[2] इसका दो बार उदाहरण दिया गया है एक बार ४९वें श्लोक में (शाप द्वारा) और दूसरी बार प्रस्तुत श्लोक में (अभिशाप द्वारा)।

[3] ऋग्वेद १ ८९ का प्रणेता।

[4] यह 'आशिस्' (३१) का दूसरा उदाहरण है।

बह्व्प्येवंप्रकारं तु शक्यं द्रष्टुमितीदृशम्।
वक्तुं प्रयोगतश्चैपाम् ऋक्सूक्तार्धर्चसंश्रितम् ॥ ५९ ॥

इसी प्रकार के अनेक अन्य उदाहरण भी मिल सकते हैं और किसी भी

ऋचा, सूक्त, अथवा अर्धऋचा में निहित अभिप्रायों को उनके प्रयोग के आधार पर उक्त प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

एते तु मन्त्रवाक्यार्था देवतां सूक्तभागिनीम्।
संश्रयन्ते यथान्यायं स्तुतिस्त्वत्रानुमानिकी ॥ ६० ॥

मन्त्रों के यह वाक्यार्थ अपने सूक्त के देवता के साथ उपयुक्तः सम्बद्ध होते हैं, किन्तु यहाँ उनकी स्तुति अनुमान का विषय है।

११–समस्त स्थावर जङ्गम के स्रोत के रूप में सूर्य और प्रजापति

भवद्भूतस्य भव्यस्य जङ्गमस्थावरस्य च।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः ॥ ६१ ॥

कुछ लोग, जो कुछ था, है, अथवा होगा, और जो कुछ स्थावर अथवा जङ्गम् है, उन सबके प्रभव तथा प्रलय का सूर्य को ही कारण मानते हैं।

[1] ऊपर (१. ४०) 'भव्य का 'वर्तमान' के आशय में प्रयोग हुआ है।

असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः।
यदक्षरं च वाक्यं च यथैतद्ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

जो कुछ है (सत्) अथवा नहीं है (असत्) उन दोनों का वास्तविक स्रोत वह प्रजापति ही है, जिसे शाश्वत ब्रह्म के समान अनश्वर (अक्षरम्) तथा वाक्य कहते हैं।

कृत्वैष हि त्रिधात्मानम् एषु लोकेषु तिष्ठति।
देवान्यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ॥ ६३ ॥

वह (सूर्य) अपने को तीन भागों में विभक्त करके इन लोकों में प्रतिष्ठित है, और वही अन्य सब देवताओं को यथाक्रम अपनी रश्मियों में निविष्ट रखता है।

एतद्भूतेषु लोकेषु अग्निभूतं स्थितं त्रिधा।
ऋषयो गीर्भिरर्चन्ति व्यञ्जितं नामभिस्त्रिभिः ॥ ६४ ॥

जो अग्नि के रूप में भूतों में और लोकों में त्रिधात्मक रूप से स्थित है, तीन नामों से व्यक्त होने वाले के रूप में उसी की ऋषिगण अपने गायनों द्वारा अर्चना करते हैं।

तिष्ठत्येष हि भूतानां जठरे जठरे ज्वलन्।
त्रिस्थानं चैनमर्चन्ति होत्रायां वृक्तबर्हिषः ॥ ६५ ॥

यत वही प्रत्येक प्राणी के अन्तर में ज्वलन्त रूप से स्थित है, अत. यज्ञीय कुशासन फैला कर 'तीन स्थानोंवाले' के रूप में होतागण उसकी अर्चना करते हैं।

१२—अग्नि के तीन रूप

इहैष पवमानोऽग्निर् मध्यमोऽग्निर्वनस्पतिः।
अमुष्मिन्नेव विप्रस्तु लोकेऽग्निः शुचिरुच्यते ॥ ६६ ॥

पुरोहितगण उसे यहाँ (पृथ्वी पर) 'अग्नि पवमान', मध्य क्षेत्र में 'अग्नि वनस्पति',[1] किन्तु दिव्यलोक में 'अग्नि शुचि'[2] के नाम से पुकारते हैं।

[1] अथर्ववेद, ५ २४ २, में अग्नि को 'वनस्पति' कहा गया है।

[2] तैत्तिरीय संहिता २ २, ४, २, तथा पुराणों में अग्नि के तीन नाम 'पवमान', 'शुचि', और पावक' हैं। तु० का० नीचे (७ ६१) अग्नि के भ्राताओं के नाम।

इहाग्निभूतस्त्वृषिभिर् लोके स्तुतिभिरीळितः।
जातवेदा स्तुतो मध्ये स्तुतो वैश्वानरो दिवि ॥ ६७ ॥

ऋषिगण उसका इस लोक में 'अग्नि' के रूप में, मध्य लोक में 'जातवेदस्' के रूप में, तथा दिव्य लोक में 'वैश्वानर' के रूप में स्तवन करते हैं।[1]

[1] अग्नि, जातवेदस्, और वैश्वानर, का क्रमश निघण्टु के दैवतकाण्ड में सर्वप्रथम उल्लेख है। यास्क (निरुक्त ७ २३) का कथन है कि प्राचीन याज्ञिकों ने 'अग्नि वैश्वानर' को आदित्य माना था, जब कि शाकपूणि के मत से पार्थिव अग्नि ही 'अग्नि वैश्वानर' है। इस द्वितीय दृष्टिकोण से यास्क (निरुक्त ७ ३१) बहुत अंशों तक सहमत हैं। तु० का० नीचे २ १७।

रसान् रश्मिभिरादाय वायुनायं गतः सह।
वर्षत्येष च यल्लोके तेनेन्द्र इति स स्मृतः ॥ ६८ ॥

यतः अपनी रश्मियों से जलों को ग्रहण करके वायु के साथ वह इस लोक पर वर्षा करता है, अतः उसे इन्द्र कहते हैं।

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास् तिस्र एवेह देवताः ॥ ६९ ॥

इस लोक में अग्नि, मध्य लोक मे इन्द्र और वायु, तथा दिव्य लोक में सूर्य को ही यहाँ तीन देवता मानना चाहिये।[1]

[1] तु० का० 'तिस्र एव देवता', निरुक्त ७ ५, और षड्गुरुशिष्य के भाष्य सहित सर्वानुक्रमणी २ ८।

एतासामेव माहात्म्यान् नामान्यत्वं विधीयते ।
तत्तत्स्थानविभागेन तत्र तत्रेह दृश्यते ॥ ७० ॥

इन देवों की महानता[1] के कारण इनके लिये विभिन्न नामों का व्यवहार किया गया है, और इनके क्षेत्रों के विभाजन के अनुसार ही इनके नामों में विविधता दिखाई पड़ती है।

[1] तु० की०, 'तासां माहाभाग्याद् एकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति', निरुक्त ७ ५।

१३–त्रयी और आत्मन् : वाच् के तीन रूप

तासामियं विभूतिर्हि नामानि यदनेकशः ।
आहुस्तासां तु मन्त्रेषु कवयोऽन्योन्ययोनिताम् ॥ ७१ ॥

यह इनकी विभूति का ही परिणाम है कि इनको अनेक नाम दिये गये हैं। फिर भी कवियों ने इन देवों की उत्पत्ति को मंत्रों में अन्योन्याश्रित माना है।[1]

[1] निरुक्त ७ ४, मे देवों को 'इतरेतरजन्मान' कहा गया है।

यथास्थानं प्रदिष्टास्ता नामान्यत्वेन देवताः ।
तद्भक्तास्तत्प्रधानाश्च केचिदेवं वदन्ति ताः ॥ ७२ ॥

यह देवता अपने नाम-भेद के कारण ही यथास्थान प्रतिष्ठित हैं। कुछ लोगों का ऐसा कथन है कि जो जिस देवता का भक्त होता है वह उसे ही उस स्थान पर प्रधान मानता है।

पृथक्पुरस्ताद्ये तूक्ता लोकादिपतयस्त्रयः ।
तेषामात्मैव तत्सर्वं यद्भक्तिः प्रकीर्त्यते ॥ ७३ ॥

पृथक्-पृथक् रूप से उपरोक्त तीन लोकाधिपतियों का जिसे गुण (भक्ति) कहते हैं, वही उनका सर्वस्व[1] आत्मा है।

[1] तु० की० 'आत्मा सर्वं देवस्य', निरुक्त ७. ४।

तेजस्त्वेवायुधं प्राहुर् वाहनं चैव यस्य यत् ।
इमामैन्द्रीं च दिव्यां च वाचमेवं पृथक् स्तुताम् ॥७४॥

ऋषियों का कथन है कि तेज ही किसी देवता का आयुध होता है ।[1]

इसी प्रकार उनका कथन है कि इस (पार्थिव), ऐन्द्री (अन्तरिक्ष), तथा दिव्य लोक रूपों में वाच् की ही इन देवताओं के वाहन के रूप में स्तुति करनी चाहिये ।

[1] देखिये 'आत्मा [illegible] भवति, आ[illegible], आत्मा [illegible]युधम्', निरुक्त ७ ४ [illegible] ।

बहुदेवता स्तुतयो द्विवत्संस्तुतयश्च याः ।
प्राधान्यमेव सर्वासु पतीनामेव तास्वपि ॥ ७५ ॥

अनेक देवताओं को सम्बोधित स्तुतियों में और उन सम्मिलित स्तुतियों में भी जो द्विवाचक होती हैं, इन्हीं तीन लोकाधिपतियों की प्रधानता रहती है ।

१४–सूक्त का प्रधान देवता

स्थानं नामानि भक्तीश्च देवताया स्तुतौ स्तुतौ ।
संपादयन्नुपेक्षेत यां कांचिदिह संपदम् ॥७६॥

प्रत्येक स्तुति में किसी देवता के स्थान, नाम, और गुण (भक्ति) को व्यक्त करने के लिये, व्यक्ति को यहाँ प्रत्येक सम्भव साध्यमों का आश्रय लेना चाहिये ।

अग्निभक्तिस्तुतान्सर्वान् अग्नावेव समापयेत् ।
यदिन्द्रभक्ति तदिन्द्रे सूर्ये सूर्यानुगं च यत् ॥७७॥

उन समस्त देवताओं को, जिनकी अग्नि के गुणों के साथ स्तुति की गई है, अग्नि में ही निहित मानना चाहिये । इसी प्रकार जिनकी इन्द्र के गुणों के साथ स्तुति हो उनको इन्द्र में, तथा जो सूर्य के साथ सम्बद्ध हों उन्हें सूर्य में, निहित मानना चाहिये ।

निरुप्यते हविर्यस्यै सूक्तं च भजते च या ।
सैव तत्र प्रधानं स्यान् न निपातेन या स्तुता ॥ ७८ ॥

जिस देवता को जहाँ हवि समर्पित की गई हो, और उसे कोई सूक्त

समर्पित हो[1], वहाँ स्तुति के लिये वही प्रधान होता है, वह देवता नहीं जिसकी स्तुति केवल नैपातिक हो।

[1] तु० की० 'यस् तु सूक्तं भजते, यस्मै हविर् निरूप्यते', निरुक्त ७ १८।

इति त्रयाणामेतेषाम् उक्तः सामासिको विधिः।
समासेनैवमुक्तस्तु विस्तरेण त्वनुक्रमः ॥७९॥

इस प्रकार इन तीन प्रमुख देवताओं से सम्बद्ध नियमों का संक्षिप्त रूप से उल्लेख किया गया। किन्तु इस संक्षिप्त वर्णन के पश्चात् देवों की विस्तृत तालिका इस प्रकार प्रस्तुत है।

अवश्यं वेदितव्यो हि नाम्नां सर्वस्व विस्तरः।
न हि नामान्यविज्ञाय मन्त्राः शक्या हि वेदितुम् ॥८०॥

हमें प्रत्येक देवता के नाम के विस्तृत विवरण से परिचित होना ही चाहिये, अन्यथा नामों के ज्ञान के बिना मंत्रों को समझना असम्भव होगा;

१५–देवों के नामों की गणना

सत्त्वान्यमूर्तान्यपि च देवतावन्महर्षयः।
तुष्टुवुर्ऋषयः शक्त्या तासु तासु स्तुतिष्विह ॥ ८१ ॥

क्योंकि महान ऋषियों अथवा द्रष्टाओं ने भी अपनी विभिन्न स्तुतियों में यथाशक्ति अमूर्त पदार्थों तक को देववत् मान कर उनका स्तवन किया है।

यैस्त्वग्निरिन्द्रः सोमश्च वायुः सूर्यो बृहस्पतिः।
चन्द्रोऽथ विष्णुः पर्जन्यः पूषा चाप्यृभवोऽश्विनौ ॥८२॥

ऋषियों ने, अग्नि, इन्द्र, सोम, वायु, सूर्य, बृहस्पति, चन्द्रमा, विष्णु, पर्जन्य, पूषन्, ऋभुओं, अश्विनों,

रोदसी मरुतो देवाः पृथिव्यापः प्रजापतिः।
देवौ च मित्रावरुणौ पृथक् सह च तावुभौ ॥ ८३ ॥

दोनों लोकों, दिव्य मरुतों, पृथिवी, जलों, प्रजापति, एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् दिव्य मित्र-वरुण,

विश्वे च देवाः सविता त्वष्टा वै रूपकृन्मतः।
अश्वोऽश्वसृत्विजो वज्रो ग्रावाणो रथसंयुताः ॥८४॥

स्तुताः पृथक् पृथक् स्वैः स्वैः सूक्तैर्ऋग्भिश्च नामभिः ।
स्तुतौ स्तुतौ प्रवक्ष्यामि तानि तेषामनुक्रमात् ॥८५॥

विश्वेदेव, सवितृ, रूपों के निर्माता त्वष्टा, अश्व, अज, ऋत्विज, वज्र, दबाने के पत्थर, तथा इन सभी देवताओं की उनके रथों सहित, अपने विभिन्न सूक्तों और ऋचाओं में जिन नामों से पृथक्-पृथक् स्तुति की है, उन नामों का मैं प्रत्येक स्तुति में यहाँ यथाक्रम उल्लेख करूँगा।

१६–अग्नि, इन्द्र-वायु, और सूर्य को समर्पित सूक्तों की विशेषता

व्यवस्येन्मन्त्रमाग्नेयं लिङ्गैरग्नेश्च लक्षितम् ।
हविष्पङ्क्तिप्रधानैश्च नामाह्वानैश्च केवलैः ॥ ८६ ॥

किसी मन्त्र को उसी समय अग्नि का आवाहन करनेवाला समझना चाहिये जब उसमें अग्नि के विशिष्ट लक्षण उपलब्ध हों, और इन लक्षणों के अन्तर्गत एक ओर तो प्रमुखतः पाँच प्रकार की हविष्पङ्क्तियाँ आती हैं और दूसरी ओर केवल नाम से आवाहन।

ऐन्द्रस्तु मन्त्रो वायव्यैर् लिङ्गैरैन्द्रैश्च लक्ष्यते ।
नामधेयैश्च वज्रस्य बलकृत्या[1] बलेन च ॥ ८७ ॥

इन्द्र का आवाहन करनेवाले मन्त्रों को वायु तथा इन्द्र दोनों के ही विशिष्ट लक्षणों, और वज्र, महान कार्यों, तथा बल के उल्लेख द्वारा, जाना जा सकता है।

[1] निरुक्त ७ १०, में यही व्याहृति (बलकृति) इन्द्र के लिये व्यवहृत हुई है।

सौर्यस्तु लिङ्गैः सूर्यस्य गुणैः सर्वैश्च तैजसैः ।
नामधेयैश्च चन्द्रस्य सूक्तं च भजतेऽत्र यैः ॥ ८८ ॥

सूर्य का आवाहन करनेवाले मन्त्र की विशेषता सूर्य के विशिष्ट गुणों के वर्णन के साथ-साथ तेज से सम्बद्ध समस्त गुण, तथा चन्द्रमा के उन नामों का उल्लेख है जिनसे वह सूक्त में व्यक्त होता है।

एतासां देवतानां तु नामधेयानुकीर्तनैः ।
यस्य यस्येह यावन्ति न व्यवस्यन्त्यतोऽन्यथा ॥८९॥

किसी द्रष्टा के उन समस्त सूक्तों का, जिनका इन देवों के नामों के आधार पर निर्णय नहीं किया जा सकता, अन्य आधारों पर निर्णय करना चाहिये।

अयं प्रयोगस्त्वेतेषां ज्योतिषां त्रिषु वर्तताम् ।
लोकेषु मन्त्रविद्विद्वान् प्रयोगे नावसीदति ॥ १० ॥

इन तीन ज्योतियों[1] का क्रमानुसार तीनों लोकों में यह प्रयोग विदित हो : (इस ज्ञान के फलस्वरूप) मन्त्रों का ज्ञान रखनेवाले विद्वान इनका लोकानुसार प्रयोग करने में कभी असफल नहीं होते।

[1] तु० की० नीचे १. ९७, और निरुक्त ७. २०।

१७—तीन अग्नियाँ

नीयतेऽयं[1] नृभिर्यस्मात् नयत्यस्मादसौ च तम् ।
तेनेमौ चक्रतुः कर्म सनामानौ पृथक् पृथक् ॥ ११ ॥

यतः इस (पार्थिव) अग्नि को मनुष्य अग्रसर करते हैं, और वह (दिव्य) अग्नि इसको इस संसार से अग्रसर करता है, अतः नामों की समानता होते हुये भी वह दोनों (अग्नि) अपने-अपने कर्मों पर पृथक् पृथक् अग्रसर रहते हैं।

[1] यहाँ व्युत्पत्तिशास्त्र दृष्टि से 'नी' धातु नाम के द्वितीय अंश से सम्बद्ध है (तु० की० 'नी परः', निरुक्त ७. १४)।

यद्विद्यते हि जातः सन् जातैर्यद्वात्र विद्यते ।
तेनेमौ तुल्यनामानौ उभौ लोकौ समाश्रुतः ॥ १२ ॥

यतः वह जन्म[1] लेने पर ही जाना जाता है, अथवा वह 'यहाँ पर जीवों द्वारा जाना जाता है, अतः यह दोनों, समान नाम (अर्थात् 'जातवेदस') होते हुये भी, दोनों लोकों को[2] पृथक् पृथक् व्याप्त करते हैं।

[1] यह व्युत्पत्ति निरुक्त ७. १९ में दी हुई पाँच में से प्रथम से भिन्न है, किन्तु द्वितीय, आशय में यास्क ('जातानि वेद तानि वैनं विदुः') के द्वितीय के समान है। यास्क के साथ सहमत अन्य व्युत्पत्तियों का उल्लेख नीचे २. ३०. ३१, में मिलेगा।
[2] अर्थात् पार्थिव और दिव्य।

विसृजन्वर्षमेतेषां भ्राजते व्योम्नि मध्यमः ।
निपातमात्रे कथ्यन्ते तथाग्नेयानि कानिचित् ॥ १३ ॥

यतः यह (अग्नि) आकाश के मध्य में स्थित होकर प्रकाशित होते हुये वर्षा[1] करता है, अतः यहाँ इसका केवल नैपातिक उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य आग्नेय मंत्रों में भी अग्नि के नैपातिक नाम हो सकते हैं।

[1] तु० की० नीचे २. ५९ : 'विसृजन् जल:' और ऊपर १. ६८ में 'वर्षति' भी।

अर्चिभिः केश्ययं त्वग्निर् विद्युद्भिश्चैव मध्यमः ।
असौ तु रश्मिभिः केशी तेनैनानाहु केशिनः ॥ ९४ ॥

यह (पार्थिव) अग्नि ज्वालाओं रूपी, और मध्य [illegible] स्थित विद्युत-रूपी केशों से युक्त है। जब कि वह (दिव्य) अग्नि रश्मियों के केशों से युक्त है अत कविगण उसे 'केशिन' नाम से पुकारते हैं।[1]

[1] तु० का० निरुक्त १२ २५ २७, और नीचे ९ ६ओ

एतेषां तु पृथक्त्वेन त्रयाणां केशिनामिह ।
संलक्ष्यन्ते प्रक्रियासु त्रयः केशिन इत्यृचि ॥ ९५ ॥

यहाँ इन तीन केश युक्तों की पृथक् पृथक् प्रकृति के और ऋचाओं में भी इन तीनों का इनकी विशिष्टताओं के आधार पर विभेद किया गया है, जैसे 'त्रय केशिन'[1] (ऋग्वे० १ १६४, ४४)।

[1] तु० की० ऋग्वेद १ १६४ पर सर्वानुक्रमणी।

१८–अग्नि, जातवेदस्, वैश्वानर मूलत समान, किन्तु इनका विभेद

न चैवैषां प्रसूतिर्वा विभूतिस्थानजन्म वा ।
निर्वक्तुं शक्यमेतैर्हि कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत् ॥ ९६ ॥

इनकी उत्पत्ति अथवा इनकी विभूति, स्थान, और [illegible] म की व्याख्या करना असम्भव है[1] क्योंकि यह समस्त लोक इनमे पूर्णतया व्याप्त हैं।

[1] क्योंकि, जैसा १ ९७ में व्याख्या की जा चुकी है, यह वास्तव में समान है, जिसके कारण ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इनके नाम, आवास, और शक्तियाँ परस्पर भिन्न है।

वैश्वानरं श्रितो ह्यग्निर् अग्नि वैश्वानरः श्रितः ।
अनयोर्जातवेदास्तु तथैने जातवेदसी ॥ ९७ ॥

अग्नि वैश्वानर में निहित हैं, वैश्वानर अग्नि में निहित है, तथा जातवेदस् इन दोनों में, अत यह दोनों जातवेदस् के ही दो रूप हैं।[1]

[1] तु० की० ऊपर १ ९० और 'ये उत्तर ज्योतिषी जातवेदसी उच्यते', निरुक्त [illegible] २०।

सालोक्याच्चैकजातत्वाद् व्याप्तिमत्त्वात्तु तेजसः ।
तस्य तस्येह देवत्वं दृश्यन्ते च पृथक् स्तुताः ॥९८॥

यहाँ प्रत्येक देवता की दिव्य प्रकृति, उनके एक ही लोक के और समान जन्म के होने से, तथा सभी के तेज के निहित होने से ही, निष्कृष्ट है; फिर भी इनकी पृथक्-पृथक् स्तुति की गई प्रतीत हो सकती है।[1]

[1] जैसा कि नीचे के श्लोक में कहा गया है, आवास, उत्पत्ति, और प्रकृति की दृष्टि से समान होने हुये भी सूक्तों में इनकी अलग-अलग देवों के रूप में स्तुति की गई हो सकती है। तु० की० नीचे १. १०२ भी।

यस्त्वाग्नेयमिति ब्रूमः सूक्तभाक् तत्र पार्थिवः।
जातवेदस्यमित्युक्ते सूक्तेऽस्मिन्मध्यमः स्मृतः ॥ ९९ ॥

जब हम किसी सूक्त द्वारा अग्नि को सम्बोधित करते हैं तो उस दशा में उस सूक्त का देवता पार्थिव अग्नि होता है, किन्तु जब कोई सूक्त जातवेदस् को सम्बोधित किया जाता है तो मध्य में स्थित अग्नि को उसका देवता मानना चाहिये।

वैश्वानरीयमिति तु यत्र ब्रूमोऽथ वा क्वचित्।
सूर्यः सूक्तस्य भाक् तत्र ज्ञेयो वैश्वानरस्तुतौ ॥ १०० ॥

अथवा, पुनः, जब हम कहीं कहीं किसी सूक्त को वैश्वानर को सम्बोधित करते हैं तो उस दशा में वैश्वानर की स्तुति में सूर्य को ही उस सूक्त का देवता मानना चाहिये।

१९—अवरोहक क्रम से तीनों लोकों के देवता

सूर्यप्रसूतावग्नी तु दृष्टौ पार्थिवमध्यमौ।
एतेषामेव लोकानां त्रयाणामध्वरेऽध्वरे ॥ १०१ ॥
रोहात्प्रत्यवरोहेण चिकीर्षन्नग्निमारुतम्।
शस्त्रं वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते ॥ १०२ ॥

अब, पार्थिव और मध्यम (अग्नि) सूर्य से उत्पन्न हुए दृष्ट होते हैं: प्रत्येक यज्ञ के समय अवरोहक क्रम से, जो इन तीन लोकों के आरोहक क्रम का उलटा है,[1] अग्नि तथा मरुतों की प्रार्थना करने की इच्छा रखनेवाला (पुरोहित) वैश्वानर[2] को सम्बोधित सूक्त से प्रतिपादन करता है।

[1] अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश।

[2] अर्थात् आकाश के सूर्य। यहाँ शब्द-विन्यास बहुत कुछ निरुक्त ७ २३ (एषां लोकानाम् रोहेण·········रोहात् प्रत्यवरोहं चिकीर्षित-। ताम् अनुकृतिं होता अग्निमारुते शस्त्रे, वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते) के ही समान है।

ततस्तु मध्यमस्थाना देवतास्त्वनुशंसति ।
रुद्रं च मरुतश्चैव स्तोत्रियेऽग्निमिमं पुनः ॥ १०३ ॥

इसके उपरान्त वह, मध्यम स्थान के देवता रुद्र और मरुतों की प्रशस्ति, तथा पुनः,[1] इस (पार्थिव) अग्नि का स्तोत्रिय[2] में स्तवन करता है।

[1] अर्थात् पृथ्वी को तृतीय स्थान देता है।

[2] जो विशेषण अग्नि के लिये प्रयुक्त होता है देखिये निरुक्त ■ २३, जहाँ यास्क यह मत व्यक्त करते हैं 'तत आगच्छति मध्यस्थाना देवता रुद्रश्च मरुतश्च, तत अग्निम् इह स्थानम् अत्रैव स्तोत्रियं शंसति।'

यथैतदुक्तमेतेषां विभूतिस्थानसंभवम् ।
तथा च देवदेवस्य तत्र तत्रेह दृश्यते ॥ १०४ ॥

जिस प्रकार इन तीन को, अपने अपने विभूति तथा स्थान से उत्पन्न कहा गया है, ठीक उसी प्रकार यहाँ यह अपने अपने स्थानों पर देवों के देव (प्रजापति)[1] के लिये भी व्यवहृत हो सकता है।

[1] जिसके ही यह सब रूप हैं देखिये ऊपर १ ६२, ६३।

यद्यत्र पृथिवीस्थानं पार्थिवं चाग्निमाश्रितम् ।
तत्सर्वमानुपूर्व्येण कथ्यमानं निबोधत ॥ १०५ ॥

जो कुछ और कहीं भी पृथ्वी स्थान से सम्बद्ध और पार्थिव अग्नि में निहित प्रतीत हो, वह उससे सम्बद्ध होता है जिसका अब यथाक्रम वर्णन किया जायगा।

२०–पार्थिव अग्नि का प्रतिनिधित्व करनेवाले देवता

जातवेदाः श्रितो ह्यग्निम् अग्निं वैश्वानरः श्रितः ।
द्रविणोदास्तथेध्मश्च श्रितश्चाग्निं तनूनपात् ॥१०६॥

जातवेदस् अग्नि में निहित है, और वैश्वानर भी अग्नि में निहित है, इसी प्रकार द्रविणोदस्, ईंधन और तनू नपात् भी अग्नि में ही निहित हैं।[1]

[1] प्रस्तुत तथा अगले वर्ग (१०६–११८) में उल्लिखित देवों की तालिका नैघण्टुक ५ १–३ के पार्थिव देवों की तालिका के ही समान है। दोनों तालिकाओं में केवल यह अन्तर है कि ११० वें श्लोक में 'इळा' (नैघण्टुक ५ ५ में मध्य स्थान की एक देवी) को सम्मिलित कर लिया गया है। नैघण्टुक ■ १–२ में वर्णित शीर्षक नामों के क्रम का भी यथावत अनुसरण किया गया है (१०६–१०९ में)। किन्तु भी नैघण्टुक ५ ३ में वर्णित नामों के क्रम तथा रूप की दृष्टि से यहाँ कुछ भिन्नता मिलती है (१०९–११४ में)। बारह आप्री देवों (इम स्थानीय, नैघण्टुक

२. २) का ऋग्वेद १. १३ (नीचे २. १४७-५५) के सम्बन्ध में पुनः गणना कराई गई है, और इनके नामों की व्युत्पत्ति का नीचे २. १५८; ३. १-३० में विवेचन किया गया है।

नराशंसः श्रितश्चैनम् एनमेवाश्रितस्त्विळः ।
बर्हिर्द्वारश्च देव्योऽग्निम् एनमेव तु संश्रिताः ॥ १०७ ॥

नराशंस इसी में निहित है, इळा भी इसी में निहित है; बर्हिस् और दिव्य द्वार भी इसी अग्नि में निहित हैं।

नक्तोषासा च देव्यौ च होतारावेतदाश्रयौ ।
देव्यस्तिस्रः श्रिताश्चैनं त्वष्टा चैवैतदाश्रयः ॥ १०८ ॥

रात्रि और उषस्, तथा दो दिव्य होता इसी में निहित हैं। तीन देवियाँ इसी में निहित हैं, और त्वष्टा भी इसी में निहित है।

[1] 'नक्तोषासा', २. १४८ में भी (३. ८ में 'नक्तोषासौ' है), जब कि नैघण्टुक ५. ३ में 'उषासानक्ता' है।

श्रितो वनस्पतिश्चैनं स्वाहाकृतय एव च ।
अश्वश्च शकुनिश्चैव मण्डूकाश्चैतदाश्रयाः ॥ १०९ ॥

वनस्पति और स्वाहाकृतियाँ भी इसी में निहित हैं; और[1] अश्व, पक्षी, मण्डूकय भी इसी में निहित हैं।

[1] १०९-११४ में मिलनेवाले यह सैंतीस नाम नैघण्टुक ५. ३ के छत्तीस नामों के समान हैं। अन्तर इतना है कि यहाँ १०७ में इळा को भी सम्मिलित कर लिया गया है जो नैघण्टुक ५. ३ में नहीं वरन् ५. ५ में मिलता है।

ग्रावाणश्चैनमक्षाश्च नराशंसस्तथा रथः ।
दुन्दुभिश्चेषुधिश्चैनं हस्तघ्नोऽभीशवो धनुः ॥ ११० ॥

और दबाने के पत्थर इसी में निहित हैं, अक्ष,[1] नराशंस,[2] रथ और दुन्दुभि, तथा तरकस, हस्तघ्न, वल्गायें और धनुष भी इसी में निहित हैं;

[1] नैघण्टुक ५. ३ में नामों का क्रम 'अक्षाः ग्रावाणः' है।

[2] 'नराशंस' की (ऊपर १. १०७), एक पार्थिव देवता (= नैघण्टुक ५. ३) के रूप में उद्धरण देते हुये, निरुक्त ९. ९ (येन नराः प्रशस्यन्ते स नराशंसो मन्त्रः) में व्याख्या की गई है (तु० की० नीचे ३. १५८)।

ज्या चैतदाश्रितेषुश्च श्रिता अश्वाजनी च या ।
वृषभो द्रुघणश्चैनम् एनं पितुरुलूखलम् ॥१११॥

और धनुष की प्रत्यञ्चा और बाण इसी में निहित हैं; तथा इसी में प्रतिष्कश, वृषभ, हथौड़ा, पेय और उलूखल[1] भी निहित हैं;

[1] नैघण्टुक ५. ३ में 'उलूखलम्', 'वृषभः' के पहले आता है।

नद्यश्चैवैनमापश्च सर्वा ओषधयश्च ह।
राज्यप्वाग्नाय्यरण्यानी श्रद्धेळा पृथिवी तथा ॥ ११२ ॥

और नदियाँ और जल, तथा ओषधियाँ इसी में निहित हैं; राज्ञी, अप्वा, अग्नायी, अरण्यानी, श्रद्धा, इळा,[1] और पृथिवी[2] भी इसी में निहित हैं।

[1] 'इळा' शब्द नैघण्टुक ५. ३ में हा नहीं आता वरन् इसे ५. ५ में लिया गया है।
[2] यह देवियाँ नैघण्टुक ५. ३ (इळा को ५. ५ मे लिया गया है) की तालिका की नौ देवियों के समान है तथा इनमें से प्रथम चार का क्रम भी वही है। यह देवियाँ नीचे (२. ७३-७५) में भी आती हैं जहाँ 'इळा' के स्थान पर 'उषस्' और 'सरस्वती' को सम्मिलित किया गया है।

भजेते चैनमेवार्त्नी द्वन्द्वभूते च रोदसी।
मुसलोलूखले चैनं हविर्धाने च ये स्मृते ॥ ११३ ॥

और धनुष के दोनों किनारे इसी के हैं; युग्म के रूप में दोनों लोक[1] और मूसल तथा उलूखल[2] इसी के हैं; और जिन्हें दो हविर्धान कहते हैं वह भी इसी के हैं।

[1] नैघण्टुक ५. ३ के 'द्यावापृथिवी' के स्थान पर यहाँ 'रोदसी' है।
[2] नैघण्टुक ५. ३ के 'उलूखलमुसले' के स्थान पर यहाँ 'मुसलोलूखले है।'

जोष्ट्री चोर्जाहुती चैनं शुतुद्र्या च विपाट् सह।
यौ च देवौ शुनासीरौ तौ चाग्नी चैतदाश्रयौ ॥११४॥

दो धात्री देवियाँ और दो ऊर्जाहुतियों[1] द्वारा पूज्य इसी में निहित हैं; विपाश् तथा साथ ही साथ शुतुद्री, दो अग्नियाँ, तथा शुन और सीर[2] भी इसी में निहित हैं।

[1] तु० की० निरुक्त ९. ४१-४२।
[2] निरुक्त भाष्यकारों ने 'इन्द्र' और 'आदित्य' के रूप में व्याख्या की है (तु० की० नीचे ५. ८)।

लोकोऽयं यच्च वै प्रातः सवनं क्रियते मखे।
वसन्तशरदौ चर्तू स्तोमोऽनुष्टुब्वयो त्रिवृत् ॥ ११५ ॥

यह लोक, प्रातःकालीन यज्ञ के समय का सोम-सवन, वसन्त तथा शरद्[1] ऋतुयें, अनुष्टुभ्[2] छन्द, और त्रिवृत् स्तोम,

[1] यह तथा नीचे के साढ़े चार श्लोक प्रमुखतः निरुक्त ७. ८ पर आधारित हैं। अग्नि के क्षेत्र वाले (अग्निभक्तानि) पदार्थों की निरुक्त के उक्त स्थल पर इस प्रकार गणना की गई है : 'अयं लोकः प्रातःसवनं वसन्तो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथंतरं साम ये च देवगणाः समाम्नाताः प्रथमे स्थाने।' 'शरद्' और 'अनुष्टुभ' को निरुक्त ७. ११ से लिया गया है जहाँ इन दोनों तथा 'एकविंशस्तोमः' तथा 'वैराजं साम' को पृथ्वी-स्थानीय (पृथिव्यायतनानि) बताया गया है।

[2] 'अनुष्टुभ्' को, 'स्तोम' तथा 'त्रिवृत्' के बीच, कुछ कौतूहलवर्धक ढंग से निश्चित रूप से छन्द की दृष्टि से रखकर ही रक्खा गया है। स्वाभाविक क्रम का एक अन्य इसी प्रकार का व्यतिक्रम २. १४ (असौ, तृतीय सवन, लोकः) में मिलता है।

२१—अग्नि के साथ सम्बद्ध अन्य देव

गायत्री चैकविंशश्च यच्च साम रथंतरम् ।
साध्याः साम च वैराजम् आप्त्याश्च वसुभिः सह ॥ ११६ ॥

गायत्री, एकविंश (स्तोम),[1] रथंतर साम, और वैराज साम,[1] साध्यगण और आप्त्यगण, तथा वसुगण[2] (अग्नि-स्थान में ही स्थित हैं)।

[1] देखिये ऊपर श्लोक ११५ पर टिप्पणी १।

[2] किन्तु नैघण्टुक ५. ५-६ के अनुसार इन तीन वर्गों में से कोई भी पार्थिव स्थान से सम्बद्ध नहीं है।

इन्द्रेण च मरुद्भिश्च सोमेन वरुणेन च ।
पर्जन्येनर्तुभिश्चैव विष्णुना चास्य संस्तवः ॥ ११७ ॥

वह इन्द्र और मरुतों[1] के साथ, सोम और वरुण के साथ, पर्जन्य और ऋतुओं, तथा विष्णु[2] के साथ, स्तुतियों को ग्रहण करता है।

[1] निरुक्त ७. ८ में मरुतों का उल्लेख नहीं है, वरन् अग्नि के साथ स्तुतियों को ग्रहण करनेवाले देवों के अन्तर्गत केवल इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतवः (अस्य संस्तविका देवाः) को ही रक्खा गया है।

[2] निरुक्त ७. ८ के अनुसार ऋग्वेद में विष्णु के साथ अग्नि केवल यज्ञ भाग ग्रहण करते हैं, स्तुतियाँ नहीं (अथाग्नावैष्णवं हविर्, न तु ऋक् संस्तविकी दशतयीषु विद्यते)।

अस्यैवाग्नेस्तु पूष्णा च साम्राज्यं वरुणेन च ।
देवतामर्थतत्त्वज्ञो मन्त्रैः संयोजयेद्धविः ॥ ११८ ॥

यही अग्नि, पूषन्[1] और वरुण के साथ साम्राज्य के भागी हैं। जो (मंत्रों के) अनिवार्य तत्त्व को जानता है उसे मंत्रों के माध्यम से देवता और हवि को सम्बद्ध करना चाहिये।

[1] यहाँ सम्भवतः निरुक्त ७ ८ का यही आशय उद्दिष्ट है कि युगल रूप में अग्नि-पूषन् केवल हवि को ही ग्रहण करते हैं स्तुति को नहीं (अग्नापौष्ण हविर्, न तु संस्तव)। फिर भी यास्क अग्नि और पूषन् का पृथक्-पृथक् स्तवन (विभक्ति स्तुति) करनेवाले के रूप में (युगल रूप में नहीं) ऋग्वेद १० १७, ३ का उद्धरण देते हैं।

असंस्तुतस्यापि सतो हविरेकं निरुप्यते ।
देवतावाहनं चैव वहनं हविषां तथा ॥ ११९ ॥

जहाँ एक देवता की किसी अन्य के साथ (युगल रूप से) स्तुति नहीं की जाती, वहाँ भी एक ही और समान हवि कभी कभी दोनों[1] को समर्पित की जाती है। देवों को लाना और उनके पास हवि को ले जाना,

[1] इससे निःसन्देह निरुक्त ७ ८ का यास्क का यह आशय भी उद्दिष्ट है कि अग्नि विष्णु और अग्नि पूषन् को साथ साथ हवि तो समर्पित हो सकता है, किन्तु स्तुति नहीं। अर्थात् जिन युगल देवों का सम्मिलित स्तुति होता है उन्हें सम्मिलित हवि तो समर्पित की जा सकता है, किन्तु जब उनको सम्मिलित स्तुति नहीं मिलता तो भी उन्हें सम्मिलित हवि तो समर्पित हो ही सकता है। 'अग्नि पूषन्' के सम्बन्ध में दुर्ग यह टिप्पणी करते हैं 'मृग्यम उदाहरण येन मन्त्र'।

कर्म दृष्टे च यत्किंचिद् विषये परिवर्तते ।
इत्युक्तोऽयं गणः सर्वः पृथिव्यग्न्याश्रयो महान् ॥१२०॥

उसका ही कार्य है; दृष्टि क्षेत्र में जो कुछ भी गतिशील होता है, वह भी उसी के कार्य से सम्बद्ध है।[1] इस प्रकार पार्थिव अग्नि में निहित इस महान देव-समूह का वर्णन किया गया।

[1] अर्थात् पदार्थों को दृश्य बनाना भी अग्नि के कार्यों में से एक है।

२२-इन्द्र से सम्बद्ध मध्य-स्थान का देव-समूह

यश्चैन्द्रो मध्यमस्थानो गणः सोऽयमतः परः ।
विमानानि च दिव्यानि गणश्चाप्सरसां तथा ॥१२१॥

अब इन्द्र से सम्बद्ध मध्य-स्थान के गणों का वर्णन किया जाएगा, जिनके अन्तर्गत दिव्य रथ और अप्सरायें भी सम्मिलित हैं।

इन्द्राश्रयस्तु पर्जन्यो रुद्रो वायुर्बृहस्पतिः ।
वरुणः कश्च मृत्युश्च देवश्च ब्रह्मणस्पतिः ॥ १२२ ॥

इन्द्र[1] में ही पर्जन्य, रुद्र, वायु, बृहस्पति, वरुण, 'क', मृत्यु और ब्रह्मणस्पति नामक देवता निहित हैं।

[1] प्रस्तुत तथा निम्न सात श्लोकों में मध्यस्थान के जिन देवताओं की गणना की गई है वह नैघण्टुक ५. ४-५ की तालिका के ही समान है। फिर भी यहाँ इन देवों के क्रम में पर्याप्त अन्तर, तथा दो अन्य ('सीता' और 'लाक्षा') को सम्मिलित कर दिया गया है।

मन्युश्च विश्वकर्मा च मित्रः क्षेत्रपतिर्यमः ।
तार्क्ष्यो वास्तोष्पतिश्चैव सरस्वांश्चैवमत्र ह ॥ १२३ ॥

मन्यु, विश्वकर्मन्, मित्र, क्षेत्रपति,[1] यम, तार्क्ष्य, तथा साथ ही साथ वास्तोष्पति और सरस्वत् भी यहीं हैं;

[1] नैघण्टुक ५. ४, में 'क्षेत्रस्य पतिः' है।

अपांनपाद्दधिक्राश्च सुपर्णोऽथ पुरूरवाः ।
ऋतोऽसुनीतिर्वेनश्च तस्यैतस्याश्रयेऽदितिः ॥ १२४ ॥

अपां नपात् और दधिक्रा, और फिर सुपर्ण, पुरूरवस्, ऋत, असुनीति, वेन भी इसी में स्थित हैं; और इसी के क्षेत्र में अदिति भी है;

त्वष्टा च सविता चैव वातो वाचस्पतिस्तथा ।
धाता प्रजापतिश्चैव अथर्वाणश्च ये स्मृताः ॥१२५॥

और त्वष्टा तथा सवितृ, वात तथा वाचस्पति, धातृ और प्रजापति, तथा वह सब जिन्हें अथर्वन् कहते हैं;

श्येनश्चैवमग्निश्च तथेळा चैव या स्मृता ।
विधातेन्दुरहिर्बुध्न्यः सोमोऽहिरथ चन्द्रमाः ॥ १२६ ॥

और इसी प्रकार श्येन, अग्नि, तथा साथ ही साथ वह जिसे इळा कहते हैं इसी में स्थित है; विधातृ, इन्दु, अहिर्बुध्न्य, सोम, अहिरथ, और चन्द्रमा

२३—इन्द्र के क्षेत्र से सम्बद्ध देवता तथा देवीकृत पदार्थ

विश्वानरश्च वै देवो रुद्राणां संस्तुतो गणः ।
मरुतोऽङ्गिरसश्चैव पितरश्चर्भुभिः सह ॥ १२७ ॥

और दिव्य वैश्वानर, और रुद्रगण तथा मरुद्गण, साथ ही साथ, अङ्गिरसों, पितरों, ऋभुओं की भी इसी के साथ स्तुति की जाती है।

राका वाक् सरमाप्त्याश्च भृगवोऽघ्न्या सरस्वती ।
यम्युर्वशी सिनीवाली पथ्या स्वस्तिरुषाः कुहूः ॥१२८॥

राका, वाच्, सरमा, आप्त्यगण, भृगुगण, अघ्न्या, सरस्वती, यमी, उर्वशी, सिनीवाली, पथ्या, स्वस्ति, उषस्, कुहू,

पृथिव्यनुमतिर्धेनुः सीता लाक्षा तथैव गौः ।
गौरी च रोदसी चैव इन्द्राण्याश्चैष वै पतिः ॥ १२९ ॥

पृथिवी, अनुमती, धेनु, सीता,[1] लाक्षा,[1] गो और गौरी, और साथ ही साथ रोदसी भी इसी प्रकार (इन्द्र के क्षेत्र में) निहित हैं, और यह (इन्द्र) इन्द्राणी का पति है ।

[1] उक्त श्लोकों (१२७-१२९) में केवल 'सीता' और 'लाक्षा' ही ऐसे नाम हैं जो नघण्टुक ५ ४ ५ में नहीं मिलते।

[2] देखिये नीचे २ ८४ (आर्षानुक्रमणी १० १०२ भा १ १८ ८ ५२ ।

छन्दस्त्रिष्टुप् च पङ्क्तिश्च लोकानां मध्यमश्च यः ।
एतेष्वेवाश्रयो विद्यात् सवनं मध्यमं च यत् ॥१३०॥

त्रिष्टुभ्[1] और पङ्क्ति छन्द, और लोकों के केन्द्र, तथा मध्याह्न के सोम-सवन को भी, इन्हीं देवों की भाँति इन्द्र के क्षेत्र में ही स्थित जानना चाहिए ।

[1] प्रस्तुत तथा बाद के श्लोक का उक्ति निरुक्त ७ १० (अथैतानीन्द्रभक्तानि अन्तरिक्षलोको माध्यन्दिन सवनं ग्रीष्मस्त्रिष्टुप् ""बृहत् साम), तथा ७ ११ (हेमन्त. पङ्क्ति """शाक्वर सामेत्य्.अन्तरिक्षायतनानि) पर आधारित हैं ।

ऋतू च ग्रीष्महेमन्तौ यच्च सामोच्यते बृहत् ।
शाक्वरीषु च यद्गीतं नाम्ना तत्साम शाक्वरम् ॥१३१॥

दो ऋतुयें ग्रीष्म तथा हेमन्त, और बृहत् नामक साम, और शक्वरी श्लोकों[1] में गाया जानेवाला शाक्वर नामक साम भी, इसी के क्षेत्र से सम्बद्ध है ।

[1] तु० की० निरुक्त ७ १०-११ पर दुर्ग ।

॥ इति बृहद्देवतायां प्रथमोऽध्यायः ॥



१—इन्द्र-स्थान के देवता

आह चैवास्य द्वौ स्तोमाव् आश्रयौ शाकटायनः ।
यश्च पञ्चदशो नाम्ना संख्यया त्रिणवश्च यः ॥ १ ॥

इसके अतिरिक्त शाकटायन का कथन है कि उनके (इन्द्र) लिये दो स्तोमों का विधान है, यथा : एक तो वह जिसे 'पञ्चदश' कहते हैं, और दूसरा वह जो संख्या में नौ का त्रिगुणित (अर्थात, सत्ताइस) होता है।[1]

[1] निरुक्त ७ १०-११ में भी क्रमशः यह कहा गया है कि 'पञ्चदश स्तोम' तथा 'त्रिणव स्तोम' इन्द्र से सम्बद्ध हैं।

संस्तुतश्चैव पूष्णा च विष्णुना वरुणेन च ।
सोमवाय्वग्निकुत्सैश्च ब्रह्मणस्पतिनैव च ॥ २ ॥

पूषन् के साथ, विष्णु और वरुण के साथ, और सोम, वायु, अग्नि, कुत्स, तथा ब्रह्मणस्पति के साथ, और[1]

[1] प्रस्तुत तथा बाद के श्लोक में जिन दस देवताओं को इन्द्र के साथ स्तुत्य बनाया गया है, उनका निरुक्त ७ १० (अथ अस्य संस्तविका देवाः अग्निः, सोमो वरुणः पूषा बृहस्पतिर् ब्रह्मणस्पतिः पर्वतः कुत्सो विष्णुर् वायुः) में भी इसी आशय में उल्लेख है।

बृहतस्पतिना चैव नाम्ना यश्चापि पर्वतः ।
कासुचित्केचिदित्याहुर् निपाता स्तुतिषु स्तुताः ॥ ३ ॥

बृहतस्पति,[1] तथा उसके साथ भी जिसका नाम पर्वत[2] है, इनकी (इन्द्र की) स्तुति की जाती है। लोगों का कथन है कि कुछ स्तुतियों में कुछ देवों की केवल नैपातिक[3] स्तुति होती है।

[1] इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ 'बृहतस्पति' व्युत्पत्ति की दृष्टि से (तु० की० 'बृहतः पाता', निरुक्त १०. ११) 'बृहस्पति' के ही समान है।

[2] तु० की० नीचे ४. ५ जहाँ 'पर्वत' की, इन्द्र के यज्ञ का प्रतिनिधित्व करनेवाले के रूप में व्याख्या की गई है।

[3] यहाँ 'निपाताः' का 'नैपातिनः' के रूप में ही प्रयोग किया गया है : तु० की० निरुक्त १०. १२ (काश्चित्—देवता—निपातभाजः)।

मित्रश्च श्रूयते देवो वरुणेन सहासकृत् ।
रुद्रेण सोमः पूष्णा च पुनः पूषा च वायुना ॥ ४ ॥

वातेनैव च पर्जन्यो लक्ष्यतेऽन्यत्र वै क्वचित् ।
ऋक्ष्वर्धर्चेषु पादेषु सूक्तेष्वेषु तु कृत्स्नशः ॥ ५ ॥

और मित्र देव की अक्सर स्तुतियों में वरुण के साथ, सोम की रुद्र और पूषन् के साथ, तथा पुनः, पूषन् की वायु के साथ और पर्जन्य की वात के साथ स्तुति[1] की गई है; फिर भी, अन्यत्र वह (इन्द्र) यत्र-तत्र ऋचाओं, अर्ध ऋचाओं, मन्त्रों (अथवा), सम्पूर्ण सूक्तों (ऋग्वेद के) [redacted] एक देव के रूप में आता है।

[1] अर्थात् इन्द्र (मध्य) के क्षेत्र में। देवताओं के इन पाँच युग्मों की स्तुति सम्बन्धी इस उक्ति का आधार निरुक्त ७ १० है (अथापि मित्रो वरुणेन संस्तूयते पूष्णा रुद्रेण च सोमोऽग्निना च पूषा वातेन च पर्जन्य)।

रसादानं तु कर्मास्य वृत्रस्य च निबर्हणम् ।
स्तुतेः प्रभुत्वं सर्वस्य बलस्य निखिला कृतिः ॥ ६ ॥

आर्द्रता को ग्रहण करना और वृत्र का विनाश करना—जो कि उसकी स्तुतियों की एक प्रमुख विशेषता है—तथा हर प्रकार के शक्तिपूर्ण कार्यों को पूर्णतया सम्पन्न करना उसका कार्य है।[2]

[1] यहाँ प्रथम दृष्टि में 'रसदानम्' पाठ को ग्रहण करने की प्रवृत्ति हो सकती है तु० की० निरुक्त ७ १० में 'रसानुप्रदानम्', जब कि यहाँ 'रसादानम' को सूर्य का कार्य बताया गया है (देखिये नीचे १९ वाँ श्लोक)। किन्तु यहाँ 'रसादानम्' पाठ ऊपर १ ६८ द्वारा पुष्ट होता है जहाँ इसे मध्यम (जातवेदस्) अग्नि का कार्य बताया गया है (रसान्……आदाय ……वर्षति), नीचे ४ ३८ में (मध्यम) अग्नि के कार्य का 'हरणम्……वारो विसर्गं पुनर एव च' के रूप में वर्णन किया गया है।

[2] यह श्लोक निरुक्त ७ १० पर आधारित है, जहाँ इन्द्र के तीन कार्यों के अन्तर्गत रसदान, वृत्र के वध, तथा बल के कार्यों की गणना कराई गई है, (अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलकृतिर् इन्द्रकर्मैव तत्)।

२-सूर्य-क्षेत्र के देवता : सूर्य की तीन पत्नियाँ

इत्यैन्द्रो मध्यमस्थानो गणः सम्यगुदाहृतः ।
यः परस्तु गणः सौर्यो द्युस्थानस्तं निबोधत ॥ ७ ॥

इस प्रकार मध्यम-स्थान में स्थित इन्द्र-वर्ग के देवों का यथोचित उल्लेख किया गया। अब सूर्य से सम्बद्ध दिव्य-स्थानीय देवों का ज्ञान प्राप्त करें।

तस्य मुख्यतमौ देवाव् अश्विनौ सूर्यमाश्रितौ ।
वृषाकपायी सूर्योषाः सूर्यस्यैव तु पत्नयः ॥ ८ ॥

सूर्य से सम्बद्ध इस वर्ग के दो प्रमुख देवता[1] अश्विनद्वय[2] हैं; जबकि वृषाकपायी, सूर्या और उषस्[3], सूर्य[4] की पत्नियाँ हैं।

[1] तु० की० निरुक्त १२. १ 'तासाम् (द्युस्थानानां देवतानाम्) अश्विनौ प्रथमागामिनौ भवत.'।

[2] प्रस्तुत तथा इसके बाद के चार श्लोकों (८-१२) में उन्हीं सब देवताओं का वर्णन है जिनका नैघण्टुक ५. ६ मे उल्लेख है, फिर भी यहाँ इनके क्रम में अन्तर है और 'त्वष्टा' को छोड दिया गया है (सम्भवतः इसलिये कि यह ऊपर दो बार: १. १०८ और १. १२५ में आ चुका है)।

[3] तु० की० नीचे ३. १०।

[4] तु० की० निरुक्त १२. ७: 'सूर्या सूर्यस्य पत्नी।'

अमुतोऽर्वाङ् निवर्तन्ते प्रतिलोमास्तदाश्रयाः ।
पुरोदयात्तामुषसं सूर्यां मध्यंदिने स्थिते ॥ ९ ॥

उसके (सूर्य के) आश्रय में वह सब उस दिव्य लोक से इधर आते हैं, और फिर लौट जाते हैं। उसे सूर्योदय[2] के पूर्व उषस्, मध्याह्न के समय[3] सूर्या,

[1] 'अमुतोऽर्वाङ्' शब्द निःसन्देह सूर्य की रश्मियों के सन्दर्भ में निरुक्त ७. २४ (अमुतोऽर्वाञ्च पर्यावर्तन्ते) से गृहीत है।

[2] तु० की० 'प्राग् उदयात्', नीचे ३. १० और देखिये ७. १२१ भी।

[3] 'मध्यन्दिने स्थिते' व्याहृति ऋग्विधान १. ९, २ में भी आती है।

वृषाकपायीं सूर्यस्य तामेवाहुस्तु निम्रुचि ।
तस्याश्रये सरण्यूश्च भगः पूषा वृषाकपिः ॥ १० ॥
यमो वैश्वानरो विष्णुर् वरुणश्चैकपादजः ।
पृथिवी च समुद्रश्च देवाः सप्तर्षयश्च ये ॥ ११ ॥
आदित्याः केशिसाध्याश्च सविता वसुभिर्मनुः ।
दध्यङ्ङथर्वा विश्वे च वाजिनो देवपत्नयः ॥१२॥

किन्तु सूर्यास्त के समय वृषाकपायी कहते हैं। उसी के आश्रय में सरण्यू, भग, पूषन्, वृषाकपि, यम, वैश्वानर, विष्णु, वरुण, अज एकपाद, और पृथिवी और समुद्र, देवगण तथा सप्तर्षिगण, आदित्यगण, केशिनगण और

साध्यगण, सवितृ, वसुगण, मनु, दध्यङ्, अथर्वन्, विश्वेदेव, अश्व, तथा देवों की पत्नियाँ भी स्थित हैं।

[1] नैघण्टुक ५ ६ में 'केशा' और 'केशिन' दोनों आते हैं।

[2] प्रस्तुत ग्रन्थ में विश्वदेवों के लिये अक्सर 'विश्व' का ही प्रयोग किया गया है।

असौ तृतीयं सवनं लोकः साम च रैवतम्।
वैरूपं चैव वर्षाश्च शिशिरोऽथ ऋतुस्तथा ॥ १३ ॥
त्रयस्त्रिंशश्च यः स्तोमः क्लृप्त्या सप्तदशश्च यः।
छन्दश्च जगती नाम्ना तथातिछन्दसश्च याः ॥ १४ ॥

उसी दिव्य लोक में तृतीय सोम सवन, रैवत और वैरूप साम, और वर्षा तथा शिशिर ऋतु और तैंतीस स्तोम, तथा वह जो व्यवस्था में सत्रह है, और जगती तथा अतिछन्दस् छन्द भी स्थित हैं।[1]

[1] उक्त गीत श्लो० निरुक्त ७ ११ की इस उक्ति पर आधारित है 'अथैतान्यस्थिभक्तानि असौ लोकस्तृतीयसवनं वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम और शिशिरो निधनम् त्रयस्त्रिंशस्तोमो रैवतं सामेति द्युभक्तानि।'

पौरुषं चाहुरस्यैतत् सर्वमेव ते पौरुषम्।
एतस्यैव तु विज्ञेया देवाः संस्तविकास्त्रयः ॥ १५ ॥

जो कुछ भी पुरुष से सम्बद्ध है वह उसका ही कहा गया है, और यह सब कुछ (विश्व) पुरुष[1] से ही सम्बद्ध है। (निम्नलिखित) तीन देवताओं को स्तुति में उससे (सूर्य से) ही सम्बद्ध माना गया है

[1] तु० का० ऊपर १ ७३।

चन्द्रमाश्चैव वायुश्च यं च संवत्सरं विदुः।
केचित्तु निर्वपन्त्यस्य सौर्यवैश्वानरं हविः ॥ १६ ॥

चन्द्रमा, वायु, और वह जिसे संवत्सर कहते हैं।[1] कुछ लोग उसको सूर्य और[2] वैश्वानर को सम्बोधित हवि भी समर्पित करते हैं।

[1] यह पंक्ति निरुक्त ७ ११ (चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तव) का अनुसरण करती है।

[2] तु० का० १० ८८ पर यास्क-टिप्पणी 'सौर्यवैश्वानरीयम् सूर्यदैवत्यं वैश्वानरगुणाभिदैवत्यं च।'

३—सूर्य और वैश्वानर अग्नि के ही रूप हैं

सौर्यवैश्वानरीयं हि तत्सूक्तमिव दृश्यते।
ऋगर्धर्चोऽथवा पादो द्वृचो वा यदि वा तृचः ॥ १७ ॥

चाहे ऋचा हो अथवा अर्ध-ऋचा, चाहे मन्त्र हो अथवा दो या तीन पदों का श्लोक, सूर्य और वैश्वानर[1] को सम्बोधित होने पर सूर्य का ही सूक्त प्रतीत होता है।

[1] ऋग्वेद १० ८८; देखिये इस सूक्त पर सायण तथा सर्वानुक्रमणी; तु० कौ० ऋग्° १. १०० और १०२, और निरुक्त ७. २३ और २४।

अनेन तु प्रवादेन दृष्टा मूर्धन्वता स्तुतिः।
सूर्यवैश्वानराग्नीनाम् ऐकात्म्यमिह दृश्यते ॥ १८ ॥

किन्तु जिस व्याहृति में 'मूर्धन्व'[1] शब्द होता है उसकी स्तुति स्पष्ट है। यहाँ सूर्य, वैश्वानर और अग्नि की एकात्मकता दृष्टिगत होती है।

[1] ऋग्वेद १० ८८, ५. ६ (मूर्धन्वता) जहाँ अग्नि का, शीर्ष (मूर्धा) अथवा विश्व के शीर्ष पर (मूर्धन्) स्थित होने के रूप में वर्णन किया गया है; तु० कौ० निरुक्त ७. २७ भी।

हरणं[1] तु रसस्यैतत् कर्मामुत्र च रश्मिभिः।
येन नातिविजानन्ति सर्वभूतानि चक्षुषा ॥ १९ ॥

अपनी रश्मियों द्वारा उस दिव्य लोक में आर्द्रता का हरण भी उसका ही कार्य है, जिसे सभी प्राणी अपने चक्षु से स्पष्टतया जान नहीं पाते।

[1] यहाँ इस शब्द का प्रयोग सम्भवतः निरुक्त, [illegible]. ११ (अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश् च रसाधारणम्) के दोहरे आशय (रश्मियों से आर्द्रता को ग्रहण करना तथा उसे अपने में धारण कर रखना) को व्यक्त करने के लिये किया गया है।

विभागमिममेतेषां विभूतिस्थानसंभवम्।
संयग्विजानन्मन्त्रेषु तं तु कर्मसु योजयेत् ॥ २० ॥
अध्यापयन्नधीयानो मन्त्रं चैवानुकीर्तयन्।
स्थानं सालोक्यं सायुज्यम् एतेषामेव गच्छति ॥ २१ ॥

मन्त्रों में, वैभव और स्थान की दृष्टि से उत्पन्न[1] (इन तीन देवों की) विशेषताओं के वितरण को ठीक-ठीक समझते हुये, और अध्यापन, अध्ययन, तथा मन्त्रों का उच्चारण करते हुये, मनुष्य इन्हीं देवों के स्थान और लोक को, तथा उनके साथ घनिष्ठ सायुज्य को, प्राप्त करता है।

[1] यहाँ 'विभूति-स्थान-सम्भवम्', बहुव्रीहि है जैसा कि १. १०४ में भी है; किन्तु १९६ में 'विभूति-स्थान-जन्म', द्वन्द्व है।

४–अग्नि के पाँच नाम, अग्नि, द्रविणोदस्, तनूनपात् की उत्पत्ति

अग्नेस्तु यानि सूक्तानि पञ्च नामानि कारवः ।
षड्विंशतिस्तथेन्द्रस्य प्राहुः सूर्यस्य सप्त च ॥ २२ ॥

अब, सूक्तों में कविगण अग्नि के पाँच, इन्द्र के छब्बीस, और सूर्य के सात नामों की घोषणा करते हैं।

तेषां पृथङ्निर्वचनम् एकैकस्येह कर्मजम् ।
उच्यमानं यथान्यायं शृणुध्वमखिलं मया ॥ २३ ॥

यहाँ मैं इनमें से प्रत्येक (देवता) की कर्म[1] पर आधारित पृथक् पृथक् व्याख्या करूँगा, जिसे सुने।

[1] 'पृथङ् निर्वचन कर्मजम्' की ऊपर २० वें श्लोक के 'विभाग विभूति-स्थान सम्भवम्' के साथ तुलना करें।

जातो यदग्रे भूतानाम् अग्रणीरध्वरे च यत् ।
नाम्ना संनयते वाङ्गं स्तुतोऽग्निरिति सूरिभिः ॥ २४ ॥[1]

यतः उसका जन्म सभी भूतों के पूर्व हुआ था, और यतः वह यज्ञ का अग्रणी है, अथवा यत वह (अपने) शरीर को एकीभूत कर लेता है, अतः ऋषिगण उसकी 'अग् नि' के नाम से स्तुति करते हैं।

[1] यहाँ अग्नि का प्रकृति का कथन करनेवाले तीनों शब्द प्रत्यक्षतः निरुक्त ७ ८४ (अग्रणीर् भवति, अग्र यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्ग नयति सन्नममान') के समान है, तु० वा० ऊपर १ ९१ भी।

द्रविणं धनं बलं वापि प्रायच्छत्येन कर्मणा ।
तत्कर्म दृष्ट्वा कुत्सस्तु प्राहैनं द्रविणोदसम् ॥ २५ ॥

धन और बल प्रदान करनेवाले उसके कार्य को देख कर कुत्स[1] ने उस द्रविणो दस् ,' (१) कहा है।

[1] ऋग्वेद १ ९६ ८ में।

अयं तनूनपादग्निर् असौ हि तननात्तनुः ।
ततस्तु मध्यमो जज्ञे स्थानेऽयं मध्यमात्ततः ॥ २६ ॥

यह पार्थिव अग्नि 'तनूनपात्' (२) है। क्योंकि वह (दिव्य) अग्नि 'तनन' (विस्तृत) से 'तनु' हुये : उनसे ही मध्यम-स्थान के अग्नि का

जन्म हुआ, और पुनः, मध्यम-स्थान के अग्नि से अपने (उपयुक्त) स्थान पर यह (पार्थिव) अग्नि उत्पन्न हुये ।[1]

[1] तु० की० नीचे ३ ६४ ।

५—नराशंस, पवमान, जातवेदस्

अनन्तरां[1] प्रजामाहुर् नपादिति कृपण्यवः ।
नपादमुष्य चैवायम् अग्निस्तेन तनूनपात् ॥ २७ ॥

कविगण, प्रथम वंशज के अनन्तर वंशज को पौत्र कहते हैं—और यह (पार्थिव) अग्नि उस (दिव्य) अग्नि के पौत्र[2] हैं; अतः इन्हें 'तनूनपात्' कहते हैं ।

[1] यह व्याहृति निरुक्त ८ ५ (नपाद् इति अनन्तरायाः प्रजाया नामधेयम्) से गृहीत है ।

[2] यास्क ने भी 'तनूनपात्' की 'पौत्र' के रूप में ही व्याख्या की है, यद्यपि एक भिन्न आशय में, क्योंकि उनके अनुसार यह शब्द 'आज्य' का द्योतक है ।

पृथक्त्वेन समासैस्तु यज्ञे यच्छस्यते नृभिः ।
स्तुवन्त्याप्रीषु तेनेमं नराशंसं तु कारवः ॥ २८ ॥

यतः यज्ञ के समय मनुष्यगण (नृ)[1] एक साथ ही इनकी पृथक्-पृथक् प्रशस्ति (शंस्) करते हैं, अतः आप्री सूक्तों में कवियों ने इस अग्नि की 'नराशंस' (३) के रूप में स्तुति की है ।

[1] यह 'नराशंस' के रूप में अग्नि की शाकपूणि द्वारा प्रस्तुत व्याख्या (निरुक्त ८. ६) 'नरैः प्रशस्यो भवति', पर आधारित है । कात्थक्य द्वारा प्रस्तुत 'यज्ञ' के रूप में 'नराशंस' की व्याख्या के लिये देखिये नीचे ३. २ ।

पुनाति यदिदं विश्वम् एवाग्निः पार्थिवोऽथ च ।
वैखानसर्षिभिस्तेन पवमान इति स्तुतः ॥ २९ ॥

और यतः यह पार्थिव अग्नि विश्व को पवित्र करते हैं, अतः ऋषि वैखानस उनकी 'पवमान' (४) के रूप में स्तुति करते हैं ।[1]

[1] तु० की० ऊपर १. ६६ ।

भूतानि वेद यज्जातो जातवेदाथ कथ्यते ।
यच्चैष जातविद्योऽभूद् वित्तं जातोऽधिवेत्ति वा ॥ ३० ॥
विद्यते सर्वभूतैर्हि यद्वा जातः पुनः पुनः ।
तेनैष मध्यभागेन्द्रो जातवेदा इति स्तुतः ॥ ३१ ॥

यतः जन्म लेने पर अग्नि प्राणियों को जानते हैं, अतः उन्हें जातवेदस् (५) कहते हैं। और यतः वह (अग्नि) वह बने जिसमें विद्या का जन्म हुआ, अथवा यतः जन्म लेने पर वह अधिवेत्ति होते हैं, अथवा यतः बार बार जन्म लेने पर सभी प्राणी उन्हें जान लेते हैं, अतः मध्यम स्थान[1] के इन्द्र की ही भाँति इनको भी 'जातवेदस्'[2] के रूप में स्तुति होती है।

[1] तु० की० ऊपर १ ९९ जहाँ जातवेदस् को समर्पित सूक्त से मध्यम स्थान के अग्नि के सम्बोधन का तात्पर्य है तु० की० ऊपर १ ६७ भी।

[2] जातो विद्यत और जातं विद्यते के रूप में जातवेदस् की जो व्युत्पत्तियाँ ऊपर १ ९७ में दी जा चुकी हैं जिनमें से प्रथम उक्त ३० ३१ श्लोकों के चौथे से ही समान है। इस प्रकार जातवेदस् की पाँच व्युत्पत्तियाँ हुई जो न्यूनाधिक मात्रा में निरुक्त ■ १९ (जातविद्य जातानि वेद जातानि वा एनं विदु जाते जाते विद्यत, जातवित्त) के ही समान हैं।

६–इन्द्र के छब्बीस नाम वायु, वरुण, रुद्र, इन्द्र

अणिष्ठ एव यस्तु त्रीन् व्याप्यैको व्योम्नि तिष्ठति।
तेनैनमृषयोऽर्चन्तः कर्मणा वायुमब्रुवन् ॥३२॥

किन्तु यतः वह अत्यन्त सूक्ष्म रूप से तीनों लोकों को व्याप्त करता हुआ वायुमण्डल में प्रतिष्ठित है, अतः कर्म की दृष्टि से उसकी अर्चना करते हुये उसे वायु[1] (१) कहते हैं।

[1] मध्य-स्थान के देवों की नैघण्टुक (५ ४) की तालिका में 'वायु' सर्वप्रथम आता है तु० की० निरुक्त १० १। इन छब्बीस नामों में से तेरह (प्रथम आठ उसी क्रम से) तो नैघण्टुक (५ ४) के वर्ताम के अन्तर्गत आ जाते हैं और शेष सात नैघण्टुक ५ ५ में आते हैं। तु० की० ऊपर १ १२२–१२९।

त्रीणीमान्यावृणोत्येको भूतेन तु रसेन यत्।
तयैनं वरुणं शक्त्या स्तुतिष्वाहुः कृपण्यवः ॥ ३३ ॥

किन्तु यतः स्थूल आर्द्रता से केवल वही इन लोकों को आवृत्त (वृणोति)[1] करते हैं अतः उनके इस कर्म के कारण ऋषिगण स्तुतियों में उन्हें वरुण (२) के नाम से पुकारते हैं।

[1] यह निरुक्त १० ३ (वरुणो वृणोतीति सतः) की व्युत्पत्ति का अनुसरण करता है।

अरोदीदन्तरिक्षे यद् विद्युद्वृष्टिं ददन्नृणाम्।
चतुर्भिर्ऋषिभिस्तेन रुद्र इत्यभिसंस्तुतः ॥ ३४ ॥

यतः उन्होंने अन्तरिक्ष में गर्जन[1] करते हुये मनुष्यों के लिये विद्युत

सहित वर्षा की, अतः चार ऋषियों[2] ने उनकी रुद्र (३) के रूप में अत्यधिक स्तुति की।

[1] यह 'रुद्र' की व्युत्पत्तियों में से एक है जो निरुक्त १०. ५ (यद् अरोदित् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् इति हारिद्रविकम्) में दी हुई हैं। यास्क के अनुसार यह नाम 'रु' धातु से भी व्युत्पन्न हुआ हो सकता है।

[2] अर्थात् कण्व (ऋग्वेद १. ४३), कुत्स (ऋग्वेद १ ११४), गृत्समद (ऋग्वेद २. ३३) और वसिष्ठ (ऋग्वेद ७ ४६)।

चतुर्विधानां भूतानां प्राणो भूत्वा व्यवस्थितः ।
ईष्टे चैवास्य सर्वस्य तेनेन्द्र इति स स्मृतः ॥ ३५ ॥

चार प्रकार के प्राणियों के जीवन का व्यवस्थित स्रोत बन कर वह इस विश्व पर शासन करते हैं, अतः उनको 'इन्द्र' (४) नाम दिया गया है।

इरां दृणाति यत्काले मरुद्भिः सहितोऽम्बरे ।
रवेण महता युक्तस् तेनेन्द्रमृषयोऽब्रुवन् ॥ ३६ ॥

यतः उन्होंने मरुतों के साथ सम्बद्ध होकर उपयुक्त समय पर भीषण गर्जन के साथ आकाश में जलों (इराम्)[1] को प्रकट किया, अतः ऋषिगण उन्हें इन्द्र नाम से पुकारते हैं।

[1] यह निरुक्त १०. ८ में दी हुई अनेक व्युत्पत्तियों में से प्रथम के समान है।

७—पर्जन्य, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, क्षेत्रस्य-पति, ऋत

यदिमां प्राजयत्येको रसेनाम्बरजेन गाम् ।
कालेऽत्रिरौर्वशश्चर्षी तेन पर्जन्यमाहतुः ॥ ३७ ॥

यतः केवल वही उपयुक्त समय पर आकाश में उत्पन्न आर्द्रता इस पृथिवी को प्रदान[1] करते हैं, अतः ऋषि अत्रि[2] तथा उर्वशी-पुत्र[3] (वसिष्ठ) उन्हें पर्जन्य (५) के नाम से पुकारते हैं।

[1] प्रस्तुत तथा बाद के श्लोक में दी गई पर्जन्य की चार व्युत्पत्तियाँ निरुक्त १०. १० (पर्जन्यस् तृपेर् आद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः, परो जेता वा जनयिता वा, प्रार्जयिता वा रसानाम्) के ही समान हैं।

[2] पर्जन्य-सूक्त (ऋग्वेद ५. ८३) के प्रणेता के रूप में।

[3] वसिष्ठ, जिन्हें प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक बार इस मातृनामोद्भृत नाम से व्यक्त किया गया है (यथा: २. ४४, १५६; ३. ५६; तु० की० ५. १४९, १५०), अन्य दो पर्जन्य सूक्तों (ऋग्वेद ७. १०१ और १०२) के भी प्रणेता हैं।

तर्पयत्येष यल्लोकाञ् जन्यो जनहितश्च यत्।
परो जेता जनयिता यद्वाग्नेयस्ततो जगौ ॥ ३८ ॥

यत वह लोकों को प्रसन्नता प्रदान करते हैं, और यत वह समस्त जनों के हितैषी हैं, अथवा यत वह परम विजेता या जनयिता हैं, अत (कुमार) आग्नेय[1] ने उनकी (पर्जन्य के रूप में) स्तुति की।

[1] ऋग्वेद ७ १०१ और १०२ के एक अन्य प्रणना के रूप में तु० का० इन सूक्तों पर आर्षानुक्रमणा (अग्निपुत्र कुमारो वा वसिष्ठो वा स्वयं मुनि) और सर्वानुक्रमणा (पने कुमार आग्नेयोऽपश्यद्वसिष्ठ एव वा वृष्टिकाम)।

बृहन्तौ पाति यल्लोकाव् एष द्वौ मध्यमोत्तमौ।
बृहता कर्मणा नेन बृहस्पतिरितीळितः ॥ ३९ ॥

यत वह दो बृहत, मध्यम और उत्तम, लोकों की रक्षा करते हैं अत इस महान कर्म के कारण उन्हें बृहस्पति[1] (६) कहते हैं।

[1] तु० का० यास्क का व्युत्पत्ति 'बृहस्पतिर् बृहत पाता पालयिता वा (निरुक्त १० ११) जहाँ दुर्ग ने 'बृहत की 'महतो अस्य जगत उदकस्य वा' के रूप में व्याख्या की है। तु० का० बृहतस् पतिना' (ऊपर २ ३)।

ब्रह्म वाग् ब्रह्म सत्यं च ब्रह्म सर्वमिदं जगत्।
पातारं ब्रह्मणस्तेन शौनहोत्र स्तुवञ्जगौ ॥ ४० ॥

वाच् भी ब्रह्म है, और सत्य भी ब्रह्म है, यह समस्त जगत भी ब्रह्म है, अत शौनहोत्र[1] (गृत्समद) ने स्तुति करते हुये उन्हें ब्रह्म का रक्षक[2] (अर्थात् 'ब्रह्मणस्पति') (७) कहा।

[1] ऋग्वेद २ २३ २६ में।

[2] निरुक्त १० १२ (ब्रह्मणस्पतिर् ब्रह्मण पाता वा पालयिता वा)।

अन्नं क्षितिभ्यो विदधद् यद्दतुष्वविशत्क्षितौ।
तेनैनमाह क्षेत्रस्य वामदेव स्तुवन्पतिम् ॥ ४१ ॥

यत वह उपयुक्त समय पर पृथिवी[1] में प्रवेश करके पृथिवी वासियों को अन्न प्रदान करते हैं, अत स्तुति करते हुये वामदेव[2] उन्हें 'क्षेत्रों का अधिपति' (८) कहते हैं।

[1] देखिये निरुक्त १० १३ 'क्षेत्रस्य पति क्षेत्र क्षियतेर् निवासकर्मणम्, तस्य पाता वा पालयिता वा।'

[2] ऋग्वेद ४ ५७ में।

मनसेमं तु यद्दृश्यं मध्यमं लोकमाश्रितम् ।
शंसत्सत्येन सत्ये वै स एष स्तुतवानृतम् ॥ ४२ ॥

यतः उन्होंने ही उसको प्रगट किया जो मध्यम-स्थान से सम्बद्ध होते हुये, सत्य[1] में सत्य के साथ केवल मन से दृष्टिगत होता है, अतः उसी वामदेव ने इसकी 'ऋत'[2] (९) के रूप में स्तुति की।

[1] निरुक्त ४. १० में 'ऋत' की 'सत्यं वा यज्ञं वा' के रूप में व्याख्या की गई है। तु० कीं० ऋग्वेद ४. २३, ८ पर सायण भी।

[2] ऋग्वेद ४. २३, ८ का यास्क ने ('ऋत' के उदाहरण में) निरुक्त १०. ४१ में विवेचन किया है।

रवेणान्तारसैः क्षितै स्थितो व्योम्न्येष मायया ।
ऋतस्य श्लोक इत्येष पुनश्चैनं ततोऽब्रवीत् ॥ ४३ ॥

और यतः वह अपनी मायावी शक्ति से गर्जन के साथ बरसनेवाली, आन्तरिक आर्द्रता[1] के साथ आकाश में स्थित हैं, अतः उसने (वामदेव ने) पुनः[2] उन्हें ऋत श्लोकों[3] में व्यक्त किया।

[1] 'जल' के अर्थ के सन्दर्भ में प्रयुक्त (निरुक्त २. २५ : 'ऋतम् इत्यु उदकनाम'); तु० कीं० नीचे ? ५०।

[2] अर्थात् पहले 'सत्य' के रूप में और अब 'जल' (अर्थात् मेघ-जल) के रूप में।

[3] ऋग्वेद ४. २३, ८. देखिये निरुक्त १०. ४१।

८—वास्तोष्पति, वाचस्पति, अदिति, क, यम

वास्तुमयच्छंल्लोकस्य मध्यमः स तु पाति यत् ।
तेन वास्तोष्पतिं प्राह चतुर्भिरिममौर्वशः ॥ ४४ ॥

यतः मध्यम-स्थान में स्थित होने के कारण वह संसार को आवास प्रदान करते हुये उसकी रक्षा[1] करते हैं, अतः उर्वशी पुत्र (वसिष्ठ) ने उन्हें चार मन्त्रों[2] में 'वास्तोष्पति' (१०) कहा है।

[1] निरुक्त १०. १६ : 'वास्तोष्पतिर् : वास्तु वसतेर् निवासकर्मणस्, तस्य पाता वा पालयिता वा।'

[2] ऋग्वेद ७. ५४, १-३, ५५, १।

वाचा वेदा ह्यघोषन्ते वाचा छन्दांसि तत्र ह ।
अथो वाक् सर्वमेवेदं तेन वाचस्पति स्तुतः ॥ ४५ ॥

यतः वेदों को वाणी द्वारा ही ग्रहण, और उनके छन्दों का वाणी द्वारा

ही उच्चारण किया जा सकता है, और यत वाणी ही यह विश्व है, अत उनकी 'वाणी के अधिपति' (वाचस्पति, ११)[1] के रूप में स्तुति की जाती है।

[1] निरुक्त १० १७ 'वाचस्पतिर्वाच पाता वा पालयिता वा।

न कुतश्चन यद्दीनो वृत्वा तिष्ठति मध्यमः।
राहूगण ऋषिस्तेन प्राहैनं गोतमोऽदितिम् ॥ ४६ ॥

यत वह ससार को आवृत्त[1] करते हुये मध्यम स्थान में स्थित, और किसी भी दिशा से हीन नहीं हैं, अत राहूगण गोतम[2] ऋषि ने उन्हें 'अदिति'[3] (१२) कहा है।

[1] तु० का० ऋग्वेद १० ९० १ स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत्
[2] ऋग्वेद १ ८९ १० में (देखिये निरुक्त ४ २२ २३)।
[3] निरुक्त ४ २२ अदितिर् अदीना देवमाता।'

प्रजाभ्यस्त्वेष यच्छर्म कमिच्छन्मनसा सुखम्।
हिरण्यगर्भस्तेनैनम् ऋषिरर्चन्नुवाच कम् ॥ ४७ ॥

किन्तु यत वह प्राणियों के रक्षक हैं और अपने हृदय में प्राणियों के सुख[1] की कामना करते हैं, अत हिरण्यगर्भ[2] ऋषि ने उनकी अर्चना[3] करते हुये उन्हें 'क' (१३) कहा है।

[1] निरुक्त १० २२ (क कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा) में 'क' का तीन व्याख्याओं में से एक 'सुख' भी है।
[2] ऋग्वेद १० १२१ का प्रसिद्ध द्रष्टा, देखिये आर्षानुक्रमणी १० ५९ और ऋग्वेद १० १२१ पर सर्वानुक्रमणी।
[3] तु० की० ऊपर २ ३२ में 'अर्चन'।

इह प्रजाः प्रयच्छन्स संगृहीत्वा प्रयाति च।
ऋषिर्विवस्वतः पुत्रं तेनाहैनं यमो यमम् ॥ ४८ ॥

वह यहाँ सन्तान प्रदान[1] करते हैं, और उनको एकत्र करके दूसरे लोक में ले जाते हैं,[2] अत यम[3] ऋषि उन्हें विवस्वत्[4] पुत्र 'यम'[5] (१४) कहते हैं।

[1] निरुक्त १० १९ 'यमो यच्छतीति सत'।
[2] तु० की० ऋग्वेद १० १४, १ जिसकी निरुक्त १० १९ (परेयिवांसम् संगमनं जनानाम्) में व्याख्या की गई है।
[3] ऋग्वेद १० १४ का प्रसिद्ध द्रष्टा तु० की० आर्षानुक्रमणी १० ६ और इस सूक्त पर सर्वानुक्रमणी।
[4] ऋग्वेद १० १४, १ (वैवस्वतं यमम्)।
[5] तु० की० निरुक्त १० २० 'अग्निर् अपि यम उच्यते।'

९–मित्र, विश्वकर्मन्, सस्वत्, वेन, मन्यु

मित्रीकृत्य जना विश्वे यदिमं पर्युपासते ।
मित्र इत्याह तेनैनं विश्वामित्र स्तुवन्स्वयम् ॥ ४९ ॥

यतः सभी मनुष्यगण उन्हें अपना मित्र मान कर उनकी उपासना करते हैं, अतः स्वयं विश्वामित्र[1] भी उनकी स्तुति करते हुये उन्हें 'मित्र' (१५) कहते हैं ।

[1] ऋग्वेद ३. ५९, १ में, जिस पर निरुक्त १०. २२ में टीका की गई है ।

निदाघमासातिगमे यद्दतेनाचति क्षितिम् ।
विश्वस्य जनयन्कर्म विश्वकर्मैष तेन सः ॥ ५० ॥

यतः ग्रीष्म मासों की समाप्ति पर वह पृथिवी को जलों[1] से तृप्त और सभी वस्तुओं में क्रियाशीलता[2] उत्पन्न कर देते हैं, अतः उन्हें विश्वकर्मन् (१६) कहते हैं ।

[1] तु० की० ऊपर २. ४२ ।
[2] तु० की० निरुक्त १० २५ : विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता ।'

सरांसि घृतवन्त्यस्य सन्ति लोकेषु यत्त्रिषु ।
सरस्वन्तमिति प्राह वाचं प्राहुः सरस्वतीम् ॥ ५१ ॥

यतः उनके पास तीनों लोकों में घृत से परिपूर्ण सरोवर हैं, अतः ऋषिगण[1] उन्हें 'सरस्वत्'[2] (१७) और 'वाच्' को सरस्वती कहते हैं ।

[1] अर्थात् ऋग्वेद ७. ९६. ४–६ में वसिष्ठ; इन मंत्रों में से एक का यास्क (निरुक्त १० २४) ने उद्धरण तो दिया है किन्तु व्याख्या नहीं की है ।
[2] यास्क (निरुक्त १० २४) 'सरस्वत्' की व्याख्या नहीं करते, वरन् केवल ऐसी टिप्पणी कर देते हैं : 'सरस्वान् व्याख्यानः ।'

प्राणभूतस्तु भूतेषु यद्वेनत्येषु तिष्ठति ।
तेनैनं वेनमाहर्षिर् वेनो नामेह भार्गवः ॥ ५२ ॥

यतः उनका (भूतों का) प्राण होने के कारण वही उनमें गतिशील[1] होते हैं, अतः वेन भार्गव[2] नामक ऋषि ने उन्हें 'वेन' (१८) कहा है ।

[1] यास्क (निरुक्त १०. ३८) ने 'इच्छा करने' के आशय में 'वेन' की, 'वेन्' क्रिया से व्युत्पन्न हुये होने के रूप में व्याख्या की है (वेनतेः कान्तिकर्मणः)। यह क्रिया नैघण्टुक २. ६ के 'कान्तिकर्माणः' में से एक है; नैघण्टुक २. १४ में यह 'गति-कर्माणः' के अन्तर्गत भी आती है ।

[2] ऋग्वेद १० १२३ का प्रसिद्ध द्रष्टा। इसके प्रथम मन्त्र की यास्क ने निरुक्त १० ३८ में व्याख्या की है। तु० की० आर्षानुक्रमणी १० ६० 'वेनो नाम भृगो सुतः।'

ससृजे मासि मास्येनम् अभिमत्य तपोऽग्रजम् ।
तेनैनं मन्युरित्याह मन्युरेव तु तापसः ॥ ५३ ॥

यत इच्छा करते हुये अग्रज तप ने उनका प्रतिमास सृजन किया, अत मन्यु तापस[2] उन्हें 'मन्यु' (१९) कहते हैं।

[1] यास्क (निरुक्त १० २९) ने 'मन्यु' को 'मन्' से व्युत्पन्न माना है (मन्युर् मन्यतेर् दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा।)

[2] आर्षानुक्रमणी १० ३३ और ऋग्वेद १० ८३ पर सर्वानुक्रमणी के अनुसार मन्यु तापस, ऋग्वेद १० ८३-८४ के द्रष्टा हैं। इस बाद के सूक्त (१० ८४) के प्रथम मन्त्र पर यास्क ने (निरुक्त १० ३० में) टिप्पणी की है।

१०—असुनीति, अपां नपात्, दधिक्रा, धातृ, तार्क्ष्य

यदन्तकाले भूतानाम् एक एव नयत्यसून् ।
तेनासुनीतिरुक्तोऽयं स्तुवता श्रुतबन्धुना ॥ ५४ ॥

यत जब प्राणी की मृत्यु होती है तो केवल यही उसकी आत्मा[1] का पथ प्रदर्शन करते हैं, अत इनकी स्तुति करनेवाले श्रुतबन्धु[2] ऋषि ने इन्हें 'असुनीति' (२०) कहा है।

[1] निरुक्त १० ३९ 'असुनीतिर् असून् नयति।'

[2] ऋग्वेद १० ५९ का प्रसिद्ध प्रणेता। इस सूक्त के पाँचवें मन्त्र पर निरुक्त १० ४०, में टिप्पणी की गई है।

निदाघमासातिगमे जन्म मध्ये भवत्यपाम् ।
नपातमाह तेनैनम् ऋषिर्गृत्समद स्तुवन् ॥ ५५ ॥

उष्ण मासों की समाप्ति के समय जलके बीच[1] इनका जन्म होता है। अत गृत्समद[2] ऋषि ने उनकी स्तुति करते हुये उन्हें 'जलों[3] का पुत्र' (२१) कहा है।

[1] तु० की० ऋग्वेद १० ३०, ४ में 'अप्स्व अन्तर्', जिस पर निरुक्त १० १९ में टिप्पणी की गई है। यहाँ 'मध्यमस्थान' का तात्पर्य नहीं है, जैसा कि प्रथम दृष्टि में ऊपर २ ४४ में 'मध्यम' तथा २, ३१ में 'मध्यभागन्द' के प्रयोग से मानने की प्रवृत्ति हो सकती है।

[2] ऋग्वेद २ ३५ में (तु० की० निरुक्त १० १९)।

[3] तु० की० निरुक्त १० १८ 'अपां नपात् तनूनप्त्रा व्याख्यात', देखिये ऊपर २ २७।

अपामम्बरगर्भोघम् आदधत्सोऽष्टमासिकम् ।
यत्क्रन्दत्यसकृन्मध्ये दधिक्रास्तेन कथ्यते ॥ ५६ ॥

यतः वह आठ मास तक आकाश[1] में जलों को धारण कर रखते हैं और उनके बीच कभी-कभी गर्जन[2] भी करते हैं, अतः उन्हें 'दधिक्रा' (२२) कहा गया है।

[1] तु० की० 'अन्तरात्मा', ऊपर २. ४३।

[2] तु० निरुक्त २. २७। दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा दधदाकारी भवतीति वा। ये तीन उन व्युत्पत्तियों में से एक है।

मासेन संभृतं गर्भं नवमेनाथ मासिकम् ।
स्वयं क्रन्दन्दधात्युर्व्यां धातेत्यृग्भिः स गीयते ॥ ५७ ॥

इसके पश्चात स्वयं गर्जन करते हुये नवें मास में वह विकसित गर्भ को एक मास तक पृथिवी में स्थापित रखते हैं। अतः (ऋग्वेद की) ऋचाओं में उनका 'धातृ'[1] (२३) के रूप में गायन किया गया है।

[1] निरुक्त में इसकी कोई व्याख्या नहीं मिलती; केवल इतना ही कथन मिलता है: 'धाता सर्वस्य विधाता' (११. १०)।

स्तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति यद्वा तूर्णं क्षरत्यसौ ।
अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यर्षिस् तार्क्ष्यं तेनैवमुक्तवान् ॥ ५८ ॥

वह विस्तीर्ण[1] अन्तरिक्ष में निवास करते, अथवा उसमें तीव्र गति से क्षरित होते हैं; अतः अरिष्टनेमि तार्क्ष्य[2] ऋषि ने उन्हें 'तार्क्ष्य' (२४) के रूप में व्यक्त किया है।

[1] निरुक्त १० २७: 'तार्क्ष्यम् त्वष्ट्रा व्याख्यातं' (देखिये ८. १२: त्वष्टा तूर्णम् अश्नुत इति नैरुक्ताः): 'तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति तूर्णम् अर्थं रक्षत्यश्नोतेर् वा।' तु० की० नीचे ३. १६ में दी हुई 'त्वष्टृ' की व्युत्पत्ति भी।

[2] ऋग्वेद १. १७८ का प्रसिद्ध प्रणेता (आर्षानुक्रमणी १०. ९१), इस सूक्त के प्रथम मन्त्र पर निरुक्त १०. २८ में टिप्पणी की गई है।

२१—पुरुरवस्, मृत्यु। सूर्य के नाम: सवितृ, भग

स्वनन्व्योम्न्युदयं याति कृन्तत्राद्विसृजन्नपः ।
पुरूरवसमाहैनं स्ववाक्येनोरुवासिनी ॥ ५९ ॥

आकाश में गर्जन के साथ वह सूर्योदय की ओर अग्रसर होते हुये विदीर्ण गर्त से वर्षा करते हैं;[1] अतः उरुवासिनी[2] (अर्थात उर्वशी) उन्हें अपने शब्दों[3] में 'पुरूरवस्'[4] (२५) कहती हैं।

[1] तु० वा० ऊपर १. ९३।
[2] यहाँ यह 'उर्वशी' का ही एक व्युत्पन्न रूप है, किन्तु यह यास्क द्वारा निरुक्त ५ १३ में दी हुई नामों व्युत्पत्तियों से भिन्न है।
[3] ऋग्वेद १० ९५, ७ में, (इस पर यास्क ने निरुक्त १० ४७ में टिप्पणी की है।)
[4] तु० की० निरुक्त १० ४६, 'पुरूरवा बहुधा रोरूयते।'

यत्तु प्रच्यावयन्नेति घोषेण महता मृतम्।
तेन मृत्युमिमं सन्तं स्तौति मृत्युरिति स्वयम् ॥ ६० ॥
नाम्ना संकुसुको नाम यमपुत्रो जघन्यजः।
संवर्तयंस्तमः सूर्याद् उषसं च प्रवर्तयन् ॥ ६१ ॥

यत. वह अत्यधिक घोष के साथ मृतक[1] को ले आते हैं, अतः संकुसुक[2] नामक यम के सबसे छोटे पुत्र स्वयं 'मृत्यु'[3] (२९) के रूप में उनकी स्तुति करते हैं।

सूर्य से अन्धकार को हटाते और उषा को प्रकट करते हुये,

[1] निरुक्त ११ ७ पर शतबलाक्ष मौद्गल्य का व्याख्या (मृत्युर् मारयतीति सतो, मृतं च्यावयतीति वा शतबलाक्षो मौद्गल्यः।)
[2] ऋग्वेद १० १८ का प्रणेता (इसके प्रथम मन्त्र का यास्क ने निरुक्त ११ ७ में उद्धरण किया है)। तु० का० आर्षानुक्रमणी १० ८, और ऋग्वेद १० १८ पर सर्वानुक्रमणी।
[3] इन नामों में से तेरह तो नैघण्टुक ५ ४ में, और तीन (अदिति, धातृ, मृत्यु) ५ ५ में आते हैं। इनमें से अधिकांश की निरुक्त १० में व्याख्या का गई है।

दिवाकरं प्रसौत्येकः सविता तेन कर्मणा।
उदितो भासयंल्लोकान् इमांश्चैष स्वरश्मिभिः।
स्वयं वसिष्ठस्तेनैनम् ऋषिराह स्तुवन्भगम् ॥ ६२ ॥

अकेले वही दिन के तारे को अग्रसर[1] करते हैं: इस कर्म के कारण उन्हें 'सवितृ' (१) कहते हैं। और यतः वह अपनी रश्मियों से इन लोकों को भासमान करते हुये उदित हुये, अतः स्वयं वसिष्ठ[2] स्तुति करते हुये उन्हें 'भग'[3] (२) कहते हैं।

[1] तु० की० निरुक्त १० ३१ 'सविता सर्वस्य प्रसविता।' सूर्य के सात नामों की गणना इसी श्लोक से आरम्भ होती है।
[2] ऋग्वेद ७. ४१, २ के प्रणेता (इस पर निरुक्त १२. १४ में टिप्पणी का गई है।)
[3] तु० की० निरुक्त ३ १६ 'रात्रेर् जरयिता स एव भासाम्।'

१२–पूषन्, विष्णु, केशिन्, विश्वानर, वृषाकपि

पुष्यन् क्षितिं पोषयति प्रणुदन् रश्मिभिस्तमः।
तेनैनमस्तौत्पूषेति भरद्वाजस्तु पञ्चभिः॥ ६३॥

पोषण करते हुये वह पृथिवी की जीवन-वृद्धि, और रश्मियों[1] से अन्धकार को विसर्जित करते हैं; अतः भरद्वाज ने उनकी पाँच सूक्तों[2] में 'पूषन्' (३) के रूप में स्तुति की।

[1] तु० की० निरुक्त १२. १६: 'यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति।'

[2] ऋग्वेद ६ ५३–५६ और ५८। इस बाद की सूक्त के प्रथम मन्त्र पर यास्क ने निरुक्त १२ १७ में टिप्पणी की है। तु० की० नीचे ५. ११८।

त्रीणि भान्ति रजांस्यस्य यत्पदानि तु तेजसा।
तेन मेधातिथिः प्राह विष्णुमेनं त्रिविक्रमम्॥ ६४॥

यतः तीनों क्षेत्र उन्हीं के पादों के रूप में प्रकाशमान होते हैं, अतः मेधातिथि[1] उन्हें तीन पाद-प्रक्षेप करनेवाला 'विष्णु' (४) कहते हैं।

[1] ऋग्वेद १. २२, १७, जिस पर यास्क ने निरुक्त १२. १९ में टिप्पणी की है। ऋग्वेद के इस मूल स्थल के 'त्रेधा निदधे पदम्' शब्दों की व्याख्या करते हुये यास्क ने शाकपूणि के इस मत का उद्धरण दिया है कि इनसे तीन लोकों (पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि) का तात्पर्य है। बृहद्देवता के प्रस्तुत श्लोक में भी इसी मत का अनुसरण किया गया है।

कृत्वा सायं पृथग्याति भूतेभ्यस्तमसोऽत्यये।
प्रकाशं किरणैः कुर्वंस् तेनैनं केशिनं विदुः॥ ६५॥

यतः अल्पकालिक पृथक्-निवास के पश्चात् अन्धकार के प्रस्थान के समय वह अपनी रश्मियों से जीवों के लिये प्रकाश[1] उत्पन्न करते हैं, अतः ऋषिगण उन्हें 'केशिन्' (५) कहते हैं।

[1] तु० की० निरुक्त १२. २५: 'केशी, केशा रश्मयस्, तैस् तद्वान् भवति, काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा।' तु० की० ऊपर १. ९४ भी।

संमत्यैकैकशस्त्वेनं यन्मन्यन्ते पृथङ्नराः।
विश्वे विश्वानरस्तेन कर्मणा स्तुतिषु स्तुतः॥ ६६॥

यतः सभी मनुष्य अपने अपने मत के अनुसार, और पृथक्-पृथक्, उनके सम्बन्ध में ही विचार[1] करते हैं, अतः इस कार्य के कारण उनकी 'विश्वानर' (६) के नाम से स्तुति की जाती है।

[1] यास्क की व्याख्या में 'मन्' नहीं वरन 'नी' क्रिया का प्रयोग हुआ है: 'विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा' (निरुक्त ७. २१।)

वृषैष कपिलो भूत्वा यन्नाकमधिरोहति।
वृषाकपिरसौ तेन विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।
रश्मिभिः कम्पयन्नेति वृषा वर्षिष्ठ एव सः॥ ६७॥
सायाह्नकाले भूतानि स्वापयन्नस्तमेति यत्।
वृषाकपिरितो वा स्यादू इति मन्त्रेषु दृश्यते॥ ६८॥
त्रिषु धन्वेति ह्येन्द्रेण प्रयुक्तो वारिपाकपे।

यत एक कपिल वृषभ[1] का रूप धारण करके यह आकाश में ऊपर चढ़ते हैं, अत 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तर'[2] (ऋग्वेद १० ८६, २) ऋचा में यह 'वृषाकपि' (७) हैं, (अथवा) यह उत्तम वृषभ अपनी रश्मियों[3] से कम्पित करते हुये जाते हैं, क्योंकि यह सन्ध्या-समय प्राणियों को प्रसुप्त[4] करते हुये अपने गृह को जाते हैं, इस कारण इनका 'वृषाकपि' नाम इस कर्म से भी व्युत्पन्न हुआ हो सकता है। वृषाकपि सूक्त[5] की 'धन्व' से आरम्भ होनेवाली तीन ऋचाओं (ऋग्वेद० १० ८६, २०-२२) में इन्द्र ने इनकी इसी प्रकार स्तुति की है।

[1] तु० का० नीचे ७ १४१।

[2] ऋग्वेद १० ८६ सूक्त के इकामर्थे मन्त्र पर यास्क ने निरुक्त १२ २८ में टिप्पणी की है।

[3] यह दूसरा व्युत्पत्ति यास्क के निरुक्त १२ २७ (यद् रश्मिभिर् अभिप्रकम्पयन्न् एति तद् वृषाकपिर् भवति वृषाकम्पन) पर आधारित है।

[4] इससे 'रश्मिभि कम्पयन्न एति' की व्याख्या की गई है।

[5] श्लोक में छन्द की आवश्यकता के कारण ही कदाचित 'वार्षाकप' के स्थान पर 'वारिपाकप' का प्रयोग किया गया है।

१३-विष्णु की व्युत्पत्ति। नैपातिक नामों की गणना नहीं कराई जा सकती

विष्णातेर्विशतेर्वा स्याद् वेवेष्टेर्व्याप्तिकर्मणः।
विष्णुर्निरुच्यते सूर्यः सर्वं सर्वान्तरश्च यः॥ ६९॥

व्याप्ति को व्यक्त करते हुये 'विष्णु' नाम 'विष' (विष्णाति) अथवा 'विश्' (विशति) अथवा 'वेविष्' (वेवेष्टि)[2] (धातु) से व्युत्पन्न हुआ है, अत विष्णु की उस सूर्य के रूप में व्याख्या की गई है जो सब कुछ[3] और सब में व्याप्त है।

[1] ऊपर ६४ वें श्लोक में न दी गई होने के कारण विष्णु की व्युत्पत्ति को यहाँ सूर्य के नामों की तालिका के अन्त में दिया गया है।

[1] तु० की० निरुक्त १२. १८ : 'अथ यद् विषितो भवति तद् विष्णुर् भवति, विष्णुर् विशतेर् वा व्यश्नोतेर् वा।'

[3] तु० की० नीचे २. १५८।

पञ्च षड्विंशतिश्चैव यानि नामानि सप्त च।
सम्यगग्नीन्द्रसूर्याणां तान्युक्तानि यथाक्रमम् ॥ ७० ॥

इस प्रकार अग्नि के पाँच, इन्द्र के छब्बीस, और सूर्य[1] के सात नामों का यथाक्रम वर्णन किया गया।

[1] तु० की० ऊपर २. ६२।

नैपातिकानां नाम्नां तु प्रागुक्तैर्नामलक्षणैः।
संपन्नानां पृथक्त्वेन परिसंख्या न विद्यते ॥ ७१ ॥

किन्तु उक्त[1] नामगत लक्षणों के साथ-साथ आनेवाले नैपातिक नामों[2] की पृथक् गणना विद्यमान नहीं है।

[1] ऊपर १. ८६-८८।

[2] अर्थात् उदाहरण के लिये 'वृत्रहन्' जैसी उपाधियों की, जो नियमित नामों (जैसे 'इन्द्र') के साथ आती हैं, गणना नहीं कराई जा सकती। तु० की० निरुक्त ७. १३ : 'अभिधाने' मयुज्य हविर् चोदयतीन्द्राय वृत्रघ्न इन्द्राय वृत्रतुर इन्द्रायांहोमुच इति, तान्य् अप्य् एके समामनन्ति, भूयांसि तु समाम्नानात्।' तु० की० नीचे २. ९३ भी।

१४-त्रिविध-वाच् : उसके पार्थिव और मध्यम रूप

पार्थिवी मध्यमा दिव्या वागपि त्रिविधा तु या।
तस्याः सूक्तानि नामानि यथास्थानं निबोधत ॥७२॥

'वाच्' के भी, जो पार्थिव, मध्यम और दिव्य रूपों में त्रिविध है, स्थानानुसार नामों और सूक्तों (के विवरण) को सुनें।

कृत्स्नं तु भजते सूक्तम् एषा नद्य स्तुता भुवि।
यदा चैनं भजन्त्यापो यदा चौषधयो यदा ॥ ७३ ॥

ऐसे सभी सूक्तों को जिनमें पृथिवी के नदियों की, जलों, और पौधों[1] की, स्तुति हो, सम्पूर्णतः इसके ही सूक्त जानना चाहिये।

[1] नदियों, जलों, पौधों का यहाँ उसी क्रम से उल्लेख है जो नैघण्टुक ५. ३ और ऊपर १. ११२ में मिलता है।

अरण्यानी च रात्री च श्रद्धा चोषाः सरस्वती ।
पृथिवी चैव नामैषा भूत्वाप्यर्चं भजन्ति च ॥ ७४ ॥

और जब यह अरण्यानी और रात्री, श्रद्धा, उषस्, तथा पृथिवी नाम से, और आप्त्या के रूप में आती है, तो भी (इन विविध नामों से) इसकी ही स्तुति होती है।

[1] देखिये नीचे श्लोक ७५ पर प्रथम टिप्पणी।

अग्नायी नामतोऽप्येषा भूत्वाग्नेयेषु केषुचित् ।
स्तुता निपातमात्रेण तत्र तत्रेह दृश्यते ॥ ७५ ॥

और जब यह अग्नायी बन जाती है तो (ऋग्वेद के) विभिन्न स्थलों पर अग्नि को सम्बोधित सूक्तों में इसकी केवल नैपातिक स्तुति ही होती है।

[1] देवियों के उपरोक्त ग्यारह नामों में से नौ जो नैघण्टुक ५ ३ (जिसमें अग्नायी नहीं है) की पार्थिव देवियों की सूची के ही समान हैं और उषस् तथा सरस्वती को नैघण्टुक (५) की अन्तरिक्ष देवियों की सूची से लिया गया है। देवियों की यह सूची ऊपर १ ११२ की स्त्री देवियों की सूची के समान है (जहाँ इन्हें पार्थिव अग्नि के साथ सम्बद्ध किया गया है) किन्तु अन्तर केवल इतना है कि उक्त स्थल की 'इळा' के स्थान पर यहाँ 'उषस्' और 'सरस्वती' को सम्मिलित कर लिया गया है।

मध्ये सत्यदितिर्वाक् च भूत्वा चैषा सरस्वती ।
समग्रं भजते सूक्तं त्रिभिरेव तु नामभिः ॥ ७६ ॥

जब मध्यम स्थान के 'वाच्' के रूप में यह अदिति और सरस्वती बन जाती है, तब भी केवल अपने तीन नामों से यही सम्पूर्ण सूक्त की 'भागिनी' होती है।[2]

[1] श्लोक ७६ से लेकर ७८ वें श्लोक तक मध्यम वाच के जिन उन्तालीस नामों की गणना कराई गई है उनमें से 'रोमशा' (और दुर्गा) को छोड़कर अन्य सभी नैघण्टुक ५ ५ (मध्य-स्थानीय देवियाँ) में मिलते हैं, और देवपत्न्य को नैघण्टुक ५ ६ (दिव्य देवियाँ) से लिया गया है जब कि नैघण्टुक ५ ५ की चार देवियों के नाम (पृथिवी, गौरी, उषस्, और इळा) को छोड़ दिया गया है। यह सभी अधिकांशतः ऊपर (१ १२८ १२९) वर्णित इन्द्र से सम्बन्धित देवियों के ही समान हैं।

[2] अर्थात् मध्य-स्थानीय 'वाच्' केवल इन्हीं तीन नामों से 'सूक्तभाक्' है, जब कि अन्य नामों से, जो नैपातिक हैं, यह केवल 'ऋग्भाक्' मात्र ही होती है।

१५–वाच् के अन्य मध्य-स्थानीय रूप; इसके चार दिव्य रूप

एषैव दुर्गा भूत्वर्चं कृत्वा स्यात्सूक्तभागिनी ।
तन्नामानि यमीन्द्राणी सरमा रोमशोर्वशी ।
भवत्यग्र्या सिनीवाली राका चानुमतिः कुहूः ॥ ७७ ॥

[दुर्गा बन कर और एक ऋचा का उच्चारण करते हुये यह (सम्पूर्ण) सूक्त की भागिनी होती है][1] । इसके अन्य नाम यमी, इन्द्राणी, सरमा, रोमशा,[2] उर्वशी हैं; यह सर्वप्रथम[3] सिनीवाली और राका, अनुमति, तथा कुहू, बनती है;

[1] इसमें सन्देह नहीं कि यह पंक्ति प्रक्षिप्त है, क्योंकि वैदिक देवी न होने के कारण 'दुर्गा' का नैघण्टुक में उल्लेख नहीं है।

[2] उपरोक्त नामों में से केवल यही एक ऐसा है जो नैघण्टुक ५. ५. ६ में नहीं आता। तु० की० ऊपर ७६वें श्लोक की टिप्पणी।

[3] इससे कदाचित यह तात्पर्य है कि नैघण्टुक ५. ५ में अनुमति, राका, सिनीवाली, और कुहू का वर्ग यमी, उर्वशी, पृथिवी, और इन्द्राणी के पहले आता है।

गौर्धेनुर्देवपत्न्योऽघ्न्या पथ्या स्वस्तिश्च रोदसी ।
नैपातिकानि ऋग्भाञ्जि येषां नामानि कानिचित् ॥ ७८ ॥

और इसके बाद गो, धेनु, देवों की पत्नियाँ, अघ्न्या, पथ्या, स्वस्ति, तथा रोदसी। जिस देवता[1] का नाम नैपातिक[2] रूप से आता है वह केवल उस ऋचा विशेष का ही भागी होता है।

[1] यहाँ 'येषां' का सामान्य प्रयोग हुआ है अतः इससे केवल इन पंक्तियों में वर्णित देवियों मात्र का आशय नहीं है।

[2] अर्थात् मध्यम-वाच् के नैपातिक नाम (७४, ७५ वें श्लोक में वर्णित इसके पार्थिव रूपों के ही समान) केवल 'ऋग्भाज्' मात्र होते हैं, 'सूक्तभाज्' नहीं, जैसे कि ७६ वें श्लोक (तथा ७३ वें और ७९ वें) के इसके नाम हैं।

यदा तु वाग्भवत्येषा सूर्यामुं लोकमाश्रिता ।
तथा सूक्तमुषा भूत्वा सूर्या च भजतेऽखिलम् ॥ ७९ ॥

किन्तु जब यह वाच् 'सूर्या' बन जाती है तो यह दिव्य लोकगत हो जाती है; अतः उषस्, और साथ ही साथ सूर्या के रूप में यह सम्पूर्ण सूक्त की भागिनी होती है।[1]

[1] यह दिव्य वाच् के प्रधान नाम हैं, इसी कारण सूर्या को एक (ऋग्वे० १०. ८५) तथा उषस् को अनेक सम्पूर्ण सूक्त समर्पित हैं।

वृषाकपाय्यृचं भूत्वा सरण्यूर्द्धे च ते ध्रुवम् ।
निपातमात्रं भजते द्युवच्च पृथिवी सती ॥ ८० ॥

और जब यह वृषाकपायी (और) सरण्यू[1] बन जाती है तो यह दोनों रूपों में निःसन्देह ऋचा[2] की ही भागिनी होती है। जब यह द्युवत्[3] और पृथिवी होती है तो यह केवल नैपातिक[4] रूप में ही किसी ऋचा की भागिनी होती है।

[1] उपर्युक्त सूर्या, वृषाकपायी और सरण्यू का, साथ साथ और इसी क्रम से दिव्य क्षेत्र की देवियों के रूप में नैघण्टुक ५ ६ में उल्लेख है।

[2] वृषाकपायी और सरण्यू का ऋग्वेद (क्रमशः १० ८६, १३ और १० १७, २) में केवल एक एक बार ही उल्लेख है।

[3] अर्थात् दिव्य स्थानीय होने के रूप में, क्योंकि पृथिवी का नैघण्टुक ५ ३, ५, ६, में तीनों ही स्थानों में से प्रत्येक के अन्तर्गत उल्लेख है।

[4] पृथिवी को केवल एक ही सम्पूर्ण (तीन ऋचाओं के) सूक्त (ऋग्वे० ५ ८४) में सम्बोधित किया गया है, जहाँ इसे नीचे (५ ८८ में) 'मध्यमा' कहा गया है। किन्तु ऊपर २ ७४, ७६, ८०, के अनुसार पृथिवी का कोई भी रूप 'सूक्तभाक्' नहीं है।

सूर्यामेव सतीमेतां गौरीं वाचं सरस्वतीम् ।
पश्यामो वैश्वदेवेषु निपातेनैव केवलाः ॥ ८१ ॥

हम देखते हैं कि जब यह वाच् सूर्या, गौरी[1] और सरस्वती होती है तो इसके यह नाम केवल विश्वेदेवों की स्तुति करनेवाले सूक्तों में केवल नैपातिक रूप से ही आते हैं।

[1] मध्य-स्थान (नैघण्टुक ५ ५) की एक देवी जिसको ऊपर (७७ वें और ७८ वें श्लोक में) की गणनाओं में छोड़ दिया गया है। निरुक्त ११ ४०, ४१, में ऋग्वेद १ १६४, ४१-४२, को 'गौरी' के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है।

१६–स्त्री द्रष्टियों के नाम - तीन वर्ग

घोषा गोधा विश्ववारा अपालोपनिषन्निषत् ।
ब्रह्मजाया जहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वसादितिः ॥ ८२ ॥
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी ।
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शश्वती ॥ ८३ ॥

श्रीर्लाक्षा सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा ।
रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः ॥ ८४ ॥

घोषा[१], गोधा[२], विश्ववारा[३], अपाला[४], उपनिषद्, निषद्[५], ब्रह्मजाया जिसका नाम जुहू[६] है, अगस्त्य की भगिनी[७], अदिति[८], इन्द्राणी[९] और इन्द्र की माता[१०], सरमा[११], रोमशा[१२], उर्वशी[१३] और लोपामुद्रा[१४] और नदियाँ[१५], यमी[१६] तथा पत्नी शश्वती[१७], श्री[१८], लाक्षा[१९], सार्पराज्ञी[२०], वाक्[२१], श्रद्धा[२२], मेधा[२३], दक्षिणा[२४], रात्री[२५] और सूर्या सावित्री[२६], इन सभी को ऋषि अथवा ब्रह्मवादिनी कहा गया है।[२७]

१ ऋग्वेद १० ३९, ४० ।

२ ऋग्वेद १० -१३४, ६-७ ।

३ ऋग्वेद ५ २८ ।

४ ऋग्वेद ८. ९१ ।

५ यह दोनों 'प्र धारयन्तु मधुनो घृतस्य' से आरम्भ होनेवाली सात ऋचाओं के खिल की द्रष्टियाँ हैं जिनका कश्मीर की खिलों की पाण्डुलिपि में इस प्रकार वर्णन है : 'प्र', सप्त, ब्राह्मयो [अर्थात् ब्राह्म्यौ = ब्रह्मवादिन्यौ] निषदुपनिषदौ'।

६ ऋग्वेद १०, १०९ की ऋषि जुहू ब्रह्मजाया, देखिये आर्षानुक्रमणी १०. ५१, और ऋग्वेद १० १०९ पर सर्वानुक्रमणी।

७ ऋग्वेद १० ६०, ६ की ऋषि, तु० की० आर्षानुक्रमणी १०. २४; ऋग्वेद १० ६० पर सर्वानुक्रमणी।

८ ऋग्वेद ४. १८ की कुछ ऋचाओं की ऋषि।

९ ऋग्वेद १०. ८६ (की अनेक ऋचायें) और १४५।

१० 'इन्द्रमातरः' जो ऋग्वेद १०. १५३ में ऋषि बताया गया है; आर्षानुक्रमणी १०. ७९।

११ ऋग्वेद १०. १०८ की अनेक ऋचाओं में।

१२ ऋग्वेद १. १२६, ७।

१३ ऋग्वेद १०. ९५ की अनेक ऋचाओं में।

१४ ऋग्वेद १. १७९, १ २।

१५ ऋग्वेद ३. ३३ की कुछ ऋचाओं में।

१६ अर्थात् ऋग्वेद १० १० और १५४ में 'यमी वैवस्वती'।

१७ ८. १, ३४; तु० की० ऋग्वेद ८. १, पर सर्वानुक्रमणी, और नीचे ६. ४०।

१८ ऋग्वेद ५ ८७ के बाद के खिल या श्रीसूक्त की ऋषि।

१९ खिल की ऋषि; तु० की० नीचे ८. ५१।

२० ऋग्वेद १०. ८९।

२१ ऋग्वेद १०. १२५।

२२ ऋग्वेद १० १५१।

२३ ऋग्वेद १०. १५१ के बाद के खिल, या मेधासूक्त की ऋषि।

२४ ऋग्वेद १०. १०७।

२५ ऋग्वेद १० १२७।

२६ ऋग्वेद १० ८५।

२७ यह तीनों श्लोक (८२-८४) आर्षानुक्रमणी (१०. १००-१०२) के समान हैं।

नवकः प्रथमस्त्वासां वर्गस्तुष्टाव देवताः ।
ऋषिभिर्देवताभिश्च समूदे मध्यमो गणः ॥ ८५ ॥

इन ऋषियों में से नौ[1] के प्रथम वर्ग ने देवताओं की स्तुति की, बीच के वर्ग[2] ने ऋषियों तथा देवताओं से वार्तालाप किया ।

[1] अर्थात् जिनकी ऊपर २.८० में गणना कराई गई है।
[2] वह नौ जिनकी ऊपर २.८३ में गणना कराई गई है।

आत्मनो भाववृत्तानि जगौ वर्गस्तथोत्तमः ।
उत्तमस्य तु वर्गस्य य ऋषिः सैव देवता ॥ ८६ ॥

इनके अन्तिम वर्ग ने आत्मा[1] की 'भाववृत्ति'[2] का गायन किया । इस अन्तिम वर्ग में से (किसी एक द्वारा रचित सूक्त का) जो ऋषि है वह स्वयं देवता भी[3] है ।

[1] 'भाववृत्ति' की परिभाषा के लिये देखिये नीचे ८.१० ।
[2] सर्वानुक्रमणी के अनुसार 'सर्पराज्ञी' (ऋग्वेद० १०.१८९ 'आत्मदैवतम्'), 'वाच्' (ऋग्वेद० १०.१२५ 'आत्मदैवतम्'), 'श्रद्धा' (ऋग्वेद० १०.१५१), 'दक्षिणा' (ऋग्वेद० १०.१०७) 'रात्रि' (ऋग्वेद० १०.१२७) 'सूर्या सावित्री' (ऋग्वेद० १०.८५ 'आत्मदैवतम्') आदि की रचना में ऋषि तथा देवता दोनों एक ही हैं। अन्य तीन (श्रद्धा, दक्षिणा और मेधा) जिनमें ऋषि तथा देवता हैं ।
[3] क्योंकि स्तुति का विषय 'आत्मा' है ।

१७-आत्म-स्तुतियों तथा संवाद वाक्यों के देवता, निपात

आत्मानमस्तौद्वर्गस्तु देवतां यस्तथोत्तमः ।
तस्मादात्मस्तवेषु स्याद् य ऋषिः सैव देवता ॥ ८७ ॥

इस प्रकार इस अन्तिम वर्ग के प्रत्येक ने देवता के रूप में अपनी स्तुति की है, अतः इस आत्म स्तुति में जो ऋषि है वह साथ ही साथ देवी भी है ।

संवादेष्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन्भवेदृषिः ।
यस्तेनोच्येत वाक्येन देवता तत्र सा भवेत् ॥ ८८ ॥

जो वाक्यों का संवाद के रूप में उच्चारण करता है, उसे ही उसमें

(संवाद-वाक्य मे) ऋषि[1], और उस संवाद-वाक्य द्वारा जो सम्बोधित हो उसे ही उसमें देवता मानना चाहिये ।[2]

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी - 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' ।
[2] तु० की० वही : 'या तेनोच्यते सा देवता', और देखिये ऋग्वेद १. १६५ पर षड्गुरुशिष्य की वेदार्थदीपिका ।

उच्चावचेषु चार्थेषु निपाताः समुदाहृताः ।
कर्मोपसंग्रहार्थे च क्वचिच्चौपम्यकारणात् ॥ ८९ ॥

'निपातों' की विभिन्न आशयों में—सम्बद्धात्मक क्रियाओं के उद्देश्य से, और अवसर उपमा के उद्देश्य से—गणना कराई गई है ।[1]

[1] तु० की० निरुक्त १. ४ : 'अथ निपाता उच्चावचेष्व् अर्थेषु निपतन्त्य् अप्य् उपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थे ।'

ऊनानां पूरणार्था वा पादानामपरे क्वचित् ।
मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु पूरणार्थास्त्वनर्थकाः ॥ ९० ॥

पुनः अन्य का दोषपूर्ण पादों को पूर्ण[1] करने के लिये प्रयोग किया जाता है । ऐसे निपात, जिनका छन्दात्मक स्थलों पर केवल पादों की दोषपूर्ति मात्र की दृष्टि से प्रयोग किया जाता है वह निरर्थक होते हैं :[2]

[1] तु० की० निरुक्त १. ४ : 'अथ निपाताः······अपि पदपूरणाः' ।
[2] निरुक्त १. ९ पर आधारित : 'अथ ये प्रवृत्तेऽर्थेऽमिताक्षरेषु ग्रन्थेषु वाक्यपूरणा आगच्छन्ति, पदपूरणास् ते मिताक्षरेष्व् अनर्थकाः कम् ईम् इद् व् इति ।' इनके उदाहरण निरुक्त १. १० में उद्धृत हैं । तु० की० ऋग्वेद प्रातिशाख्य १२. ९, और वाजसनेयि संहिता प्रातिशाख्य २. १६ ।

कमीमिद्विति विज्ञेया ये त्वनेकार्थकाश्च ते ।
इव न चिन्नु चत्वार उपमार्था भवन्ति ते ॥ ९१ ॥

ऐसे निपातों के अन्तर्गत 'कम्', 'ईम्', 'इद्', 'व्' आते हैं ।[1] किन्तु निपात ऐसे भी होते हैं जिनके विभिन्न आशय होते हैं । 'इव', 'न', 'चिद्', 'नु', यह चार ऐसे हैं जिनका उपमार्थक आशय है ।[2]

[1] निरुक्त १. ९ ।
[2] निरुक्त १. ४ : 'एते चत्वार उपमार्थे भवन्तीति' ।

उपमार्थे नकारस्तु क्वचिदेव निपात्यते ।
मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु प्रतिषेधे त्वनल्पशः ॥ ९२ ॥

छान्दोमक ग्रन्थों में निपात के रूप में 'न' उपमार्थक आशय में केवल कभी कभी ही, किन्तु 'नकारात्मक' आशय में बहुधा प्रयुक्त होता है।[1]

[1] तु० का० निरुक्त १ ४ 'नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्, उभयम् अन्वध्याय प्रतिषेधार्थीय उपमार्थीय।'

इयन्त इति संख्यानं निपातानां न विद्यते।
वशात्प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे पदे ॥ ९३ ॥

निपात कितने हैं इसकी ठीक ठीक गणना विद्यमान नहीं।[1] प्रकरण के अनुसार निपातों का पद पद पर प्रयोग होता है।[2]

[1] ऋग्वेद प्रातिशाख्य १२ ९ में भी इयत्ता शब्दों (नेयत्ता इत्य अस्ति संख्या) का प्रयोग है किन्तु वाजसनेयि संहिता प्रातिशाख्य (२ १६ और ८ ५७) में इनकी संख्या चौदह गिनाई गई है। फिर भी, यास्क, निरुक्त १ ४ और बाद, में चालीस का उल्लेख करते हैं, जिसके अन्तर्गत वाजसनेयि संहिता प्रातिशाख्य में उल्लिखित संख्या में से पाँच नहीं आते।

[2] तु० का० ऋग्वेद प्रातिशाख्य १२ ९ (अर्थवशात्)। देखिये हेमचन्द्र अभिधान चिन्तामणि।

१८—उपसर्ग, लिङ्ग

उपसर्गास्तु विज्ञेयाः क्रियायोगेन विंशतिः।
विवेचयन्ति ते ह्यर्थं नामाख्यातविभक्तिषु ॥ ९४ ॥

क्रिया के योग[1] से उपसर्गों की संख्या बीस[2] जाननी चाहिये, यह (उपसर्ग) संज्ञा और क्रिया (आख्यात)[3] की विभक्तियों में अर्थ भेद[4] उत्पन्न कर देते हैं।

[1] तु० की० पाणिनि १ ४, ५९ 'उपसर्गाः क्रियायोगे।'

[2] ऋग्वेद प्रातिशाख्य १२ ६, ७ में स्पष्ट रूप से इसी संख्या का उल्लेख है। निरुक्त १ ३ वाजसनेयि संहिता प्रातिशाख्य ६ २४, और 'प्रादय' गण, में भी यही संख्या मानी गई है।

[3] तु० की० निरुक्त १ ३ नामाख्यातयोर अर्थविकरणम।'

[4] तु० की० ऋग्वेद प्रातिशाख्य १२ ८ 'उपसर्गो विशेषकृत्।'

अच्छ श्रदन्तरित्येतान् आचार्यः शाकटायनः।
उपसर्गान् क्रियायोगान् मेने ते तु त्रयोऽधिकाः ॥९५॥

'अच्छ', 'श्रद्', 'अन्तर'—इन्हें आचार्य शाकटायन ने क्रिया के साथ योग के कारण उपसर्ग माना है, इनके अन्तर्गत तीन और आते हैं।

[1] 'अलम्', 'अन्तर्' और 'अच्छ' पाणिनि १. ४, ६४. ६५. ६९. में 'गतियाँ' हैं। पाणिनि १. ४, ५०, के वार्त्तिककार ने उपसर्गों की तालिका में 'श्रद्' भी सम्मिलित कर दिया है।

त्रीण्येव लोके लिङ्गानि पुमान् स्त्री च नपुंसकम् ।
नामसूक्तप्रयोगेषु वाच्यं प्रकरणं तथा ॥ ९६ ॥

लोक-प्रचलित लिङ्गों की संख्या तीन है, यथा : पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और क्लीबलिङ्ग ।[1] संज्ञा, जिसका प्रयोग बताया जा चुका है[2], के प्रकरण का इस प्रकार वर्णन किया जाना चाहिये ।[3]

[1] तु० का० ऊपर १. ४० ।

[2] इससे सम्भवतः ऊपर १. ४३-४५ का तात्पर्य है ।

[3] अर्थात् लिङ्ग के सम्बन्ध में ।

१९–संज्ञा, सर्वनाम, आशय; अन्वय

तेषां तु नामभिर्लिङ्गैर् ग्रहणं सर्वनामभिः ।
कृताकृतस्य सदृशो गृहीतस्य पुनर्ग्रहः ॥ ९७ ॥

इन नामों का न केवल संज्ञाओं के ही, वरन् लिङ्ग के माध्यम से भी उल्लेख होता है । सर्वनामों के द्वारा किसी पूर्वोल्लिखित संज्ञा का, और इसी प्रकार किसी कृत अथवा अकृत कार्य का बार-बार उल्लेख किया जाता है ।

पादसूक्तऋगर्धर्चनामान्यन्यानि यानि च ।
सर्वे नामानि चैवाहुर् अन्ये चैवं यथा कथा[1] ॥ ९८ ॥

सभी (आचार्य) यह कहते है कि श्लोकों, सूक्तों, ऋचाओं, अर्ध-ऋचाओं में, और अन्यत्र भी कहीं आनेवाले नाम, संज्ञा होते हैं; कुछ लोग परिस्थिति के अनुसार भी इन्हें ऐसा कहते हैं ।

[1] क्रियाविशेषण 'कथा' का कुछ प्राचीन सा प्रयोग हुआ है, तु० की० निरुक्त ८. २ और १०. २६ में 'यथा कथा च' ।

प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुणायत्त इष्यते ।
तस्मान्नानान्वयोपायैः शब्दानर्थवशं नयेत् ॥ ९९ ॥

आशय ही प्रधान होता है;[1] क्योंकि किसी शब्द को आशय[2] के गुणों पर निर्भर रहना पड़ता है; अतः अन्वय के विविध उपायों द्वारा हमें शब्दों को आशय के अन्तर्गत लाना चाहिये ।

[1] तु० की० निरुक्त २. १. 'अर्थनित्य. परीक्षेत'।

[2] यहाँ श्लोक में 'तद्' से 'अर्थ.' का ही सन्दर्भ होना 'सन्नमन् अर्थवश नयेत' द्वारा स्पष्ट है।

अतिरिक्तं पदं त्याज्यं हीनं वाक्ये निवेशयेत्।
विप्रकृष्टं च संदध्याद् आनुपूर्वीं च कल्पयेत् ॥१००॥

अतिरिक्त पदों का त्याग, जब कि अनुपस्थित पद का वाक्य में समावेश करना चाहिये; और ऐसा शब्द जो बहुत दूर हो उसे सन्निकट लाना, तथा उसके बाद शब्दों के क्रम को यथोचित रूप से व्यवस्थित करना चाहिये।

लिङ्गं धातुं विभक्तिं च संनमेत्तत्र तत्र च।
यद्यत्स्याच्छान्दसं मन्त्रे तत्तत्कुर्यात्तु लौकिकम् ॥१०१॥

लिङ्ग, धातु और विभक्ति को उनके अपने अपने स्थान पर ही (आशय के अनुकूल) ग्रहण[1] करना चाहिये। किसी भी मन्त्र में जो कुछ भी वैदिक हो उसे लौकिक[2] बना लेना चाहिये।

[1] तु० की० निरुक्त २. १ 'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत'।

[2] तु० की० ऊपर १. ४ और २३।

२०–शब्दों का विग्रह: समास के छः प्रकार

यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयः स्यात् तावद्भिर्गुणविग्रहः ॥१०२॥

रूढिगत विशिष्ट गुणों से युक्त, और जिनसे आशय को व्यक्त किया जा सकता है, उन धातुओं की सहायता से गुणों का विग्रह करना चाहिये।

[1] 'धातु' से यहाँ प्रकृति' अथवा 'प्रधान' रूप का तात्पर्य है, तु० की० नीचे २. १०८, और ५. ९६।

धातूपसर्गावयवगुणशब्दं द्विधातुजम्।
बह्वेकधातुजं वापि पदं निर्वाच्यलक्षणम् ॥ १०३ ॥

दो धातुओं, अनेक धातुओं, अथवा एक धातु से ही व्युत्पन्न पद ऐसी ध्वनि (शब्द) से युक्त होता है जिसमें धातु, उपसर्ग अवयव और गुण वर्तमान होते हैं।

धातुजं धातुजाज्जातं समस्तार्थजमेव वा।
वाक्यजं व्यतिकीर्णं च निर्वाच्यं पञ्चधा पदम् ॥१०४॥

किसी पद की पाँच प्रकार से व्याख्या की जा सकती है, यथा : किसी धातु से व्युत्पन्न होने, किसी धातु के व्युत्पन्न रूप से व्युत्पन्न होने,[1] किसी समस्तार्थ[2] से व्युत्पन्न होने, तथा किसी वाक्य[3] से व्युत्पन्न होने के रूप में, और उसके आधार पर भी जिसकी व्युत्पत्ति व्यतिकीर्ण[4] (मिश्रित, अस्तव्यस्त) हो।

[1] नीचे (१०६ वें श्लोक में) और निरुक्त २. २, के 'तद्धित' के समान।

[2] अर्थात् एक 'समासान्त' प्रत्यय सहित व्युत्पन्न। तु० की० 'तद्धित-समासेषु', निरुक्त २, २।

[3] जैसे उदाहरण के लिये 'इतिहास' (= इति हास)।

[4] व्यतिकीर्ण' : अर्थात् अक्षरों के हेरफेर द्वारा; तु० की० निरुक्त २. १ : 'अद्यन्त-विपर्ययः'।

द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च।
पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः ॥ १०५ ॥

द्विगु, द्वन्द्व, अव्ययीभाव और कर्मधारय, तथा पाँचवाँ बहुव्रीहि और छठवाँ तत्पुरुष, समास होता है।[1]

[1] निरुक्त २. २, पर दुर्ग ने अपने भाष्य में इस श्लोक का उद्धरण दिया है। वाजसनेयि संहिता प्रातिशाख्य (१ २७ और ५. १, पर भाष्य) में 'द्विगु' अथवा 'कर्मधारय' का उल्लेख न होने से केवल चार का ही विभेद किया गया है।

विग्रहान्निर्वचः कार्यं समासेष्वपि तद्धिते।
प्रविभज्यैव निर्ब्रूयाद् दण्डार्हो दण्ड्य इत्यपि ॥१०६॥

समस्त तथा तद्धित पदों की विग्रह के आधार पर व्याख्या करनी चाहिये : अर्थात् खण्डों को पृथक्[1] करके व्याख्या करनी चाहिये; इस प्रकार 'दण्ड्य'[2] की 'दण्डार्हो' (दण्ड के योग्य) के रूप में व्याख्या करनी चाहिये;

[1] तु० की० निरुक्त २. २ : तद्धितसमासेषु....पूर्वं पूर्वम् अपरम् अपरं प्रविभज्य निर्ब्रूयात्।

[2] तद्धित का एक उदाहरण; तु० की० निरुक्त २. २ : 'दण्ड्यः....दण्डम् अर्हति'। देखिये पाणिनि ५. १, ६६, भी।

२९—शब्दों का विग्रह और अर्थ

भार्या रूपवती चास्य रूपवद्भार्य इत्यपि।
इन्द्रश्च सोमश्चेत्येवम् इन्द्रासोमौ निदर्शनम् ॥ १०७ ॥

और 'रूपवद् भार्य' (रूपवती पत्नी) की 'रूपवती भार्या'[1] (उसकी

पत्नी रूपवती है) के रूप में व्याख्या करनी चाहिये। इसी प्रकार इन्द्र और सोम के लिये प्रयुक्त 'इन्द्रा सोमौ' द्वन्द्व का उदाहरण है।

[1] बहुव्रीहि के उदाहरण के रूप में। यास्क ने निरुक्त २ २, ३ में केवल तत्पुरुष मात्र का उदाहरण दिया है और वह भी बिना इसके नाम के उल्लेख के ही।

शब्दरूपं पदार्थश्च व्युत्पत्तिः प्रकृतिर्गुणः।
सर्वमेतदनेकार्थं दशानवगमे गुणाः ॥ १०८ ॥

शब्द के रूप, पद के अर्थ, व्युत्पत्ति, प्रकृति, गुण, इन सब के अनेक आशय होते हैं अनवगमन (मिथ्या ग्रहण) की दशा में (व्याख्या के) दस गुण होते हैं।[1]

[1] अर्थात् उक्त वर्गों के अन्तर्गत पाँच शुद्ध और पाँच अशुद्ध।

सामान्यवाचिनः शब्दा विशेषे स्थापिताः क्वचित्।
पलायने यथा धृतिः को नु मर्या इतीपते ॥१०९॥

कभी कभी सामान्य अर्थवाले शब्द किसी विशेष आशय में व्यवहृत होते हैं, इस प्रकार 'को नु मर्या' (ऋग्वेद ८ ४५, ३७) मन्त्र में 'ईपते' (जाता है) का आशय 'पलायन'[1] है।

[1] ऋग्वेद ८ ४५ ३७ में इपते शब्द की यास्क ने इस स्थल पर अपनी टिप्पणी में (निरुक्त ४ २) 'पलायते' के रूप में व्याख्या की है जब कि नैघण्टुक २ १४ में इसकी उन क्रियाओं के अन्तर्गत गणना करा दी गई है जिनका अर्थ 'जाना' है।

विशेषवाचिनस्त्वन्ये सामान्ये स्थापिताः क्वचित्।
हिमेनाग्निमिति मन्त्रे हिमशब्दो निदर्शनम् ॥११०॥

किन्तु कुछ अन्य विशेषार्थक शब्द कभी कभी सामान्य अर्थ में व्यवहृत होते हैं, 'हिमेनाग्निम्' (ऋग्वेद १ ११६, ८) मन्त्र में 'हिम'[1] शब्द इसका उदाहरण है।

[1] ऋग्वेद १ ११६, ८ पर अपनी टिप्पणी में यास्क ने (निरुक्त ६ ३६) 'हिमेन' की 'उदकेन ग्रीष्मान्ते' द्वारा व्याख्या की है तु० की० १ ११६, ८ पर सायण भी।

पदमेकं समादाय द्विधा कृत्वा निरुक्तवान्।
पूरुपादः पदं यास्को वृक्षेवृक्ष इति त्वृचि ॥ १११ ॥

'वृक्षे वृक्षे,'[1] (ऋग्वेद १० २७, २२) ऋचा में 'पूरुषाद' जैसे एक पद की यास्क ने दो[2] भागों में विभक्त करके व्याख्या की है।

[1] इस तथा नीचे के श्लोकों (१११-११४) में अनवगमन के कारण पाँच अशुद्ध विश्लेषणों का उदाहरण दिया गया है।

[2] निरुक्त ७. ३६ में यास्क ने 'पुरुषाद-' की 'पुरुषान् अदनाय' के रूप में व्याख्या की है, किन्तु इस आलोचना का कि इन्होंने 'पुरुषादः' को दो शब्द माना है, कोई औचित्य नहीं।

२२—यास्क की अशुद्ध व्याख्यायें; वर्णलोप

अनेकं सत्तथा चान्यद् एकमेव निरुक्तवान्।
अरुणो मा सकृन्मन्त्रे मासकृद्विग्रहेण तु ॥११२॥

इसी प्रकार 'अरुणो मा सकृत्'[1] (ऋग्वेद १. १०५, १८) मन्त्र में एक अन्य व्याहृति की, जो एक पद नहीं है, उन्होंने (यास्क ने) 'मास-कृत' के रूप में ग्रहण करते हुये, केवल एक पद के रूप में ही व्याख्या की है।

[1] इस ऋचा पर अपनी टिप्पणी में यास्क (निरुक्त ५. २१) ने इस शब्द की 'मासानां कर्ता' के रूप में व्याख्या की है। प्रस्तुत ग्रन्थकार पदपाठ से सहमत हैं। देखिये ऋग्वेद १. १०५, १८, पर सायण भी।

पदव्यवायेऽपि पदे एकीकृत्य निरुक्तवान्।
गर्भं निधानमित्येते न जामय इति त्वृचि ॥ ११३ ॥

'न जामये' (ऋग्वेद ३. ३१. २) मन्त्र में उन्होंने (यास्क ने) दो पदों—'गर्भं निधानम्'—को एक पद बना कर[1], ही व्याख्या की है, यद्यपि इन दोनों के बीच एक अन्य पद[2] भी आता है।

[1] अर्थात् निरुक्त ३. ६, में इनकी व्याख्या 'गर्भनिधानीम्' है।

[2] 'सनितुर्': ऋग्वेद ३. ३१, २, में 'गर्भं सनितुर् निधानम्' है।

पदजातिरविज्ञाता त्वः पदेऽर्थः शितामनि।
स्वरानवगमोऽधायि वने नेत्यृचि दर्शितः ॥११४॥

'त्वः'[1] पद में पद की जाति का पता नहीं और 'शितामन्'[2] में आशय का ही पता है। 'अधायि' में स्वर का अनवगमन 'वने न'[3] (ऋग्वेद १०. २९, १) ऋचा में व्यक्त होता है।

[1] निःसन्देह एक प्राचीन दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुये यास्क (निरुक्त १. ७) ने 'त्व' की निपातों के अन्तर्गत गणना कराई है; किन्तु उन्होंने इसे स्पष्टतः एक विकृत शब्द माना है (वही १. ८)। अतः प्रस्तुत ग्रन्थकार ने यास्क के इस वाद के दृष्टिकोण की ही आलोचना की है।

[1] यास्क (निरुक्त ४ ३) का कथन है कि इस शब्द का अर्थ 'अग्रवाद्' (सोम) है और यहाँ उन्होंने शाकपूणि, और्णवाभ, तथा गालव, के विभिन्न विचारों का उद्धरण भी दे दिया है।

[2] ऋग्वेद १० २०, १ पर टिप्पणी करते हुये यास्क (निरुक्त ८ २८) ने 'वारा नि अधायि' पाठ माना है, जब कि पदपाठ में वारा ो नि अधायि है।

शुनःशेपं नराशंसं द्यावा नः पृथिवीति च।
निरस्कृनेनिप्रभृतिष्व् अर्थादासीत्क्रमो यथा ॥११५॥

जिस प्रकार 'शुनःशेपम्'[1], 'नराशंसम्'[2], 'द्यावा नः पृथिवी'[3], 'निर् अस्कृत'[4] तथा अन्य में अर्थ के अनुसार पदों का क्रम[5] व्यवस्थित किया गया है,

[1] ऋग्वेद १ २ ॥ में 'शुनःशिचिच्छेपम्' के लिये देखिये ऋग्वेद प्रातिशाख्य ४३ और ११ ८।

[2] ऋग्वेद १० ६४,३ में 'नरा वा शंसम्' के लिये देखिये ऋग्वेद प्रातिशाख्य ८० स्था०।

[3] अर्थात् ऋग्वेद १ ४१ २० में इन शब्दों को 'द्यावापृथिवी न' पढ़ना चाहिये तु० का० निरुक्त ९ ३८।

[4] ऋग्वेद १० १०७, ३, में निर् ऊ स्वमात्म अस्कृत के लिये तु० का० ऋग्वेद प्रातिशाख्य १० ४ ११ ५।

[5] अर्थात् वर्णपाठ में। इस तथा बाद के श्लोक के क्रम का सम्बन्ध इस प्रकार प्रतीत होता है जिस प्रकार अर्थज्ञान की दृष्टि से शब्दों को उपयुक्त क्रम (पद क्रम) में रखना आवश्यक है, उसी प्रकार व्युत्पत्ति के लिये वर्णों को भी उपयुक्त क्रम (वर्ण क्रम) में व्यवस्थित करना आवश्यक है।

वर्णस्य वर्णयोर्लोपो बहूनां व्यञ्जनस्य च।
अत्राणीति कपिर्नाभा दनो यामीत्यघासु च ॥११६॥

इसी प्रकार एक वर्ण, दो वर्ण, और एक व्यंजन का लोप भी होता है, जैसे 'अत्राणि'[1], 'कपि'[2], 'नाभा'[3], 'दन'[4], 'यामि',[5] और 'अघासु'।[6]

[1] ऋग्वेद १०. ७९, ? में 'अत्राणि' के लिये।

[2] ऋग्वेद १० ८६, ? में 'वृषाकपि' के लिये, देखिये निरुक्त १२ २७।

[3] ऋग्वेद में 'नाभौ' के अतिरिक्त, व्यञ्जनों के पूर्व मिलनेवाला एक सामान्य रूप।

[4] ऋग्वेद १ १७४, २ पर यास्क (निरुक्त ६ ३१) ने 'दानमनस' के रूप में व्याख्या की है।

[5] तद् त्वा यामि (ऋग्वेद १ २४, ११, अथवा ८ ३, ९) में शाकपूणि का यास्क (निरुक्त २ १) द्वारा दिया गया उदाहरण। दुर्ग ने इसकी 'याचामि' के रूप में व्याख्या की है।

[6] ऋग्वेद १० ८५, १३ में इसे 'मघासु' माना गया है (अथर्ववेद) का पाठ)।

२३-शब्द और अर्थ; क्रिया में भावप्रधानता होती है

अर्थात्पदं स्वाभिधेयं पदाद्वाक्यार्थनिर्णयः ।
पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम् ॥११७॥

अर्थ से पद और उसकी अभिधा उत्पन्न होती है; पद से किसी वाक्य के अर्थ का निर्णय होता है। वाक्य का पदों के समूह से, और पदों का वर्णों के समूह से निर्माण होता है।

अर्थात्प्रकरणाल्लिङ्गाद् औचित्याद्देशकालतः ।
मन्त्रेष्वर्थविवेकः स्याद् इतरेष्विति च स्थितिः ॥११८॥

किसी पद के अर्थ से प्रकरण, लिङ्ग, और औचित्य का, तथा देश और काल के विचार से किसी मन्त्र के सम्पूर्ण अर्थ का विवेचन किया जा सकता है; अन्य (ग्रन्थों) के सम्बन्ध में भी यही निर्धारित नियम है।

इति नानान्वयोपायैर् नैरुक्ते यो यतेत सः ।
जिज्ञासुर्ब्रह्मणो रूपम् अपि दुष्कृत्परं व्रजेत् ॥११९॥

ब्रह्म[1] के रूप की जिज्ञासा रखनेवाला जो अन्वय के विविध उपायों द्वारा व्युत्पत्ति का इस प्रकार अध्ययन करता है, वह दुष्कर्मी होते हुये भी परम[2] (ब्रह्म) के पास गमन करता है।

[1] अर्थात् वेद।

[2] तु० की० निरुक्त १. १८. 'योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रम् अश्नुते : नाकम् एति ज्ञान-विधूतपाप्मा।'

यथेदमग्रे नैवासीद् असदप्यथवापि सत् ।
जज्ञे यथेदं सर्वं तद् भाववृत्तं वदन्ति तु ॥१२०॥

किस प्रकार आरम्भ में यह लोक नहीं था—अर्थात् यह अस्तित्वहीन था अथवा अस्तित्व युक्त; किस प्रकार इस विश्व का अस्तित्व हुआ, इस सब सृष्टितत्व को 'भाववृत्तम' कहा गया है।

भावप्रधानमाख्यातं षड्विकारा भवन्ति ते ।
जन्मास्तित्वं परीणामो वृद्धिर्हानं विनाशनम् ॥१२१॥

भाव प्रधानता आख्यात का प्रमुख लक्षण होता[1] है और इसके छः विकार[2] माने गये हैं : जन्म, अस्तित्व, परीणाम (बदलना), वृद्धि, हानम् (घटाव), और विनाश।[3]

[1] यह परिभाषा निरुक्त १. १ (भावप्रधानम् आख्यातम्) के समान है। तु० की० ऋग्वेद प्रातिशाख्य २. २२, ८।
[2] इसे यास्क (निरुक्त १. २) ने वार्ष्यायणि के मत के रूप में उद्धृत किया है (षट् भावविकारा भवन्ति)।
[3] निरुक्त १. २ में, जिस पर ही इन षड्विकारों के नाम आधारित हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं 'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति'।

२४. व्याहृतियों और ॐ के देवता

एतेषामेव षण्णां तु येऽन्ये भावविकारजाः।
ते यथावाक्यमभ्यूह्याः सामर्थ्यान्मन्त्रवित्तमैः ॥१२२॥

किन्तु इन छः[1] भावविकारों से जो अन्य विकार उत्पन्न होते हैं, उनकी, मन्त्रविद् व्यक्तियों को अपने श्रेष्ठतम सामर्थ्य द्वारा प्रत्येक दशा में वाक्य[2] के अनुसार ही कल्पना करनी चाहिये,

[1] निरुक्त का वह स्थल (१. ३) जिस पर यह आधारित है, अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है: 'मन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्ति'।
[2] तु० की० निरुक्त १. ३ ने यथावचनम् अभ्यूहितव्या'।

देवानां च पितृणां च नमस्कारैस्तथैव च।
अथ व्यस्तं समस्तं वा शृणु व्याहृतिदैवतम् ॥१२३॥

और इसी प्रकार उनकी, देवों और पितरों को प्रस्तुत नमस्कारों[1] की प्रकृति के अनुसार भी, कल्पना करनी चाहिये।

अब वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप से व्याहृतियों[2] के देवताओं को सुनें।

[1] अर्थात् भावविकारों की कल्पना केवल वाक्यानुसार ही नहीं वरन् उसमें निहित नमस्कार के आधार पर भी करनी चाहिए।
[2] अर्थात् तीन रहस्यात्मक शब्द 'भूर्, भुव, स्व'।

व्याहृतीनां समस्तानां दैवतं तु प्रजापतिः।
व्यस्तानामयमग्निश्च वायुः सूर्यश्च देवताः ॥१२४॥

अब, सामूहिक रूप से व्याहृतियों के देवता प्रजापति[1] हैं, जब कि पृथक्-पृथक् इनके वैयक्तिक देवता क्रमशः अग्नि, वायु, और सूर्य हैं।

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी, भूमिका २. १०: 'समस्तानां प्रजापतिः'।

वाग्दैवत्योऽथवाप्यैन्द्रो यदि वा पारमेष्ठिनः।
ओंकारो वैश्वदेवो वा ब्राह्मो दैवः क एव वा ॥ १२५ ॥

ओंकार का देवता वाच् होता है; अथवा यह इन्द्र को सम्बोधित होता

है; अथवा इसका देवता परमेष्ठिन् होता है; अथवा यह विश्वेदेवों को, अथवा ब्रह्म को, अथवा समान्य रूप से देवों को सम्बोधित होता है; अथवा 'क' इसका देवता होता है।[१]

[१] सर्वानुक्रमणी, भूमिका २ ११, इसी श्लोक पर आधारित है, किन्तु उसमें वात् और इन्द्र को सम्मिलित नहीं किया गया है, तथा 'क' के स्थान पर 'आध्यात्मिकः' (देखिये षड्गुरु॰ ५१) है।

ऋग्वेद के देवता

२५. प्रथम तीन सूक्त; विश्वेदेव-सूक्तों के ऋषि

आग्नेयं प्रथमं सूक्तं मधुच्छन्दस आर्षकम्।
ज्ञेयाः सर्वेऽन्यदेवत्यास् तृचाः सप्तात उत्तराः ॥१२६॥

प्रथम सूक्त अग्नि को सम्बोधित है। इसके ऋषि मधुच्छन्दस् हैं। इसके बाद की तीन-तीन ऋचाओं के सात त्रिकों[१] को विभिन्न देवों को सम्बोधित मानना चाहिये।

[१] अर्थात् वह जो ऋग्वेद १. २-३ में आते हैं।

वायव्यः प्रथमस्त्वेषाम् ऐन्द्रवायव उत्तरः।
मैत्रावरुणोऽथाश्विनोऽप्यैन्द्रोऽतो वैश्वदेवकः ॥१२७॥

इनमें से प्रथम तीन (१. २, १-३) वायु को सम्बोधित हैं; उसके बाद (२, ४-६) इन्द्र तथा वायु को, उसके बाद (२, ७-९) मित्र-वरुण को, तथा फिर (३, १-३) अश्विनों को, और उसके बाद (३, ४-६) इन्द्र, तथा फिर (३, ७-९) विश्वेदेवों को।

सन्नामा विश्वलिङ्गो वा गायत्रोऽन्त्यस्तु यस्तृचः।
बहुदैवतमन्यत्तु वैश्वदेवेषु शस्यते ॥१२८॥

अब, गायत्री छन्द में रचित अन्तिम तीन ऋचाओं के त्रिक का (१. ३, ७-९) प्रमुख लक्षण वह नाम[१] अथवा 'विश्व' का उल्लेख है। किन्तु विश्वेदेव-सूक्तों[२] के स्थान पर अनेक देवताओं को सम्बोधित किसी अन्य सूक्त द्वारा भी स्तुति की जा सकती है।

[१] अर्थात् इसमें से प्रत्येक ऋचा में 'विश्वे देवासः' नाम आता है; अथवा, दूसरे शब्दों में 'विश्व' शब्द का प्रयोग इनका प्रमुख लक्षण है।

[२] यास्क (निरुक्त १२. ४०) के अनुसार विश्वेदेवों को सम्बोधित केवल यही ऋचायें (१. ३, ७-९) गायत्री छन्द में रचित हैं। किन्तु इनका यह भी कथन है कि अनेक देवों को सम्बोधित किसी भी सूक्त का विश्वेदेवों की स्तुति के लिए व्यवहार

किया जा सकता है यस्तु किंचिद् बहुदवत तद् वैश्वदेवाना स्थाने युज्यते। तु० का० सर्वानुक्रमणी १ १३९, पर षड्गुरुशिष्य भा।

लुशे दुवस्यौ शार्याते गोतमेऽथ ऋजिश्वनि।
अवत्सारे परुच्छेपे अत्रौ दीर्घतमस्यपी ॥१२९॥
वसिष्ठे नाभानेदिष्ठे गये मेधातिथौ मनौ।
कक्षीवति विहव्ये च बहुष्वन्येष्वथर्षिषु ॥१३०॥
अगस्त्ये बृहदुक्थे च विश्वामित्रे च गाथिनि।
दृश्यन्ते विप्रवादाश्च तासु तासु स्तुतिष्विह ॥१३१॥

लुश[1], दुवस्यु[2], शार्यात[3], गोतम[4], ऋजिश्वन्[5], अवत्सार[6], परुच्छेप[7], अत्रि[8], ऋषि दीर्घतमस्[9], वसिष्ठ[10], नाभानेदिष्ठ[11], गय[12], मेधातिथि[13], मनु[14], कक्षीवत्[15], विहव्य[16], तथा अनेक अन्य ऋषियों[17], और अगस्त्य[18], बृहदुक्थ[19], विश्वामित्र[20], तथा गाथिन्[21]—इन सब की अपनी-अपनी स्तुतियों (ऋग्वेद की) में विभेद[22] दृष्टिगत होते हैं।[23]

[1] ऋग्वेद १० ३५ ३६ का ऋषि।
[2] ऋग्वेद १० १०० का ऋषि।
[3] ऋग्वेद १० ९२ का ऋषि।
[4] ऋग्वेद १ ८९ ९० का ऋषि।
[5] ऋग्वेद ६ ४९-५२ का ऋषि।
[6] ऋग्वेद ५ ४४ का ऋषि।
[7] ऋग्वेद १ १३९ का ऋषि।
[8] ऋग्वेद ५ ४१-४३ का ऋषि।
[9] ऋग्वेद १ १६४ का ऋषि।
[10] ऋग्वेद ७ ३४-३७ ३९ ४० ४२ ४३ के ऋषि।
[11] ऋग्वेद १० ६१ ६२ के ऋषि।
[12] ऋग्वेद १० ६३ ६४ के ऋषि।
[13] ऋग्वेद १ १४ का ऋषि।
[14] ऋग्वेद ८ २७-३० के ऋषि।
[15] ऋग्वेद १ १२१ १२२ के ऋषि।
[16] ऋग्वेद १० १२८ का ऋषि।
[17] यहाँ उल्लिखित बीस ऋषियों के अतिरिक्त ऋग्वेद के विश्वदेव-सूक्त के दस अन्य ऋषि भी हैं, देखिये आफरेख्त ऋग्वेद भाग दो, पृ० ६६८ पर 'देवा' के नीचे।
[18] ऋग्वेद १ १८९ का ऋषि।
[19] ऋग्वेद १० ५६ का ऋषि।
[20] ऋग्वेद ३ ५७ का ऋषि।
[21] ऋग्वेद ३ २० का ऋषि।
[22] अर्थात् इन सब ऋषियों द्वारा अपने अपने विश्वदेव सूक्तों में सम्बोधित देवों में परस्पर अन्तर मिलता है।
[23] इन तीनों श्लोकों में उल्लिखित नामों ऋषि ऋग्वेद के विश्वदेव-सूक्तों के प्रणेता हैं। इनमें से तीन (अत्रि, गाथिन् और नाभानेदिष्ठ) को छोड़ कर शेष सत्रह के नामों को नीचे ३ ५५-५९ में पुन दुहराते हुए बीस अन्य का भी उल्लेख है।

२६—विश्वेदेव-सूक्तों की प्रकृति

बह्वीनां संनिपातस्तु यस्मिन्मन्त्रे प्रदृश्यते।
आचार्यौ यास्कशाण्डिल्यौ वैश्वदेवं तदाहतुः ॥१३२॥

यास्क[1] तथा शाण्डिल्य नामक आचार्यों का कथन है कि कोई भी मन्त्र, जिसमें अनेक (देवताओं) का संनिवेश हो, विश्वेदेवों को सम्बोधित होता है।

[1] निरुक्त १२.४० में।

पादं वा यदि वार्धर्चम् ऋचं वा सूक्तमेव वा।
वैश्वदेवं वदेत्सर्वं यत्किंचिद्बहुदैवतम् ॥१३३॥

अनेक देवताओं को सम्बोधित श्लोक, अर्धऋचा, ऋचा, अथवा सूक्त, चाहे जो कुछ भी हो, उसके सब कुछ को विश्वेदेवों को सम्बोधित कहना चाहिये।[1]

[1] देखिये ऊपर २.१२८.१३२, और निरुक्त १२.४०।

ऋषिभिर्देवताः सर्वा विश्वाभि स्तुतिभि स्तुताः।
संज्ञा तु विश्वमित्येषा सर्वाव्याप्तौ निपातिता ॥१३४॥

सर्व देवताओं की ऋषिगण विश्व-स्तुतियों द्वारा स्तुति करते हैं; यहाँ इस 'विश्व' संज्ञा से सर्व-व्याप्तता[1] का नैपातिक तात्पर्य है।

[1] अर्थात् इसका 'विश्वेदेवाः' के आशय में प्रयोग किया गया है।

२७—सरस्वती को संबोधित ऋग्वेद के स्थल। इन्द्र-सूक्त।

सारस्वतस्तु सप्तम एताः प्रउगदेवताः।
सरस्वतीति द्विविधम् ऋक्षु सर्वासु सा स्तुता ॥१३५॥

अब तीन ऋचाओं का सातवाँ त्रिक (१.३, १०-१२) सरस्वती को सम्बोधित किया गया है। यह प्रउग देवी है।[1] इसकी सभी मंत्रों में सरस्वती के नाम से दो विधियों से स्तुति की गई है :

[1] ऋग्वेद १.३, १०-१२ की, जहाँ सरस्वती एक प्रउग देवी के रूप में आती है, निरुक्त ११.२६, २७ में व्याख्या की गई है। ऋग्वेद २.४१, १६-१८, में सरस्वती पुनः एक प्रउग देवी के रूप में आती है। तु० की० नीचे ४.९२।

नदीवद्देवतावच्च तत्राचार्यस्तु शौनकः।
नदीवल्लिंगमाः षट् ते सप्तमो नेत्युवाच ह ॥१३६॥

एक नदी के रूप में और एक देवी के रूप में। इस सम्बन्ध में आचार्य

शौनक का कथन है कि नदी[1] के रूप में इसकी स्तुति करनेवाले स्थल छः हैं सातवाँ नहीं :

[1] तु० वा० निरुक्त ९ २३ 'सरस्वतात्य् एतस्य नदीवद् देवतावच्च निगमा भवन्ति'।

अम्ब्येका च दृषद्वत्यां चित्र इच्च सरस्वती।
इयं शुष्मेभिरित्येतं मेने यास्कस्तु सप्तमम् ॥१३७॥

इस छः के अन्तर्गत 'अम्बि तमे' (ऋग्वेद २ ४१, ६),[1] 'एका' (ऋग्वेद ७ ९५, २), 'दृषद्वत्याम्' (ऋग्वेद ३ २३, ४), 'चित्र इत्' (ऋग्वेद ८ २१,१८), 'सरस्वती' (ऋग्वेद १० ६४, ९, और ६ ५२,६) आते हैं। फिर भी यास्क ने 'इय शुष्मेभि' (ऋग्वेद ६ ६१,२)[3] को सातवाँ माना है।

[1] इस स्थल पर सरस्वती पुनः एक अलग देवी है तु० वी० ऊपर २ १३५ पर टिप्पणी।

[2] ऋग्वेद में 'सरस्वती' से आरम्भ होने वाले तीन पाठ हैं 'सरस्वती सरयु सिन्धु' (१० ६४, ९), सरस्वती सिन्धुभि पिन्वमाना' (६ ५२ ६), और 'सरस्वती साधयन्ती धियम्' (७ ३ ८)।

[3] यास्क ने इस मन्त्र को स्पष्टतः नदी के रूप में सरस्वती को सम्बोधित माना है ('अथैतन्नदीवत्' निरुक्त ९ २६)।

पशोः सारस्वतस्यैतां याज्यां मैत्रायणीयके।
प्राधान्याद्धविषः पश्यन् वाच एवैतरोऽब्रवीत् ॥१३८॥

ऐतर[1] ने मैत्रायणीय[2] में सरस्वती को समर्पित हवि के लिये इस मन्त्र को 'याज्या' मानते हुये इसे 'वाच्'[3] को सम्बोधित माना है, क्योंकि यहाँ हवि की ही प्रधानता[4] है।

[1] यह नाम अन्यत्र नहीं मिलता।

[2] ४ १४, ७ ('याज्यानुवाक्या' मन्त्रों के अन्तर्गत)।

[3] अर्थात् सरस्वती = वाच तु० वा० निरुक्त ७ २३ जहाँ सरस्वती भी वाच् के सनातन नामों में से एक है। नैघण्टुक १ ११ भी देखिये।

[4] अर्थात् पशु की दृष्टि से देखते हुये यह मानना उचित कि यहाँ नदी नहीं वरन् देवी को ही सम्बोधित किया गया है।

सुरूपकृत्नुमित्यैन्द्रं सप्त चान्यान्यतः परम्।
पळादह स्वधामनु मारुत्योऽनन्तरा ऋचः ॥१३९॥

'सुरूपकृत्नुम्' सूक्त (ऋग्वेद १. ४) तथा इसके बाद के सात अन्य (१.

५-११) इन्द्र को सम्बोधित हैं। इनमें लगातार छः मन्त्र ('आदह स्वधामनु', ऋग्वेद १. ६, ४-९, से आरम्भ होनेवाले) मरुतों को सम्बोधित है।

२८—ऋग्वेद १. ६ में इन्द्र, मरुतों के साथ सम्बद्ध हैं

एका वीळु चिदिन्द्राय मरुद्भिः सह गीयते।
तस्या एकान्तरायास्तु अर्धर्चोऽन्त्यो द्विदेवतः ॥१४०॥

उक्त छः मन्त्रों में से एक ('वीळुचित्', ऋग्वेद १. ६, ५) का मरुतों के साथ इन्द्र की प्रशस्ति में गायन किया गया है। किन्तु बाद के मन्त्र की अर्ध-ऋचा (अर्थात् ऋग्वेद १. ६, ७)[1] दो देवों को सम्बोधित है।

[1] अर्थात् तृतीयपाद, क्योंकि यह मन्त्र गायत्री छन्द में है।

मरुद्गणप्रधानो ह्येत्थं चेन्द्रो विचिकित्सितः।
मन्दू समानवर्चसा मन्दुना वा सवर्चसा ॥१४१॥

क्योंकि, यद्यपि यह (उक्त अर्ध-ऋचा) प्रमुखतः मरुद्गणों को सम्बोधित है, तथापि इसमें इन्द्र की विशिष्टता इस प्रकार दिखाई गई है : 'दोनों ही एक समान तेज वाले हैं' (मन्दू समानवर्चसा); अथवा इसका यह अर्थ है : 'उसके साथ जो समान तेज वाला है।'[1]

[1] व्याख्याओं के यह दोनों विकल्प निरुक्त ४. १२ (मन्दू मदिष्णू युवास्थ; अपि वा मन्दुना तेनेति स्यात्, समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम्) पर आधारित हैं।

मन्दू इति प्रगृह्णन्ति येषामेव द्विदेवतः।
एकदेवत्यमाश्राव्यो विज्ञायाध्ययनात्पदम् ॥ १४२ ॥

जिन्हें यह अर्ध-ऋचा दो देवों[1] को सम्बोधित प्रतीत होती है वह 'मन्दू' की 'प्रगृह्य'[2] के रूप में व्याख्या करते हैं। किन्तु अपने अध्ययन के आधार पर जो इस पाद ने केवल एक देवता मानता है, उसे भी सुनना चाहिये;

[1] यहाँ दो देवता मरुद्गण तथा इन्द्र होंगे।
[2] पदपाठ में 'मन्दू' को प्रगृह्य माना गया है।

रोदसी देवपत्नीनाम् अथर्वाङ्गिरसे यथा।
मरुद्गणप्रधानेयम् आचार्याणां स्तुतिर्मता ॥१४३॥

जैसे अथर्ववेद में रोदसी को देवों की पत्नियों में से एक माना गया है।[1] इस स्तुति को आचार्यों ने प्रमुखतः मरुद्गण को ही सम्बोधित माना है।

[1] ऋग्वेद ५. ४६, ८ के पदपाठ में 'रोदसी' को प्रगृह्य माना गया है। यही मन्त्र अथर्ववेद ७. ४६, ८ में भी आता है। इस पर टिप्पणी करते हुये यास्क (निरुक्त

१२ ४६) से 'रोदसी' का 'रुद्रस्य पत्नी' के रूप में व्याख्यान किया है। तु० की० ऋग्वेद ५ ४६ ८ पर सायण भी।

मरुद्गणप्रधानत्वाद् इन्द्रस्तु विचिकित्सितः ।
मरुद्गणं महेन्द्रस्य समांशं सकलं विदुः ॥१४४॥

यद्यपि यहाँ प्रमुखतः मरुतों को ही सम्बोधित किया गया है, तथापि इन्द्र का भी विभेद किया गया है, क्योंकि समस्त मरुद्गण महान् इन्द्र के साथ अंश के भागी होते हैं।

२९—ऋग्वेद १ १२, तथा आप्री-सूक्त १ १३ के देवता

अग्निमित्यग्निदैवत्यं पादस्तत्र द्विदेवतः ।
निर्मथ्याहवनीयार्थाद् अग्निनाग्निः समिध्यते ॥१४५॥

'अग्निम्' सूक्त (ऋग्वेद १ १२) के प्रमुख देवता अग्नि हैं। इस सूक्त का एक पाद (अग्निनाग्निः समिध्यते १ १२ ६) दो देवताओं को सम्बोधित किया गया है जिनसे निर्मथ्य और आहवनीय[1] का तात्पर्य है।

[1] यह दोनों अग्नि के रूप हैं जिनमें से प्रथम मन्थन द्वारा उत्पन्न अग्नि का नाम है और द्वितीय हवि की अग्नि का। तु० की० ऋग्वेद १ १२ पर सर्वानुक्रमणी पादो द्व्यग्निदैवतो निमथ्याहवनीयौ

द्वितीये द्वादशर्चे तु प्रत्यृचं यास्तु देवताः ।
स्तूयन्ते ह्यग्निना सार्धं तासां नामानि मे शृणु ॥१४६॥

अब मुझसे प्रत्येक ऋचा के अनुसार उन देवताओं के नाम सुनें जिनकी बारह मंत्रों के दूसरे सूक्त (अर्थात् १ १३) में अग्नि के साथ स्तुति की गई है।

प्रथमायां स्तुतश्चेध्मो द्वितीयायां तनूनपात् ।
नराशंसस्तृतीयायां चतुर्थ्यां स्तूयते त्विळः ॥१४७॥

प्रथम ऋचा में 'इध्म' की स्तुति है, दूसरे में 'तनूनपात्' की, और तीसरे में 'नराशंस' की किन्तु चौथे में 'इळा' की स्तुति है।

बर्हिरेव तु पञ्चम्यां द्वारो देव्यस्ततोऽन्यया ।
नक्तोषासा तु सप्तम्याम् अष्टम्यां संस्तुतौ सह ॥१४८॥
दैव्याविति तु होतारौ नवम्यामृचि संस्तुताः ।
तिस्रो देव्यो दशम्यां तु ज्ञेयस्त्वष्टैव तु स्तुतः ॥१४९॥

पाँचवें में बर्हिस् की, उसके बाद (की ऋचा में) दिव्य द्वारों की

(६ वीं ऋचा में), सातवें में नक्तोषासा (रात्रि और उषस) की, जबकि आठवें में साथ साथ दो दिव्य होताओं की स्तुति है; नवें में तीन देवियों की स्तुति की गई है; किन्तु दसवें में त्वष्टृ की स्तुति जानना चाहिये।

३०—ग्यारह आप्री-सूक्त

एकादश्यां तु सूक्तस्य स्तुतं विद्याद्वनस्पतिम्।
द्वादश्यां तु स्तुता देवीर् विद्यात्स्वाहाकृतीरिति ॥१५०॥

इस सूक्त की ग्यारहवीं ऋचा में वनस्पति की स्तुति जानना चाहिये; किन्तु बारहवीं में दिव्य स्वाहाकृतियों की स्तुति जानना चाहिये।

सूक्तेऽस्मिन्प्रत्यृचं यास्तु देवताः परिकीर्तिताः।
ता एव सर्वास्वाप्रीषु द्वितीया तु विकल्पते ॥१५१॥

इस सूक्त (१. १३) की प्रत्येक ऋचा में जिन-जिन देवताओं की प्रशस्ति है वह सब आप्री सूक्तों में भी आते हैं; फिर भी द्वितीय देवता वैकल्पिक है।[1]

[1] यह विकल्प किस प्रकार व्यवहृत हुआ है, इसके लिये देखिये नीचे २. १५५-१५७।

प्रैषैः सहाप्रीसूक्तानि तान्येकादश सन्ति च।
यजूंषि प्रैषसूक्तं वा दशैतानीतराणि तु ॥१५२॥

प्रैषों तथा आप्री सूक्तों की संख्या ग्यारह है; अथवा प्रैष सूक्त[1] में यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र (यजूंषि) हैं, जब कि इन अन्य (ऋग्वेद के सूक्तों) की संख्या दस है।[2]

[1] इन्हें बारह यजूंषि कहते हैं, अर्थात् वाजसनेयि संहिता (२१. २९-४०) में आने वाले सूक्त। यास्क (निरुक्त ८. २२) ने इनको 'प्रैषिकम्' के रूप में व्यक्त किया है और इन्हें ग्यारह आप्री सूक्तों के अन्तर्गत रक्खा है (तान्य् एतान्य् एकादशाप्रीसूक्तानि)।

[2] ऋग्वेद के दस आप्री सूक्तों की, सर्वानुक्रमणी के मैकडौनेल के संस्करण की अनुवाकानुक्रमणी (१०-१२, पृ० ४८) में गणना कराई गई है। देखिये आश्वलायन श्रौतसूत्र ३. २, ५ और बाद, भी।

सौत्रामणानि तु त्रीणि प्राजापत्याश्वमेधिके।
पुरुषस्य तु यन्मेधे यजुःष्वेव तु तानि षट् ॥१५३॥

इन (आप्री सूक्तों) में से तीन सौत्रामणी[1] से और एक प्रजापति[2] से सम्बद्ध हैं, तथा एक का अश्वमेध[3] के समय और एक का पुरुषमेध[4] के समय व्यवहार होता है; यह छः यजुर्वेद में आते हैं।

[1] अर्थात् वाजसनेयि संहिता २०. ३६-४६ (तु० वा० शतपथ ब्राह्मण १३ ९, ३, १६), २० ५५-६६ (तु० वा० शतपथ ब्राह्मण १२ ८, २, १९), २१. १२-२२ (तु० वा० शतपथ ब्राह्मण १२ ९, ३, १६)।

[2] अर्थात् वाजसनेयि संहिता २७ ११-२२ (देखिये प्रथम मन्त्र पर भाष्य और तु० वा० शतपथ ब्राह्मण ६ २, २, १ और बाद)।

[3] वाजसनेयि संहिता २९ १-११ (तु० वा० शतपथ ब्राह्मण १३ २, २, १४)।

[4] शाङ्खायन श्रौतसूत्र १६ १२, ८ में 'अग्निर् मृत्यु॰' से आरम्भ होने वाले के रूप में उद्धृत।

अत्रैव प्रैषसूक्तं स्यान् न यजुःष्वाद्रियेत तत्।
तेषां प्रैषगतं सूक्तं यच्च दीर्घतमा जगौ ॥१५४॥

यहाँ केवल प्रैष-सूक्त (वाजसनेयि संहिता २१.२९-४०) पर ही विचार करना है, जिनका यजुर्वेद में उल्लेख है उसके सम्बन्ध में नहीं।

उक्त (ग्यारह) सूक्तों में से प्रैष से सम्बद्ध, और जिसका दीर्घतमस् ने गायन (ऋग्वेद १.१४२) किया,

३१-आप्रीसूक्तों में तनूनपात् और नराशंस; अग्नि का एक रूप इध्म

मेधातिथौ यदुक्तं च त्रीण्येवोभयवन्ति तु।
ऋषौ गृत्समदे यच्च वाध्र्यश्वे च यदुच्यते ॥१५५॥

और जिसका मेधातिथि (१.१३)[1] में उल्लेख है—केवल इन्हीं तीन में दोनों[2] (तनूनपात् और नराशंस) निहित हैं। जिसका गृत्समद[1] (२.३) और वध्र्यश्व[1] (१०.७०) में उल्लेख है,

[1] जो ऊपर १ १४, २५ के अनुसार ऋषि सूक्त हैं।

[2] 'उभयवन्ति', देखिये निरुक्त ८ २२ 'मैधातिथं दैर्घतमसं प्रैषिकम् इत्य् उभयवन्ति'।

नराशंसवदत्रेश्च ददर्श च यदौर्वशः।
तनूनपादगस्त्यश्च जमदग्निश्च यज्जगौ ॥ १५६ ॥

अत्रि के दो (५.५), और उसमें जिसका उर्वशी-पुत्र (वसिष्ठ) ने दर्शन किया था (७. २), नराशंस निहित है। तनूनपात् उनमें आता है जिनका अगस्त्य (१.१८८) और जमदग्नि[1] (१०.११०) ने गायन किया,

[1] तु० वी० यास्क निरुक्त ८ ४-२१।

विश्वामित्र ऋषिर्यश्च जगौ वै काश्यपोऽसितः।
मेधातिथेर्ऋचां यास्तु प्रोक्ता द्वादश देवताः ॥ १५७॥

और (उनमें भी) जिनका ऋषि विश्वामित्र (३.४) और कश्यप-पुत्र असित (९.५) ने गायन किया।

उन बारह देवताओं के सम्बन्ध में, जिनका मेधातिथि की ऋचाओं (१.१३.१—१२) में आनेवालों के रूप में उल्लेख[1] किया गया है,

[1] ऊपर २ १४६–१५०।

संपद्यन्ते यथाग्निं ताः संपदं तां निबोधत।
इध्मो यः सर्वमेवाग्निर् अयं हीध्मः समिध्यते॥
ध्मानेर्वैतत्कृतं रूपं ध्मातो हीध्मः समिध्यते॥१५८॥

उस पद्धति को जानिये जिसके अनुसार वह अग्नि को व्यक्त करते हैं।

इध्म वह अग्नि है जो सब कुछ है; क्योंकि यह अग्नि ईंधन[1] के रूप में ही प्रज्वलित होते हैं। अथवा यह रूप 'ध्मा' धातु से बना है; क्योंकि धौंकने से ही ईंधन को प्रज्वलित किया जाता है।

[1] यह व्युत्पत्ति यास्क द्वारा निरुक्त ८. ४ (इध्मः समिन्धनात्) में दी हुई एकमात्र व्युत्पत्ति के समान है।

॥ इति बृहद्देवतायां द्वितीयोऽध्यायः ॥



१–तनूनपात्, नराशंस, इळ बर्हिस्,

तनूनपादयं त्वेव नाम्ना यत्तनयत्यसौ तनुम् ।
नपादिति प्रजामाहुर् अमुतोऽस्य च संभवम् ॥ १ ॥

इन्हीं अग्नि का नाम तनूनपात्[1] भी है। वह (दिव्य अग्नि) अपने शरीर को फैलाते[2] हैं।

ऐसा कथन है कि 'नपात्' का अर्थ सन्तान[3] है, और इसका (तनूनपात की) उससे[4] (अग्नि से) उत्पत्ति हुई है।

[1] तु० बृ० ऊपर २ २६ अथ तनूनपात् अग्नि
[2] तु० बृ० वही अग्नी हि तननात् तनु
[3] तु० बृ० ऊपर २ २७ अनन्तरा प्रजा आप्र नपाद् इति
[4] तु० बृ० वही नपाद् अमुष्य नपात् अग्नि

नराशंसमिहैके तु अग्निमाहुरथेतरे ।
नराः शंसन्ति सर्वेऽस्मिन् आसीना इति वाध्वरे ॥ २ ॥

कुछ का कहना है कि नराशंस यहाँ अग्नि है।[1] पुनश्च, कुछ लोग यह कहते हुये कि 'सब मनुष्य इस पर आसीन होकर प्रशस्तियों का उच्चारण करते हैं', इसे यज्ञ[2] के आशय में ग्रहण करते हैं।

[1] यास्क के अनुसार (अग्निर् इति शाकपूणिः नरैः प्रशस्यो भवति', निरुक्त ८ ६) यह शाकपूणि का मत है
[2] यह कात्थक्य का दृष्टिकोण है तु० बृ० वही नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यो नरा अस्मिन् आसीनाः शंसन्ति ।

एतमेवाहुरन्येऽग्निं नराशंसोऽध्वरे ह्ययम् ।
नरैः प्रशस्य आसीनैर् आहुश्चैवर्त्विजो नरः ॥ ३ ॥

अन्य इसे इसलिये अग्नि बताते हैं कि यज्ञ स्थल पर आसीन होकर मनुष्यों द्वारा प्रशस्ति के विषय के रूप में यही नराशंस होते हैं,[1] ऋत्विजों का भी यही कथन है।

[1] गत दो श्लोकों में व्यक्त दृष्टिकोण निरुक्त ८ ६ के उस कथन के अनुकूल है जिसके अनुसार (१) नराशंस अग्नि (नरैः प्रशस्य ', शाकपूणि) और (२) यज्ञ है ('नरा अस्मिन् आसीनाः शंसन्ति ' कात्थक्य)। प्रस्तुत श्लोक में वर्णित तृतीय दृष्टिकोण उक्त दोनों का सम्मिश्रण है (नरैर् आसीनैर् अध्वरे प्रशस्य)। यह ऊपर २ २८ (यज्ञे यच्च प्रशस्यत नृभि) के अनुकूल है।

इळस्त्वृषिकृतं रूपम् ईडेश्च स्तुतिकर्मणः ।
इळावांस्तेन वोक्तोऽग्निर् इडिना वर्द्धिकर्मणा ॥ ४ ॥

इळ ऋषियों द्वारा बनाया गया रूप है जो स्तुतिवाचक[1] 'ईड्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है : इस धातु के आधार पर, अथवा वृद्धि-वाचक धातु 'इड्' के आधार पर, अग्नि को 'इळावान्' कहा गया है ।

[1] यास्क (निरुक्त ८ ७) ने इळ को 'ईड्' अथवा 'इध्' से व्युत्पन्न माना है : 'ईड्टेः स्तुतिकर्मण इन्धतेर् वा' ।

बर्हिरेवायमग्निस्तु सर्वं हि परिबृंहितम् ।
अन्नेन यद्वतो वा सन् इध्मेन परिबृंहितः[1] ॥ ५ ॥

पुनः, यह अग्नि बर्हिस् हैं, क्योंकि इसका (बर्हिस् का) सर्वस्व अन्न से समृद्ध होता है[2], अथवा इस लिये भी कि यज्ञ के समय यह (अग्नि) इंधन से समृद्ध किये जाते हैं ।

[1] इसकी व्युत्पत्तिशास्त्रीय व्याख्या यास्क (निरुक्त ८. ८) के 'बर्हिः परिबर्हणात्' के ही समान है ।

[2] अर्थात् हवि आदि इस पर ही रक्खा जाता है ।

२–दिव्य द्वारः रात्रि और उषस्

द्वारस्तु देव्यो याः प्रोक्ता विश्वेषां तास्तु पत्नयः ।
अग्नायीमनुवर्तन्ते तथाग्नाय्यग्निमेव च ॥ ६ ॥

जैसा कि इन्हें कहा जाता है, दिव्य द्वार विश्वेदेवों की पत्नियाँ हैं;[1] यह भी अग्नायी का उसी प्रकार अनुवर्तन करती है जैसे अग्नायी अग्नि का ।[2]

[1] ऋग्वेद १०. ११०, ५ (वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः……देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः) द्वारा यह स्पष्ट है । इस पर निरुक्त ८ १०, में टिप्पणी की गई है ।

[2] इस उक्ति का प्रयोजन 'देव्यो द्वारः' तथा 'अग्नि' (तु० की० ऊपर १. १०७) का समीकरण व्यक्त करना है : देवों की पत्नियों के रूप में यह अग्नि की पत्नी उस अग्नायी का प्रतिनिधित्व करती है जिसके अन्तर्गत समस्त पार्थिव देवियाँ आ जाती हैं (देखिये ऊपर १ १०५, १०६) । निरुक्त ८. १०, में शाकपूणि ने इन्हें अग्नि के साथ समीकृत किया है : 'यज्ञे गृहद्वार इति कात्थक्यः, अग्निर् इति शाकपूणिः' ।

अग्नौ ध्रुवं स्थितास्तास्तु संस्तूयन्तेऽग्निना सह ।
प्राधान्यं तासु चैवाग्ने स्तुतिष्वेव हविःषु च ॥ ७ ॥

अग्नि में दृढ़ रूप से स्थित होने के कारण इनकी अग्नि के साथ-साथ स्तुति

की जाती है। इनकी दशा में भी स्तुति तथा हवि में अग्नि की प्रधानता रहती है।[1]

[1] क्योंकि इन्हें तथा अन्य आप्री देवों को केवल अग्नि का ही रूप माना गया है।

नक्तोषासौ च ये देव्यावु आग्नेय्यावेव ते स्मृते।
श्याव्याग्नेयी हि कालस्य तस्यैवोषाः कलेव तु ॥ ८ ॥

जहाँ तक दो देवियों, रात्रि और उषस्, का प्रश्न है, इन्हें भी अग्नि से सम्बद्ध माना गया है। क्योंकि अन्धकार (श्यावी)[1] अग्नि के साथ सम्बद्ध है,[2] जब कि उषस् भी उसी काल[3] (समय) की एक कला (सोलहवाँ अंश) है।

[1] नैघण्टुक १ ७ में उल्लिखित रात्रि के तेइस नामों में से 'श्यावी' प्रथम है।

[2] इस प्रकार, श्यावी – रात्रि एक अग्नि सूक्त (ऋग्वेद १ ७१ १) के प्रथम मन्त्र में आता है।

[3] अर्थात् 'श्यावी' का एक भाग होने के कारण उषस् भी अग्नि के साथ सम्बद्ध है। तु० की० निरुक्त १ १८ उषा रात्रेरपरः कालः।

तम उछत्युषा नक्तानक्तीमां हिमबिन्दुभिः।
अपि वाऽव्यक्तवर्णेति नञ्पूर्वाञ्जेरिदं भवेत् ॥ ९ ॥

उषस् अन्धकार को हल्का[1] कर देती है, रात्रि उसे हिम बिन्दुओं से मण्डित कर देती है,[2] अथवा यह 'नञ्' उपसर्ग के साथ 'अञ्ज' धातु से व्युत्पन्न है और इसका अर्थ 'अव्यक्त वर्णा'[3] भी हो सकता है।

[1] तु० की० निरुक्त २ १८ 'उषा कस्माद् ? उच्छतीति'।

[2] निरुक्त ८ १० 'नक्तेति अनक्ति भूतान्य् अवश्यायेन', तु० वा० 'रात्रि' के लिये 'रातेर् वा स्याद् दानकर्मण प्रदीयन्तेऽस्याम् अवश्याया (वही, २ १८)।

[3] तु० की०, 'अपि वा नक्ताऽव्यक्तवर्णा', निरुक्त ८ १०।

सा हि दोषा भवत्यादौ निशीथे सा तमस्वती।
नाम्ना भवत्युषाश्चैव सैषा प्रागुदयाद्रवेः ॥ १० ॥

क्योंकि आरम्भ में यह 'दोषा'[1] और मध्यरात्रि में 'तमस्वती' होती है, तथा सूर्योदय के पूर्व इसका नाम उषस् होता है।[1]

[1] 'दोषा' और 'तमस्वती', तथा साथ ही साथ 'श्यावी' और 'नक्ता' नैघण्टुक १ ७, में 'रात्रि' के पर्याय के रूप में आते हैं।

३—दो दिव्य होता; तीन देवियाँ, त्वष्टृ

दैव्याविति तु होताराव् अग्नी पार्थिवमध्यमौ।
दिव्यादग्नेर्हि जज्ञाते दैव्यौ तेनेह जन्मना ॥११॥

दो दिव्य होता अग्नि के पार्थिव तथा मध्यम रूप हैं।[1] अतः इनका जन्म दिव्य अग्नि से हुआ था, अतः ये दिव्य जन्मा[2] हैं।

[1] यह निरुक्त ८. ११ में यास्क की व्याख्या (दैव्यौ होतारावयं चाग्निरसौ च मध्यमः) के भी अनुकूल है।

[2] अर्थात् 'दैव्य' को यहाँ पैतृक नाम का रूप प्रदान किया गया है।

तिस्रस्तु देव्यो याः प्रोक्तास् त्रिस्थानैवेह सा तु वाक्।
त्रिविधेनोच्यते नाम्ना ज्योतिःषु त्रिषु वर्तिनी ॥१२॥

जिन्हें तीन देवियाँ कहते हैं वह यहाँ तीन स्थानों की वाच् ही हैं। तीन ज्योतियों[1] में निहित इसे त्रिविध नामों[2] से व्यक्त किया जाता है।

[1] तु० की० ऊपर १. ९०।

[2] वाच् के तीन रूपों के लिये देखिये ऊपर २. ७२ और बाद।

अग्निमेवानुगेळा तु मध्यं प्राप्ता सरस्वती।
अमुं स्थिताधि लोकं तु भारती भवति ह्यसौ ॥ १३ ॥

इळा अग्नि का अनुगमन[1] करती है, सरस्वती[2] मध्यम से सम्बद्ध है, जब कि दिव्य लोक में स्थित होने के रूप में वह (वाच् का दिव्य रूप) भारती होती है।

[1] 'अनुगा'। तु० की० ऊपर ३. ६ में 'अनुवर्तते'।

[2] तु० की० ऊपर २ ७६।

सैषा तु त्रिविधा वाग्वै दिवि च व्योम्नि चेह च।
व्यस्ता चैव समस्ता च भजत्यग्नीनिमानपि ॥१४॥

अब, यही वाच् दिव्य, अन्तरिक्ष, तथा यहाँ (पृथिवी पर) होने के रूपों में त्रिविध है। अकेले और समस्त, दोनों ही रूपों में, यह इन अग्नियों[1] से सम्बद्ध है।

[1] इस प्रकार न केवल पार्थिव वाच् के रूप में इळा पार्थिव अग्नि के क्षेत्र में स्थित है वरन् तीनों ही देवियाँ पार्थिव अग्नि में (ऊपर १. १०८) और साथ ही साथ अग्नि के दो अन्य रूपों में भी स्थित हैं।

त्वष्टा तु यस्त्वयमेव पार्थिवोऽग्निरिति स्तुतिः।
पार्थिवस्यास्य वर्चः स्युः कस्याप्यृक् चार्तवेषु च ॥१५॥

अब त्वष्टा के लिये भी पार्थिव अग्नि के समान ही स्तुति है;[1] अथवा,

पार्थिव के रूप में इनकी अर्चना करने वाली ऋचायें हैं[2], तथा ऋतुओं के सूक्तों[3] में भी एक ऋचा है जो एक न एक[4] अग्नि के रूप में इन्हें समर्पित है।

[1] अर्थात् आप्री सूक्तों में प्रस्तुत ग्रन्थकार निरुक्त ८ १४ में उद्धृत शाकपूणि के दृष्टिकोण (अग्निर् इति शाकपूणि) के साथ तथा नैरुक्तों के उस दृष्टिकोण के साथ भी सहमत है जिसके अनुसार 'त्वष्टा का सर्वप्रथम आप्री देवों के अन्तर्गत (८ २) द्वितीयत अन्तरिक्ष देवों के अन्तर्गत (५ ४), तथा तृतीयत दिव्य देवों के अन्तर्गत (५ ६) उल्लेख है अन्य लोगों के दृष्टिकोण के अनुसार त्वष्टा को मध्यस्थानीय कहा गया है (माध्यमिकस् त्वष्टा इत्य आहु, मध्यमे च स्थाने समाम्नात ' निरुक्त ८ १४)। इन्हें नीचे (३ ४) रूपकर्ता के रूप में मध्यमवर्गीय कहा गया है।

[2] अर्थात् इन्हें सम्बोधित आप्री सूक्तों की ऋचाओं में यह पार्थिव अग्नि का प्रतिनिधित्व करते हैं।

[3] तीन ऋतु सूक्तों (ऋग्वेद १ १५ २ २६ २ ३७) में से दो की तृतीय ऋचा त्वष्टा को सम्बोधित है, यद्यपि इनका नाम केवल २ ३६ ३, में ही आता है।

[4] अर्थात् ऋतु-सूक्तों में अग्नि के तीनों रूपों में से किसी भी एक का तात्पर्य हो सकता है।

४-दिव्य त्वष्टृ, दध्यञ्च और मधु की कथा

त्विषितस्त्वक्षतेर्वा स्यात् तूर्णमश्नुत एव वा।
कर्मसूत्तारणो वेति तेन नामैतदश्नुते ॥ १६ ॥

त्वष्टा 'त्विष्' से अथवा 'त्वक्ष्' से व्युत्पन्न हो सकता है, अथवा 'वह शीघ्रतापूर्वक प्राप्त करते हैं'[1], या 'वह कर्मों में सहायता देते हैं'[2], इस कारण ही यह नाम प्राप्त करते हैं।

[1] यह तीन व्युत्पत्तियाँ निरुक्त ८ १३ से ली गई हैं 'त्वष्टा तूर्णम् अश्नुत इति नैरुक्ता त्विषेर् वा स्याद् दीप्तिकर्मणस, त्वक्षतेर् वा स्यात् करोतिकर्मण '।

[2] यह अतिरिक्त व्युत्पत्ति यास्क के 'त्वक्षते करोतिकर्मण ' से ली गई हो सकती है।

यः सहस्रतमो रश्मी रवेश्चन्द्रमुपाश्रितः।
सोऽपि त्वष्टारमेवाग्निं परं चेह च यन्मधु ॥ १७ ॥

सूर्य की सहस्र रश्मियाँ जो चन्द्रमा में आश्रित हैं, तथा वह मधु भी जो पृथ्वी पर तथा उसके ऊपर है, उसी त्वष्टा में निहित हैं जो अग्नि है।[1]

[1] यह वह दिव्य त्वष्टा ही है जो चन्द्रमा में स्थित दिव्य सोम के रक्षक हैं। अग्नि को भी सोम का रक्षक कहा गया है। बाद के पुराकथाशास्त्र में यह कथन है कि जब देवों द्वारा सोम पान कर लिये जाने के कारण चन्द्रमा घटने लगे तो सूर्य ने उन्हें पुन सम्वर्द्धित किया था। दिव्य मधु के साथ त्वष्टा के सम्बन्ध का इस प्रकार

वर्णन करने के पश्चात् नीचे के श्लोकों में यह बताया गया है कि अश्विनों ने किस प्रकार मधु को दध्यञ्च् से प्राप्त किया था।

प्रादाद्ब्रह्मापि सुप्रीतः सुताय तदथर्वणः।
स चाभवदृषिस्तेन ब्रह्मणा दीप्तिमत्तरः॥ १८॥[1]

भली प्रकार प्रसन्न होकर (इन्द्र ने) अथर्वन् के पुत्र (दध्यञ्च्) को वह ब्रह्म[2] (अभिचार) प्रदान किया; और इस ब्रह्म द्वारा यह ऋषि और भी दीप्त हो गये।

[1] प्रस्तुत से लेकर २३वें श्लोक में दध्यञ्च् की जो कथा वर्णित है वह ऋग्वेद १. ११६. १२ पर नीतिमञ्जरी में उद्धृत है। ऋग्वेद के इसी स्थल पर भाष्य करते हुये सायण ने भी इसका वर्णन किया और यह कहा है कि इसका शाट्यायनक तथा वाजसनेयक में विस्तार से वर्णन है। यह कथा शतपथ ब्राह्मण (१४. १, १, १८-२५) में भी मिलती है।

[2] जो सोम के आवास को प्रगट करता है।

तमृषिं निषिषेधेन्द्रो मैवं वोचः क्वचिन्मधु।
न हि प्राक्ते मधुन्यस्मिन् जीवन्तं त्वोत्सृजाम्यहम्॥१९॥

इन्द्र ने ऋषि को निषेध करते हुये कहा 'इस प्रकार उद्घाटित मधु की कहीं भी चर्चा न करना क्योंकि यदि इस मधु की घोषणा कर दी गई तो मैं तुम्हें जीवित नहीं बचने दूँगा।'

तमृषिं त्वश्विनौ देवौ विविक्ते मध्वयाचताम्।
स च ताभ्यां तदाचष्टे यदुवाच शचीपतिः॥ २०॥

अब, दिव्य अश्विनों ने ऋषि से गुप्त रूप से मधु की याचना की; और उन दोनों से ऋषि ने यह बताया कि शचीपति (इन्द्र) ने क्या कहा था।

५-दध्यञ्च का अश्व-शिर; मध्यम त्वष्टृ

तमब्रूतां तु नासत्याव् आश्व्येन शिरसा भवान्।
मध्वाशु ग्राहयत्वावां मेन्द्रश्च त्वा वधीत्ततः॥२१

उनसे नासत्यों ने कहा: 'आप हम दोनों को शीघ्रता से अश्व-शिर धारण करके मधु ग्रहण करायें; इसके लिये इन्द्र आपका वध नहीं करेंगे।'

आश्व्येन शिरसा तौ तु दध्यङ्ङाह यदश्विनौ।
तदस्येन्द्रोऽहरत्स्वं तन् न्यधत्तामस्य यच्छिरः॥२२॥

यतः अश्व-शिर के रूप में दध्यञ्च् ने अश्विनद्वय को रहस्य बता दिया था, अतः इन्द्र ने उनके उस शिर को पृथक् कर दिया, किन्तु अश्विनों ने उनके शिर को उन पर पुनः स्थापित कर दिया।[1]

[1] शतपथ ब्राह्मण तथा सायण ने केवल शिर के पुनर्स्थापन तक की कथा का वर्णन किया है, तु० की० 'अथास्य तत् शिर आहृत्य तद् धस्य प्रति दधतु', शतपथ ब्राह्मण १४ १, १, २३, 'स्वकीयं मानुषं शिरः प्रत्यधत्ताम्', सायण।

दधीचश्च शिरश्चाश्व्यं कृत्तं वज्रेण वज्रिणा।
पपात सरसो मध्ये पर्वते शर्यणावति ॥ २३ ॥

वज्रधर द्वारा अपने वज्र से पृथक् कर दिया गया दध्यञ्च का अश्व शिर शर्यणावत् पर्वत पर स्थित एक सरोवर में गिर पड़ा।

तदद्भ्यस्तु समुत्थाय भूतेभ्यो विविधान्वरान्।
प्रादाय युगपर्यन्तं तास्वेवाप्सु निमज्जति ॥२४॥

जलों से ऊपर उठ कर तथा जीवित प्राणियों को विविध वरदान देते हुये वह युगपर्यन्त उन्ही जलों मे डूबा रहता है।

त्वष्टा रूपविकर्ता च योऽसौ माध्यमिके गणे।
स्तुतः स च निपातेन सूक्तं तस्य न विद्यते ॥२५॥

यही त्वष्टा, जो मध्य-स्थानीय[1] गणों के अन्तर्गत आते है, रूपों के विकर्त्ता[2] है। इनकी भी नैपातिक स्तुति ही होती है, इनको कोई सूक्त समर्पित नहीं है।

[1] तु० की० निरुक्त ८ १४ 'माध्यमिकस् त्वष्टा इत्य् आहुर, मध्यमे च स्थाने समाम्नातः।'
[2] ऋग्वेद में त्वष्टा को अक्सर रूपों का निर्माता, तथा तैत्तिरीय संहिता में 'रूपकृत्' कहा गया है।

६—वनस्पति; स्वाहाकृतियाँ

वनस्पतिं तु यं प्राहुर् अयं सोऽग्निर्वनस्पतिः।
अयं वनानां हि पतिः पाता पालयतीति वा ॥ २६ ॥

जिसे वनस्पति कहा गया है वह वन के पति के रूप में इसी अग्नि[1] का एक रूप है, क्योंकि रक्षक के रूप में अग्नि ही वनों के पति है, अथवा इसलिये भी कि यह वनों का पालन[2] करते है।

[1] एक आप्री देव के रूप में (ऋग्वेद १. १३, ११) वनस्पति को पार्थिव अग्नि के साथ समीकृत किया गया है; किन्तु ऊपर (१. ६६), जहाँ अग्नि के तीन रूपों का विभेद किया गया है, वनस्पति उसी प्रकार मध्यम अग्नि का प्रतिनिधित्व करता है जिस प्रकार १. ६७ (ऊपर) में जातवेदस्।

[2] तु० की० निरुक्त ८. ३, 'वनाना पाता वा पालयिता वा।'

अग्निर्गृत्समदेनायं वनस्पतिरितीळितः ।
मन्दस्वेत्यस्य सूक्तस्य षळृचस्य तृतीयया ॥ २७ ॥

छः ऋचाओं वाले 'मन्दस्व' (ऋग्वेद ३. ३७) (से आरम्भ होने वाले) सूक्त की तृतीय ऋचा[1] में गृत्समद ने इस अग्नि की भी वनस्पति के रूप में स्तुति की है।

[1] निरुक्त ८. ३ में यास्क ने वनस्पति के उदाहरण के लिए इसी ऋचा की विवेचना की है। एक आप्री देव के रूप में वनस्पति के सम्बन्ध में यास्क (निरुक्त ८. १७-२०) ने चार अन्य (ऋग्वेद १०. ११०, १०; ३. ८, १; तथा दो ऐसी ऋचायें जो ऋग्वेद की नहीं हैं) का उद्धरण दिया है।

यूपवत्तरुवच्चैव स्तुतिर्यास्य प्रसङ्गजा ।
सर्वेणाञ्जन्तिसूक्तेन तृतीये सा तु मण्डले ॥ २८ ॥

किन्तु एक यज्ञ-यूप,[1] और एक वृक्ष के रूप में उसकी (वनस्पति की) 'अञ्जन्ति' से आरम्भ होने वाले (ऋग्वेद ३. ८) सम्पूर्ण[2] सूक्त द्वारा प्रसङ्गात्मक स्तुति तृतीय मण्डल में मिलती है।

[1] तु० की० नीचे ४. १००।

[2] ऋग्वेद ३. ८, १ पर अपनी टिप्पणी में यास्क (निरुक्त ८. १८) ने वनस्पति के सम्बन्ध में केवल 'अग्निर् इति शाकपूणिः' मात्र ही कहा है। किन्तु ऋग्वेद १०. ११०, १० पर टिप्पणी करते हुये (निरुक्त ८. १७) में वह इस प्रकार मत व्यक्त करते हैं : 'तत् को वनस्पतिः ? यूप इति कात्थक्यः, अग्निर् इति शाकपूणिः।'

स्वाहाकृतयोऽनेकाश्च विदुषां मतयोऽभवन् ।
तत्सर्वं त्वयमेवाग्निर् भवतीति विनिश्चयः ॥ २९ ॥

स्वाहाकृतियों के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। फिर भी यह एक निश्चित निष्कर्ष है कि यह[1] केवल इसी अग्नि का रूप है।[2]

[1] तु० की० निरुक्त ८. २० में दी हुई इस शब्द की विभिन्न व्याख्यायें।

[2] तु० की० निरुक्त ८. २२ में 'प्रयाजास्' और 'अनुयाजास्' के साथ समीकृत विभिन्न देवों के उल्लेख के बाद यास्क की यह टिप्पणी : 'आग्नेया इति तु स्थितिः, भक्तिमात्रम् इतरत्।'

अयं हि कर्ता स्वाहानां कृतिस्तासामिहैकजा।
अयं प्रसूतिर्भूतानां सर्वेषामयमव्ययः ॥ ३० ॥

क्योंकि यही स्वाहा का कर्ता है, यहाँ इसके कृतित्व की प्रकृति एक समान (एकज)[1] है: यही सब में अव्यय तथा भूतों का स्रोत है।

[1] इस व्युत्पत्ति में 'कृति' का 'कर्तृ' द्वारा व्याख्या की गई है। यहाँ तात्पर्य यह है कि जहाँ अनेक प्रकार के 'स्वाहा' हैं, वहाँ इनका कर्ता केवल एक अग्नि ही है जो समस्त भूतों का स्रोत है (तु० का० ऊपर १. ६१)।

७–तनूनपात् और नराशंस : ऋग्वेद १. १४ और १५ के देवता

तनूनपाद्द्वितीया च नराशंसवती च या।
समस्त्येते प्रयोक्तृव्ये त्रिष्वेवोभयवत्सु तु ॥ ३१ ॥

द्वितीय (ऋचा) में तनूनपात् तथा जिसमें नराशंस भी हो, ऐसा समस्त प्रयोग करने वाले केवल तीन[1] सूक्त ही हैं, जिनमें यह दोनों[2] ही मिलते हैं।

[1] देखिये ऊपर २. १५५।
[2] अर्थात् तनूनपात् और नराशंस।

नराशंसवती वा स्याद् द्वितीया च प्रजार्थिनाम्।
बलकामोऽन्नकामो वा भूतिमिच्छेदथापि यः ॥ ३२ ॥

नराशंस तथा साथ ही साथ द्वितीय[1] से युक्त ऋचा उनकी हो सकती है जिन्हें सन्तान की कामना, बल की कामना, अथवा अन्न की कामना, या समृद्धि की कामना होती है।

[1] अर्थात् 'तनूनपात्' से युक्त।

आग्नेयं सूक्तमैभिर्यद् वैश्वदेवमिहोच्यते।
तद्विश्वलिङ्गं गायत्रं वैश्वदेवेषु शस्यते ॥ ३३ ॥

अग्नि[1] का आवाहन करने वाला सूक्त 'ऐभि' (ऋग्वेद १. १४) का, जिसे यहाँ विश्वेदेवों को सम्बोधित कहा गया है, विश्वेदेव-सूक्तों के अन्तर्गत उच्चारण किया जाता है क्योंकि गायत्री छन्द में होने के कारण इसमें 'विश्वत्व'[2] का लिङ्ग वर्तमान है।

[1] सम्बोधन के रूप में इस सूक्त में केवल अग्नि का ही आवाहन किया गया है, किन्तु इसमें ऐसे देवों का, जिनका तीन बार 'विश्वे' शब्द के साथ चर्चा है, अनेक बार उल्लेख है। साथ ही अनेक वैयक्तिक देवों का भी (३ और १० मन्त्रों में) उल्लेख है। तु० का० नीचे ३. ५१।
[2] तु० की० नीचे ३. ४३ और ऊपर २. १२८, १३३, १३४।

इन्द्र सोमं पिबेतीदं यद्द्वादशकमार्तवम् ।
तस्मिन्सहर्तुना सप्त प्रत्यृचं स्तौति देवताः ॥ ३४ ॥

बारह ऋचाओं वाले तथा ऋतुओं[1] को सम्बोधित 'इन्द्र सोमं पिब' (ऋग्वेद १. १५) सूक्त ऋतु के साथ-साथ ऋचाओं में सात देवों[2] की स्तुति करता है।

[1] अर्थात् 'ऋतुयाजस्' के देव; तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण २. २९।

[2] जिनकी नीचे ३७ वें तथा ३८ वें श्लोक में गणना कराई गई है।

सऋतुनेति षट्स्वृक्षु चतसृष्वृतुभिः सह ।
पुनर्द्वयोर्ऋतुनेति बहुत्वैकत्वलक्षिताः ॥ ३५ ॥

इसमें देवों को छः ऋचाओं (१–६) में 'ऋतु' के साथ, चार में 'ऋतुओं' के साथ तथा पुनः दो में 'ऋतु' के साथ बहुवचन तथा एकवचन में व्यक्त किया गया है।[1]

[1] जहाँ तक ऋग्वेद के इस सूक्त का प्रश्न है, यह वक्तव्य कुछ अनुमानात्मक ही है ('ऋतुना', १–४ और ६ में आता है, जब कि ५ में 'ऋतूँर्' है; 'ऋतुभिः' केवल ९ और १० में आता है, और ७ तथा ८ में 'ऋतु' का कोई भी रूप नहीं है; ११ और १२ में 'ऋतुना' आता है); किन्तु ऋतु स्तुति के लिये बारह 'प्रैषों' का इसमें बिल्कुल ठीक-ठीक वर्णन है, देखिये तैत्तिरीय संहिता ६. ५, ३, ऐतरेय ब्राह्मण २. २९, २–४।

८–ऋतुओं को समर्पित सूक्त : ऋग्वेद १. १५।

ऋतवो देवताभिश्च निपातेनेह संस्तुताः ।
तथर्तुप्रैषसूक्ते च तथा गार्त्समदेऽपि च ॥ ३६ ॥

यहाँ देवों के साथ ऋतुओं की केवल नैपातिक स्तुति है। ऋतुओं को समर्पित प्रैष-सूक्त तथा गृत्समद[1] के सूक्त में भी ऐसी ही स्थिति है।

[1] अर्थात् ऋग्वेद २. ३६; तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ५. ९, ६।

मुख्यया त्विन्द्रमेवास्तौन् मरुतस्तु द्वितीयया ।
तृतीयया तु त्वष्टारं चतुर्थ्या चाग्निमेव च ॥३७॥
पञ्चम्या तु पुनः शक्रं षष्ठ्या देवावृतावृधौ ।
सप्तम्याद्याभिरग्निं च चतुर्भिर्द्रविणोदसम् ॥३८॥

उसने (ऋषि ने) प्रथम[1] ऋचा से इन्द्र की, द्वितीय से मरुतों की, तृतीय से त्वष्टा[2] की, और चतुर्थ से अग्नि की स्तुति की; पुनः पाँचवें से शक्र

(इन्द्र) को, छठवें से सत्य में वृद्धि को प्राप्त करने वाले देवों (मित्र-वरुण) की, और सातवें से आरम्भ होने वाली चार ऋचाओं (७–१०) में अग्नि द्रविणोदस् की स्तुति की।

[1] 'मुख्यया' के साथ नीचे ५ २ के 'मुखे तु या' की तुलना कीजिये।
[2] ऋतु सूक्तों में त्वष्टा के लिये तु० की० ऊपर ३ १५।

आदेशाद्दैवतं ज्ञेयम् ऋङ्मन्त्राणां न लिङ्गतः।
न शक्यं लिङ्गतो ह्यासां ज्ञातुं तत्त्वेन दैवतम् ॥ ३९ ॥

ऋग्वेद के मन्त्रों के देवताओं को लिङ्ग के आधार पर नहीं वरन् आधिकारिक वक्तव्यों[1] के आधार पर ही जानना चाहिये; क्योंकि मन्त्रों के लिङ्ग[2] के आधार पर उनके देवताओं का तत्त्वतः ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता।

[1] तु० की० नीचे ८ १००।
[2] अर्थात् अग्नि को उनके वास्तविक नहीं वरन् उस लाक्षणिक नाम 'द्रविणोदस्' से ही व्यक्त किया गया है जो किसी अन्य देवता का भी द्योतक हो सकता है (यद्यपि यह अग्नि की एक सुविख्यात उपाधि है, तु० की० ऊपर १ १०६, २ ७५, किन्तु देखिये नीचे ३ ६१)।

एकादश्या तु नासत्यौ द्वादश्याग्निमिमं पुनः।
पृथक्पृथक्स्तुतीदं तु सूक्तमाह रथीतरः ॥ ४० ॥

ग्यारहवें से वह नासत्यों का, तथा बारहवें से पुनः इस अग्नि की स्तुति करता है। फिर भी, रथीतर का कथन है कि इस सूक्त में पृथक्-पृथक् स्तुतियाँ हैं।[1]

[1] दूसरे शब्दों में यह एक 'पृथक्स्तुति' है जो विश्वेदेवों को समर्पित तीन प्रकार के स्तुति सूक्तों में से एक है, तु० की० नीचे ४२ वाँ श्लोक।

९–विश्वेदेवों को समर्पित तीन प्रकार के सूक्त

बहुदैवे द्विदैवे वा गुणैर्वा यत्र कर्मजैः।
स्तूयते देवतैकैका विभक्तस्तुति तद्विदुः ॥ ४१ ॥

जहाँ अनेक देवताओं अथवा दो दो देवताओं वाले सूक्त में प्रत्येक देवता की अकेले[1] उसके कर्म[2] से उत्पन्न गुणों के आधार पर स्तुति की गई हो, उसे 'विभक्त-स्तुति'[3] मानते हैं।

[1] तु० की० नीचे ३ ८२, जहाँ 'एकवत्' (एकवचन में) का प्रयोग किया है।
[2] तु० की० ऋग्वेद ८. २९, पर नीचे ६ ६९।

[3] यास्क ने निरुक्त ७ ८ में 'सस्तव' (सम्मिलित स्तुति) के विपरीत 'विभक्ति-स्तुति' के लिये ऋग्वेद १०. १७, ३ का उदाहरण दिया है जहाँ पूषन् और अग्नि की पृथक्-पृथक् एकवचन में स्तुति की गई है।

वैश्वदेवानि सूक्तानि त्रिविधानि भवन्ति तु।
सूर्यसंस्तवसंयुक्तं विश्वलिङ्गं पृथक्स्तुति ॥ ४२ ॥

विश्वेदेव-सूक्त तीन प्रकार के होते हैं: जिसमें सूर्य के साथ सम्मिलित स्तवन होता है (सूर्य-संस्तव), जिसमें 'विश्व-लिङ्ग' होता है, और वह जिसमें 'पृथक्-स्तुति' होती है।

पृथक्स्तुतीति यत्प्रोक्तं तद्विद्याद्बहुदैवतम्।
विश्वलिङ्गं तु तत्र विश्वैः स्वैः कर्मजैर्गुणैः ॥ ४३ ॥

जिसे 'पृथक्-स्तुति' कहते हैं उसे अनेक देवताओं को सम्बोधित मानना चाहिये; जो 'विश्व-लिङ्ग'[1] से युक्त होता है उसमें देवों की उनके कर्म[2] से उत्पन्न 'विश्व'[3] गुणों के साथ स्तुति की जाती है।

[1] 'विश्व-लिङ्ग' शब्द निरुक्त १२. ४० में आता है जहाँ यास्क ने शाकपूणि का यह मत उद्धृत किया है कि केवल उन्हीं सूक्तों को 'वैश्वदेव' कहते हैं जिनमें विशेष लक्षण शब्द 'विश्वे' प्रयुक्त होता है।
[2] तु० की० नीचे ६. ६९।
[3] तु० की० ऊपर २. १३४।

विश्वानुद्दिश्य यद्देवान् स्तौति सूर्यमनेकधा।
देवानेवाभिसंस्तौति तं प्राहुः सूर्यसंस्तवम् ॥ ४४ ॥

जो विश्वेदेवों को उद्दिष्ट करके अनेकधा सूर्य की स्तुति करते हुये इन देवों की भी स्तुति करता है, उसे 'सूर्य-संस्तव' कहते हैं।

न तु भागस्य सूक्तादौ सूक्तेष्वेवौपसेषु वा।
न सावित्रे ह्वयामीति न सूर्यायां क्रतौ मखे ॥ ४५ ॥

किन्तु यह शब्द (विश्वदेव) भग[1] के सूक्त के आरम्भ में व्यवहृत नहीं होता; और न यह उषस् के या सवितृ के सूक्त 'ह्वयामि'[2] (ऋग्वेद १. ३५) में, या सूर्या के सूक्त[3] में ही यज्ञात्मक दृष्टि से प्रयुक्त होता है।

[1] 'भागस्य सूक्तादौ' = 'भागस्य सूक्तस्यादौ: ऋग्वेद में भग को समर्पित एक मात्र सूक्त ७. ४१ की प्रथम ऋचा में अनेक अन्य देवों का तो उल्लेख है किन्तु 'वैश्वदेवों' का नहीं।

[2] इस सूक्त की प्रथम ऋचा में यद्यपि सवितृ को अनेक अन्य देवों के साथ सम्बद्ध किया गया है, किन्तु यह 'वैश्वदेवी' नहीं है।

[3] ऋग्वेद १० ८१ की प्रथम ऋचा के सम्बन्ध में भी उपरोक्त टिप्पणी की जा सकती है।

१०-किसी सूक्त के देवता का निर्णय कैसे किया जाय

न चैवैवं प्रवादेषु मन्त्रेष्वन्येषु केषुचित् ।
न च यत्र सजोषेति पदं वा स्यात्सजूरिति ॥ ४६ ॥

और न तो इसी प्रकार किसी अन्य ऐसे मन्त्र में इसका प्रयोग होता है जो प्रवाद[1] हों, अथवा जिसमें 'सजोषा.' या 'सजू' शब्द आये हों।

[1] अर्थात् जहाँ केवल नामों का ऐसा उद्धरण हो जिसमें आह्वान निहित न हो।

यस्मिन्प्रसङ्गादपि तु बह्वीनां परिकीर्तनम् ।
वैश्वदेवं तदप्याह स्थविरो लामकायनः ॥ ४७ ॥

किन्तु वृद्ध लामकायन ऐसे सूक्तों तक को विश्वेदेवों को सम्बोधित मानते हैं जिनमें अनेक देवताओं की केवल प्रसङ्गवश ही प्रशस्ति होती है।

असंस्तुतं स्तुतं वापि प्रदिष्टं दैवतं क्वचित् ।
मन्त्रैस्तदृषयोऽर्चन्ति तां तु बुध्येत शास्त्रवित् ॥ ४८ ॥

ऐसे देवता की, जिसकी स्तुति हो अथवा नहीं, किन्तु जिसके नाम का सूक्त में कहीं न कहीं[1] संकेत हो, द्रष्टागण मन्त्रों से अर्चना करते हैं। शास्त्रविद् को ऐसे देवता पर ध्यान देना चाहिये।

[1] तु० की० नीचे का श्लोक, देखिये ऊपर १ २२ भी।

आदौ हि मध्ये चान्ते च पृथक्त्वेषु च कर्तृभिः ।
कर्माण्यनपदिष्टानि प्रदिष्टान्यपि तु क्वचित् ॥४९ ॥

(देवों के) कर्मों को चाहे उनके प्रतिनिधि नामों[1] द्वारा ही क्यों न व्यक्त किया गया हो, उनका कहीं न कहीं, आरम्भ में, मध्य में, अन्त में, अथवा पृथक् स्थलों पर निर्देश[2] अवश्य होता है।

[1] अर्थात् इन कर्मों को करने वाले देवों के नाम का उल्लेख नहीं भी हो सकता, जैसे ऋग्वेद ८ २९ में है।

[2] अर्थात् इन्हें उन देवों के साथ सम्बद्ध अवश्य किया जाता है जिनकी ये विशिष्टतायें होते हैं।

कर्मैव तावत्सावित्र्यां निविदि स्तौति कर्मणा।
यद्धेनुः सप्त्यनड्वाहौ वोळ्हा दोग्ध्र्याशुरेव वा ॥५०॥

सवितृ के निविद्[1] में स्वयं कर्म ही द्वारा कर्म की स्तुति की गई है।[2] क्योंकि धेनु, अनड्वाह और बैल को (क्रमशः) दोहन करने वाला, द्रुतगामी अथवा वाहक[3] कहा गया है।

[1] ऋग्वेद १ २४, ३ सावितृ का 'निविद्' है; तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ५. १७, ७।

[2] तु० की० नीचे ३ ७८; ऊपर १. ७ ('स्तुनिस् तु कर्मणा', इत्यादि) भी देखिये।

[3] वाजसनेयि संहिता २२. २२ में : 'दोग्ध्री धेनुर् वोढानड्वान् आशुः सप्तिः', इसे कुछ विभेद के साथ नीचे ३ ७९ में उद्धृत किया गया है।

११-प्रसंगात्मक देवता तथा सूक्त का स्वामित्य। वैश्वदेव सूक्तों के प्रथ

भागे यत्स्तौति चाग्न्यादीन् मित्रादींश्चाश्वसंस्तुतौ।
यदैभिरिति चैतस्मिन् वैश्वदेवेऽग्निमर्चति ॥ ५१ ॥
तदाहुरादावन्ते च प्रायशोऽन्या स्तुवन्नृचः।
प्रतियोगात्प्रसङ्गाद्वा स्तौत्यन्यामपि देवताम् ॥ ५२ ॥

जब कभी कोई (ऋषि) अग्नि तथा अन्य की 'भग'[1] के सूक्त (ऋग्वेद ७. ४१) द्वारा और मित्र तथा अन्य की अश्व की प्रशस्ति (ऋग्वेद १. १६२)[2] द्वारा स्तुति, और विश्वदेव[3] सूक्त 'ऐभि' (ऋग्वेद १. १४) द्वारा अग्नि की अर्चना करता है, तो वहाँ ऐसा कहा गया है यद्यपि वह अपने स्तवन[4] अधिकांशतः (किसी सूक्त के) आदि तथा अन्त[4] में अन्य ऋचाओं[5] का [illegible]हार करता है, तथापि वह साथ ही साथ प्रतियोग से अथवा प्रसंगशः अन्य देवताओं की भी स्तुति करता है।[6]

[1] अर्थात् प्रथम मन्त्र में; देखिये ऊपर ३. ४५।

[2] अर्थात् प्रथम मन्त्र में।

[3] देखिये ऊपर ३. ३३ : 'आग्नेयं सूक्तम्……वैश्वदेवम् इहोच्यते', तु० की० नीचे ३. १४१।

[4] तु० की० ऊपर १. २२, और नीचे ५. १७१।

[5] अर्थात् सूक्त के मध्य में प्रयुक्त छन्दों से भिन्न ऋचायें। उदाहरण के लिये भग-सूक्त (ऋग्वेद ७ ४१) की प्रथम ऋचा 'जगती' छन्द में तथा शेष 'त्रिष्टुभ्' में हैं; सवितृ-सूक्त या (ऋग्वेद १. ३५), जिसका इसी सन्दर्भ में ऊपर (४५ वें श्लोक में) उल्लेख किया जा चुका है, प्रथम मन्त्र भी 'जगती' तथा शेष त्रिष्टुभ्' में है।

[6] अर्थात् किसी सूक्त की प्रथम और अन्तिम ऋचा में छन्द तथा देवता की दृष्टि से अक्सर विभेद होता है।

यस्यां वदत्यर्थवादान् सा ज्ञेया सूक्तभागिनी ।
यां तु स्तौति प्रसङ्गेन सा विज्ञेया निपातिनी ॥ ५३ ॥

उस देवता को, जिसे वह किसी अर्थ प्राप्ति[1] के लिये सम्बोधित करता है, सूक्त का भागी माना जाता है, किन्तु जिसकी वह केवल प्रसगश स्तुति करता है, उसे नेपातिक[2] मानना चाहिये ।

[1] तु० की० ऊपर १ ९ 'अर्थ मुक्तम्' ।
[2] तु० की० १ १७, १८ ।

१२-वैश्वदेव सूक्तों के द्रष्टाओं की गणना

चतुर्धा भण्यते तस्मिन् सूक्ते वा सूक्तभागिनी ।
यस्मिन्सर्वास्तु राजर्षीन् ऋषीन्वापि स्तुवन्नृषिः ॥ ५४ ॥
मेधातिथिरगस्त्यस्तु बृहदुक्थो मनुर्गयः ।
ऋजिश्वा वसुकर्णश्च शार्यातो गोतमो लुशः ॥ ५५ ॥
स्वस्त्यात्रेयः परुच्छेपः कक्षीवान् गाधिनौर्वशौ ।
नाभाकश्चैव निर्दिष्टो दुवस्युर्ममतासुतः ॥ ५६ ॥
विहव्यः कश्यप ऋषिर् अवत्सारश्च नाम यः ।
वामदेवो मधुछन्दाः पार्थो दक्षसुतादितिः ॥ ५७ ॥
जुहूर्गृत्समदश्चर्षिर् देवाः सप्तर्षयश्च ये ।
यमोऽग्निस्तापसः कुत्सः कुसीदी त्रित एव च ॥ ५८ ॥
बन्धुप्रभृतयश्चैव चत्वारो भ्रातरः पृथक् ।
विष्णुश्च नेजमेषश्च नाम्ना संवननश्च यः ॥ ५९ ॥

यह कहा जा सकता है कि ऐसे सूक्तों में सूक्त के भागी देवता को चार प्रकार से निर्दिष्ट[1] किया जाता है जिनमें कोई द्रष्टा समस्त राजर्षियों अथवा ऋषियों की इन नामों से स्तुति करता है :

मेधातिथि[2], अगस्त्य[3], बृहदुक्थ[4], मनु[5], गय[6], ऋजिश्वन्[7], वसुकर्ण[8], शार्यात[9], गोतम[10], लुश[11], स्वस्त्यात्रेय[12], परुच्छेप[13], कक्षीवत्[14], गाधिन के पुत्र (विश्वामित्र)[15], और उर्वशी के पुत्र (वसिष्ठ)[16], नाभाक[17], दुवस्यु[18], और ममता के पुत्र (दीर्घतमस्)[19], विहव्य[20], ऋषि कश्यप[21], और वह जिनका नाम अवत्सार[22], है, वामदेव[23], मधुछन्दस्[24], पार्थ[25], दक्ष की पुत्री

अदिति[१९]; जुहू[१७], और ऋषि गृत्समद[२८], और वह जो दिव्य सप्तर्षि हैं[२९], यम[३०], अग्नितापस[३१], कुत्स[३२], कुसीदिन्[३३], और त्रित[३४]; और चार बन्धु[३५], तथा यही पृथक्-पृथक् भी[३६], विष्णु[३७], और नेजमेष[३८], और वह जिनका नाम संवनन[३९] है।

[१] ५५-५९ वें श्लोक में गिनाये गये सैंतीस नाम (नाभाक' के अतिरिक्त) वैश्वदेव-सूक्तों के प्रसिद्ध द्रष्टा हैं। ५५-५७ वें श्लोक में आनेवाले चौबीस पुरुष-नामों म से सत्रह का ऊपर (२.१२९-१३१) दी हुई वैश्वदेव सूक्तों के द्रष्टाओं की सूची में नाम आता है।

[२] ऋग्वेद १. १४ का द्रष्टा।

[३] ऋग्वेद १. १८९ का द्रष्टा।

[४] ऋग्वेद १० ५६ का द्रष्टा।

[५] ऋग्वेद ८ २७-३० के द्रष्टा।

[६] ऋग्वेद १० ६३. ६४ के द्रष्टा।

[७] ऋग्वेद ६ ४९-५२ के द्रष्टा।

[८] ऋग्वेद १०. ६५. ६६ के द्रष्टा।

[९] ऋग्वेद १०. ९२ के द्रष्टा।

[१०] ऋग्वेद १ ८९. ९० के द्रष्टा।

[११] ऋग्वेद १० ३५. ३६ के द्रष्टा।

[१२] ऋग्वेद ५. ५०. ५१ के द्रष्टा।

[१३] ऋग्वेद १. १३९ का द्रष्टा।

[१४] ऋग्वेद १ १२१ १२२ के द्रष्टा।

[१५] ऋग्वेद १. ३, ७-९, १०. ११७, ५, के द्रष्टा; इन्हें किसी सम्पूर्ण वैश्वदेव सूक्त के प्रणयन का श्रेय नहीं दिया गया है।

[१६] ऋग्वेद ७. ३४-३७. ३९. ४०. ४२-४३ के द्रष्टा।

[१७] नाभाक (ऋग्वेद ८. ३९-४२का द्रष्टा) को किसी भी वैश्वदेव-सूक्त अथवा ऋचा का द्रष्टा नहीं कहा गया है। दूसरी ओर, नाभानेदिष्ट, जिसका वैश्वदेव-सूक्तों के द्रष्टाओं की एक भिन्न तालिका (ऊपर २. १२९-१३१) में उल्लेख है, दो वैश्वदेव सूक्तों (ऋग्वेद १०. ६१. ६२) का द्रष्टा है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'निर्दिष्टो' शब्द कदाचित् 'नेदिष्ठो' का ही एक भ्रष्ट पाठ है।

[१८] ऋग्वेद १०. १०० का द्रष्टा।

[१९] ऋग्वेद १. १६४ का द्रष्टा।

[२०] ऋग्वेद १०. १२८ का द्रष्टा।

[२१] ऋग्वेद १०. १३७, २, और ८. २९ का द्रष्टा।

[२२] ऋग्वेद ५. ४४ का द्रष्टा।

[२३] ऋग्वेद ४. ५५ का द्रष्टा।

[२४] ऋग्वेद १. ३, ७-९ का द्रष्टा।

[२५] अर्थात् ऋग्वेद १०. ९३ का द्रष्टा 'तान्व पार्थ'।

[२६] अर्थात् 'अदिति दाक्षायणी' जो ऋग्वेद १०. ७२ की ऋषि हैं; तु० की० सर्वानुक्रमणी; आर्षानुक्रमणी १०. २९।

[२७] ऋग्वेद १०. १०९ का द्रष्टा।

[२८] ऋग्वेद २. २९. ३१ के द्रष्टा।

[२९] ऋग्वेद १०. १३७ का द्रष्टा।

[३०] ऋग्वेद १०. १४ तथा १०. १० के एक अंश के द्रष्टा।

[३१] ऋग्वेद १०. १४१ के द्रष्टा।

[३२] ऋग्वेद १०६ १०७ के द्रष्टा और १. १०५ के वैकल्पिक द्रष्टा भी।

[३३] ऋग्वेद ८. ८३ का द्रष्टा।

[३४] ऋग्वेद १०. १-७ के द्रष्टा और १. १०५ के वैकल्पिक द्रष्टा।

[३५] ऋग्वेद ५ २४ और १०. ५७-६० के द्रष्टागण।

[३६] अर्थात् ऋग्वेद ५. २४ में; तु० की० आर्षानुक्रमणी ५. ११, जहाँ इनके नामों की गणना कराई गई है और

इन्हें 'एकर्षा' कहा गया है। सर्वानुक्रमणी में भी यही उक्तिदुहराइगई है।

[17] ऋग्वेद १० १८४ का द्रष्टा।

[18] ऋग्वेद १० १८४ के बाद खिल का द्रष्टा।

[19] ऋग्वेद १० १९१ का द्रष्टा।

एते तु सर्व एवास्य विश्वैः स्वैः कर्मजैर्गुणैः।
समस्तैरथ च व्यस्तैः पृथक्सूक्तेषु तुष्टुवुः॥ ६० ॥

इन सब ने पृथक् पृथक् सूक्तों में उसकी (विश्वदेव की) कर्मों[1] से उत्पन्न 'विश्वे' गुणों के साथ स्तुति की है, चाहे इन गुणों का सामूहिक रूप से अथवा पृथक् पृथक् ही उल्लेख हो।

[1] अर्थात् वैश्वदेव सूक्तों के द्रष्टा इन सूक्त में अग्नि का स्तुति वैश्वदेव' गुणों के साथ करते हैं, जैसा ऋग्वेद १ १४ में है तु० का० ऊपर ३ ३३ और ३ ११४

१३–द्रविणोदस् की व्याख्या। ऋग्वेद १ १६–१८ के देवता

पार्थिवो द्रविणोदोऽग्निः पुरस्ताद्यस्तु कीर्तितः।
तमाहुरिन्द्रं दातृत्वाद् एके तु बलवित्तयोः॥ ६१ ॥

अब 'द्रविणोद' को, जिसे ऊपर (३ ३८) पार्थिव अग्नि कहा गया है, कुछ लोग इसलिये इन्द्र[1] कहते हैं कि यह शक्ति अथवा धन[2] का दाता है।

[1] तु० का० निरुक्त ८ २, जहाँ यह कहते हुये कि 'क्रोष्टुकि के विचार से द्रविणोदस्' इन्द्र है, इस मत का प्रतिवाद किया गया है।

[2] तु० का० ऊपर २ २५, जहाँ कुत्स द्वारा अग्नि को द्रविणोदस् कहे जाने का यही कारण बताया गया है।

अयं हि द्रविणोदोऽग्निर् अयं दाता बलस्य हि।
जायते च बलेनायं मथ्यत्यृषिभिरध्वरे॥ ६२ ॥

यह पार्थिव अग्नि ही द्रविणोद है, क्योंकि यह शक्ति[1] के दाता और शक्ति द्वारा उत्पन्न हुये हैं, अर्थात् यज्ञ के समय ऋषिगण इसका ही मन्थन[2] करते हैं।

[1] तु० का० ऊपर २ २५।

[2] तु० का० निरुक्त ८ २ 'बलेन मथ्यमानो जायते।'

हवींपि द्रविणं प्राहुर् हविषो यत्र जायते।
दातारश्चर्त्विजस्तेषां द्रविणोदास्ततः स्वयम्॥ ६३ ॥

वह हवि को द्रव्य (द्रविण)[1] कहते हैं क्योंकि यह हवि से ही उत्पन्न होता है, अब, यत ऋत्विज ही हविदाता[2] होते हैं, अत वही स्वय 'द्रविणोद'[3] भी हैं।

[1] तु० का० ऊपर २ २५, और निरुक्त ८ १।

[२] तु० की० निरुक्त ८. २ : 'ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस उच्यते हविषो दातारः ।'

[३] बहुवचन 'द्रविणोदः' ऋग्वेद १. ५३, १ में आता है। यास्क ने केवल 'द्रविणोदस्' रूप ही व्यवहृत किया है।

ऋषीणां पुत्र इत्येषां दृश्यते सहसो यहो ।
मध्यमाद्वा यतो जज्ञे तस्माद्वा द्राविणोदसः ॥ ६४ ॥

अथवा यह (अग्नि) इसलिये द्राविणोदस कहे जाते हैं कि यह 'ऋषियों के पुत्र'[१], और 'बल के पुत्र'[२] आदि उक्तियों द्वारा इनके साथ संयुक्त प्रतीत होते हैं; अथवा इसलिये कि यह मध्य[३] (अग्नि) से उत्पन्न हुये थे।

[१] तु० की० निरुक्त ८. २ : "यथो एतद् : अग्निं द्राविणोदसम् आहेति: ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस.......ते चैनं जनयन्ति, 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एष' इत्य अपि निगमो भवति ।" 'ऋषीणां पुत्रः' शब्द वाजसनेयि संहिता ५. ४ में आता है।

[२] अग्नि को ऋग्वेद में अक्सर 'सहसो यहो' (१. २६, १० इत्यादि) के रूप में सम्बोधित किया गया है। तु० की० निरुक्त ८. २ : 'बलेन मथ्यमानो जायते, तस्माद् एनम् आह सहसस् पुत्रं, सहसः सूनुं, सहसो यहुम्'। 'ऋषीणां पुत्रः' की व्याख्या में 'सहसो यहो' का इस अर्थ में प्रयोग किया गया है कि ऋत्विजगण शक्ति के द्वारा अग्नि को उत्पन्न करते हैं (देखिये ऊपर ६२वाँ श्लोक)

[३] अर्थात् 'द्रविणोदस्' से व्युत्पन्न होने के कारण इन्हें 'द्राविणोदस' कहते हैं। तु० की निरुक्त ८. २ : 'अथाप्य् अग्निं द्राविणोदसम् आह : एष पुनर् एतस्माज् जायते ।'

द्रविणोदोऽग्निरेवायं द्रविणोदास्तदोच्यते ।
आग्नेयेष्वेव दृश्यन्ते प्रवादा द्रविणोदसः ॥ ६५ ॥

यह पार्थिव अग्नि ही धन के दाता (द्रविणोद) हैं; इसी लिये[१] इन्हें 'द्रविणोदस्' कहते हैं : केवल अग्नि को सम्बोधित सूक्तों में ही 'द्रविणोदस्' के प्रवाद दृष्टिगत होते हैं।[२]

[१] अर्थात् जब यह पार्थिव होते हैं।

[२] तु० की० निरुक्त ८. २ : 'अयम् एवाग्निर् द्रविणोदा इति शाकपूणिः : आग्नेयेष्व् एव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति ।'

१४—ऋग्वेद १. १८ के देवता। प्रजापति के आठ नाम

ऐन्द्रस्य नवकस्येह यदैन्द्रावरुणं परम् ।
तस्योत्तरं च सोमानं स्तूयते ब्रह्मणस्पतिः ॥ ६६ ॥
ऋग्भिः पञ्चभिराद्याभिस् तिसृभिः सदसस्पतिः ।
नराशंसोऽन्त्यया चर्चा सोमेन्द्रौ तु निपातितौ ॥६७॥

चतुर्थ्यां सोम इन्द्रश्च पञ्चम्यां दक्षिणाधिका ।
प्रसङ्गादृषिणा प्रोक्ताः सम्बन्धा स्थानलोकयोः ॥ ६८ ॥

यहाँ इन्द्र को समर्पित नौ ऋचाओं के सूक्त (ऋग्वेद १. १६) के बाद जो आता है वह इन्द्र-वरुण (१. १७) को सम्बोधित है। इसके बाद का 'सोमानम्' (ऋग्वेद १. १८) है जिसमें प्रथम पाँच ऋचाओं में ब्रह्मणस्पति की स्तुति है।

इसके बाद की तीन ऋचाओं (६–८) में सदसस्पति की, और अन्तिम ऋचा (९वीं) में नराशंस की स्तुति है, चतुर्थ में सोम-इन्द्र की नैपातिक स्तुति है; और पाँचवीं में सोम और इन्द्र तथा दक्षिणा की भी। ऋषि ने स्थान और लोक[1] के सम्बन्ध की प्रसङ्गवशात् घोषणा की है।

[1] अर्थात् देवों का अवसर इसलिये साथ साथ उल्लेख होता है कि स्थान और लोक (पार्थिव, अथवा अन्तरिक्षीय, अथवा दिव्य) की दृष्टि से वह सम्बद्ध होते हैं।

प्राजापत्यं तथेन्द्रः स्याद् इति तस्येह नामनी ।
कथिते द्वे च षट् चान्यान्य् एषां चाद्यः प्रजापतिः ॥६९॥

इस प्रकार, प्रजापति का एक नाम इन्द्र[1] हो सकता है : इस सिद्धान्त के आधार पर इनके[2] दो नामों का यहाँ उल्लेख है। इनके अतिरिक्त छः और भी हैं; प्रजापति इनमें से प्रथम है।

[1] क्योंकि यहाँ उल्लिखित प्रजापति के आठ नामों में से चार, अर्थात् ब्रह्मणस्पति, वाचस्पति, 'क' और प्रजापति, नैघण्टुक ५. ४ में इन्द्र स्थानीय देवताओं की तालिका में आते हैं।

[2] अर्थात् ६६ वें में 'ब्रह्मणस्पति' और ६७ वें में 'सदसस्पति'।

शिष्टानि यानि नामानि तानि वक्ष्याम्यतः परम् ।
सत्पतिः कश्च कामश्च सदसस्पतिरेव च ॥७०॥
इळस्पतिर्वाचस्पतिस् ततस्तु ब्रह्मणस्पतिः ।
तृतीयान्त्ये तु सूक्तस्य प्रथमं पञ्चमं च यत् ॥७१॥

अब मैं शेष नामों का उल्लेख करूँगा —'सत्पति', क, काम, और सदसस्पति; इळस्पति, वाचस्पति, और फिर ब्रह्मणस्पति : किसी सूक्त[1] में इनमें से तृतीय[3] और अन्तिम[4], तथा प्रथम[5] और पाँचवें[6] आते हैं;

[1] 'सत्पति' नघण्टुक में नहीं आता। ऋग्वेद में यह प्रमुखतः इन्द्र की उपाधि है (तु० की० ऊपर ६९)। प्रजापति के इन नामों में से छः 'पति' से अन्त होते हैं।

[2] यहाँ 'सूक्तस्य' की 'एक सूक्त अथवा सूक्तांश में आनेवाला' के रूप में ही व्याख्या की जानी चाहिये, 'सूक्तभाज्' के समानार्थी के रूप में नहीं, क्योंकि 'क' अथवा 'सदसस्पति' को कोई भी सम्पूर्ण सूक्त समर्पित नहीं किया गया है।

[3] अर्थात् 'क'। प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल एक ऋचा (ऋग्वेद १. २४, १) ही 'क' को समर्पित बताई गई है।

[4] अर्थात् 'ब्रह्मणस्पति', जिसे अनेक सूक्त समर्पित हैं।

[5] अर्थात् 'प्रजापति' जिसे ऋग्वेद १०. १२१ सम्बोधित है।

[6] अर्थात् 'सदसस्पति', जिसे ऋग्वेद की तीन ऋचायें (१. १८, ६-८) ही सम्बोधित हैं।

१५–प्रजापति के नाम (क्रमशः)। ऋग्वेद १. १९ के देवता।

चतुर्भिरितरैस्त्वेनं न सूक्तं नाप्यृगश्नुते।
सर्वाण्येव तु सर्वासां देवतानां प्रजापतेः॥ ७२॥
नामानि कथयन्त्येते सम्यग्भक्तिदिदृक्षवः।
तदाहुर्नैतदेवं स्याद् अष्टानामेव हि स्मृतः॥ ७३॥

जब कि अन्य चार नामों से इनका न तो कोई सूक्त है और न कोई ऋचा। अब भक्ति में सम्यग् दृष्टि की इच्छा रखनेवाले कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि सभी देवताओं के सभी नाम प्रजापति[1] के ही हैं। इस सम्बन्ध में (अन्य लोगों का) यह कथन है कि ऐसा नहीं होना चाहिये, क्योंकि इनकी (प्रजापति की) केवल आठ नामों वाले के रूप में ही स्मृति की जाती है,

[1] क्योंकि यह सभी के स्रोत हैं; तु० की० ऊपर १. ६२।

तैरेव चास्य कल्प्यन्ते क्रतवश्च हवींषि च।
मरुद्भिर्मध्यमस्थानैर् अयमग्निस्तु पार्थिवः॥ ७४॥
नवकेनेह सूक्तेन प्रति त्यमिति संस्तुतः।
मरुतां साहचर्यात्तु सूक्तेऽस्मिन्नाग्निमारुते॥ ७५॥
मन्यते मध्यमं चैव यास्कोऽग्निं न तु पार्थिवम्।
स्यादयं पार्थिवस्त्वेव तथा रूपं हि दृश्यते॥ ७६॥

और केवल इन्हीं नामों से इन्हें यज्ञ तथा हवि समर्पित किये जाते हैं।

अब, उन मरुतों के साथ जो मध्य-स्थानीय हैं, इस पार्थिव अग्नि की यहाँ नौ ऋचाओं वाले 'प्रतित्यम्' (ऋग्वेद १. १९) सूक्त से स्तुति की गई है।

किन्तु अग्नि तथा मरुतों को सम्बोधित इस सूक्त में मरुतों के साथ इनके सम्बन्ध के कारण यास्क[1] का विचार है कि यहाँ पार्थिव नहीं वरन् मध्यम अग्नि का तात्पर्य है। किन्तु यह केवल पार्थिव अग्नि ही हो सकते हैं, क्योंकि यहाँ इनका ऐसा ही रूप है।

[1] ऋग्वेद १. १९ की प्रथम ऋचा पर टिप्पणी करते हुए यास्क (निरुक्त १० ३६) यह कहते हैं 'कम अन्य मध्यमाद् एवम् अवक्ष्यत् ?'

१६—किसी ऋचा, इत्यादि, के देवता का किस प्रकार निर्धारण करना चाहिए।

हूयसे पीतये चेति वैद्युते न तदस्ति हि।
अथ स्यादभिधानस्य देवतायाः पृथक् पृथक् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार की स्तुति, जैसे 'तुम्हें पीने के लिये आहूत करता हूँ', को विद्युत (अग्नि) के लिए नहीं जानना चाहिये अत यह आवाहन पृथक्-पृथक् देवताओं के नाम से सम्बद्ध होना चाहिये।[2]

[1] 'हूयसे पीतये' शब्दों से सम्भवत ऋग्वेद के ? ९. १ के इन शब्दों से न पद प्रतीत होता है 'गोपीथाय प्र हूयसे'।
[2] अर्थात् इसे देवता के नाम से ही इसे सम्बद्ध करना चाहिये। इस लिये यहा आग को पार्थिव और मरुतों को अन्तरिक्ष देवता के रूप में ग्रहण करना चाहिये

ऋचोऽर्धर्चस्य पादस्य कथं ज्ञायेत दैवतम्।
यथा निविदि सावित्र्यां स्तूयते कर्म कर्मणा ॥ ७८ ॥

किसी ऋचा, अर्ध ऋचा और पाद के देवता[1] को किस प्रकार जानना चाहिये ? जैसे कि सवितृ[2] के निविद् में है, (किसी देवता के) कर्म का कर्म के आधार पर स्तुति की जाती है,[3]

[1] यह स देह (ऊपर ७१, ७६ के श्लोकों में) कि किस अग्नि से तात्पर्य है प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक को इस प्रश्न पर विचार करने के लिये प्रेरित करता है कि किसी सम्पूर्ण सूक्त के देवता की तुलना में ऋचा, अर्धऋचा या किसी पाद विशेष के देवता को किस प्रकार जाना जा सकता है ? इसका ग्रन्थकार यह उत्तर देता है कि किसी देवता विशेष के विशिष्ट कर्म के उल्लेख द्वारा ही उससे उद्दिष्ट स्तुति को जाना जा सकता है।
[2] ऋग्वेद १. २४, ३. 'अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम्। सदावन्भागमीमहे'। देखिये ऐतरेय ब्राह्मण ५ २७, ७ : 'अभि त्वा देव सवितर् इति सावित्रम्'।
[3] देखिये ऊपर ३ ५०।

दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वान् आशुः सप्तिः पुरंधिया ।
यथा च शंनोमित्रोया वरुणः प्राविता भुवत् ॥७९॥

(जैसा कि) 'दुग्धा गाय, अनड्वान, तीव्र गतिवाला 'सप्ति' और उद्योगशील (स्त्री)',[1] तथा 'शं नो मित्रः' (ऋग्वेद १. ९०, ९), तथा 'वरुणः प्राविता भुवत्' (ऋग्वेद १. २३, ६)[2] मंत्रों में है,

[1] यह वाक्य वाजसनेयि संहिता २२ २२, में उद्धृत है। ऊपर ३. ५० में भी इसका सन्दर्भ है।
[2] अर्थात् इन दो मन्त्रों में मित्र और वरुण की क्रमशः 'दयावान' और 'रक्षक' के रूप में स्तुति की गई है।

सूक्तप्रायेणैभिरग्ने परीक्ष्यास्तत्र देवताः ।
शब्दानां द्वैपदादीनां द्विदैवबहुदैवतम् ॥ ८० ॥

(और) 'ऐभिर् अग्ने' (ऋग्वेद १. १४, १)[1] में है : इन सभी दशाओं में सूक्त के सामान्य प्रयोजन के अनुसार ही देवताओं का परीक्षण करना चाहिये।

दो अथवा अधिक पद[2] वाले शब्दों से दो अथवा अनेक देवता सम्बद्ध हो सकते हैं।[3]

[1] ऊपर ३. ५१, में इसी सन्दर्भ में इसका उद्धरण दिया जा चुका है।
[2] अर्थात् 'देवताद्वन्द्वस्' से दो अथवा अधिक देवताओं की स्तुति का तात्पर्य है।
[3] 'द्विदैव-बहुदैवतम्' सम्भवतः 'द्विदैवत-बहुदैवतम्' का ही संक्षिप्त रूप प्रतीत होता है।

असंस्तुतं संस्तुतवत् प्रदिष्टं दैवतं क्वचित् ।
यत्र द्विदैवते मन्त्र एकवद्देवतोच्यते ॥ ८१ ॥

यदि किसी देवता को किसी स्तुति में सम्बद्ध न किया गया हो तो भी यदि उसका कहीं[1] उल्लेख हो तो उसे स्तुति से सम्बद्ध मानना चाहिये।

जहाँ दो देवताओं को सम्बोधित किसी मन्त्र में एक देवता का एकवचन में उल्लेख हो,

[1] अर्थात् यदि स्पष्ट रूप से स्तुत्य देवता के साथ दूसरे देवता का सम्बन्ध प्रसंग से व्यक्त हो (तु० की० ऊपर २. ४९ और १. ११९) तो इस देवता को भी स्तुति से सम्बद्ध मानना चाहिये। इसका उदाहरण ऋग्वेद १. १५४ की अन्तिम ऋचा में देखा जा सकता है, जहाँ विष्णु की तो स्तुति है किन्तु 'वाम्' द्विवाचक भी आता है। अतः यह निश्चय किया जा सकता है कि यहाँ विष्णु के साथ इन्द्र भी सम्बद्ध हैं, क्योंकि इन दोनों देवों का ऋग्वेद १. १५५, १–३ में साथ-साथ आवाहन किया गया है।

विभक्तस्तुति तद्विद्याद् बहुष्वबहुवच यत् ।
आशीर्वादेषु संज्ञासु कर्मसंस्थासु देवताः ।
बह्व्यो ह बहुवत्तत्र द्विपदे यत्र संस्तुते ॥ ८२ ॥

वहाँ यह जानना चाहिये कि उसमे विभक्त-स्तुति है[1]; और यदि ऐसे मन्त्र मे अनेक देवताओं का भी 'अ-बहुवत्'[2] उल्लेख हो तो उसे भी इसी प्रकार ग्रहण करना चाहिये ।

आशीर्वादों में, नामों की गणनाओं मे, तथा प्रमुख कर्म-काण्डों मे, अनेक देवता बहुवचन में आते हैं, जिनमें स्तुति की दृष्टि से दो देवताओं को सम्बद्ध मानना चाहिये ।

[1] 'विभक्त स्तुति' की परिभाषा के लिये देखिये, ऊपर ३ ४१ ।
[2] यहाँ 'बहुषु' को 'द्विदैवत' के, तथा 'अबहुवत्' को 'एकवत्' के समानान्तर माना गया है ।
[3] इन अन्तिम दो वाक्यों का सामान्य अर्थ यह प्रतीत होता है कि ऐसी दशाओं मे अनेक देवताओं को एकवचन नहीं माना जाता, और इसलिये यह 'विभक्त स्तुति' नहीं हो सकती ।

१७-ऋभुओं और त्वष्टा की कथा

सुधन्वन आङ्गिरसस्यासन्पुत्रास्त्रयः पुरा ।
ऋभुर्विभ्वा च वाजश्च शिष्यास्त्वष्टुश्च तेऽभवन् ॥८३॥

प्राचीन काल[1] में अङ्गिरस-पुत्र सुधन्वन् के, ऋभु, विभ्वन् और वाज[2] नामक तीन पुत्र हुये, और वह सभी त्वष्टा के शिष्य बने ।

[1] त्वष्टा के चमस् से ऋभुओं द्वारा चार चमसों के निर्माण की नीचे वर्णित कथा का ऋग्वेद के ऋभु सूक्त (१ २०) में उल्लेख है ।
[2] तु० की० ऋग्वेद १. ११०, ४ पर निरुक्त ११ १६. "ऋभुर् विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः ।"

शिक्षयामास तांस्त्वष्टा त्वाष्ट्रं यत्कर्म किंचन ।
परिनिष्ठितकर्माणो विश्वे देवा उपाह्वयन् ॥ ८४ ॥

त्वष्टा ने इन लोगों को उन समस्त कलाओं की शिक्षा दी जिनमें वह (त्वष्टा) पारंगत थे । विश्वेदेवों ने, जो स्वयं भी समस्त कलाओं मे प्रवीण थे, इन्हें चुनौती दी ।[1]

[1] अर्थात् इन्हें त्वष्टा से अर्जित अपनी कला का प्रदर्शन करने की चुनौती दी ।

विश्वेषां ते ततश्चक्रुर् वाहनान्यायुधानि तु।
धेनुं सवर्दुघां चक्रुर् अमृतं सबरुच्यते ॥ ८५ ॥
बृहस्पतेरथाश्विभ्यां रथं दिव्यं त्रिवन्धुरम्।
इन्द्राय च हरी देवप्रहितेनाग्निनापि यत् ॥ ८६ ॥

इन लोगों ने विश्वेदेवों के लिये वाहनों और आयुधों का निर्माण किया। इन्होंने सवर्दुघा गाय का निर्माण किया—अमृत को ही बृहस्पति का 'सबर्' कहते हैं; फिर इन्होंने अश्विनों के लिये तीन आसनों वाले दिव्य रथ, और इन्द्र के लिये दो अश्वों का निर्माण किया; देवों द्वारा इनके पास भेजे गये अग्नि के माध्यम से भी इन्होंने अपने कौशल का प्रदर्शन किया।[1]

[1] अर्थात् अग्नि को अपना दूत बना कर भेजने वाले देवों के आदेश पर इन्होंने त्वष्टा के एक चमस् से चार चमसों का निर्माण किया (देखिये ऋग्वेद १. १६१, १-२)।

एकं चमसमित्युक्ते ज्येष्ठ आहेत्यथो दिवि।
उक्त्वा ततश्चतुश्चमसान् यथोक्तं तेन हर्षिताः ॥ ८७ ॥

जब उन्होंने (अग्नि ने) कहा कि 'एक चमस को चार कर दो' ('एकं चमसं चतुरः', ऋग्वेद १. १६१, २), और जब इन लोगों ने 'ज्येष्ठ आह' (ऋग्वेद ४. ३३, ५)[1] ऋचा के अनुसार स्वर्गलोक में परस्पर परामर्श कर लिया, तब उनके कथन[2] से हर्षित होकर इन्होंने, जैसा कहा जा चुका है, चार चमसों (प्यालों) का निर्माण कर दिया।

[1] जहाँ ऋभुओं में सबसे ज्येष्ठ ने एक चमस को दो करने की, बीच के ऋभु ने तीन करने की, और सब से कनिष्ठ ने चार करने की इच्छा प्रकट की है।

[2] अर्थात् अग्नि के इस आश्वासन से हर्षित होकर कि एक चमस को चार कर देने पर वह लोग (ऋभुगण) भी देवताओं के साथ यज्ञ भाग प्राप्त करेंगे (देखिये ऋग्वेद १. १६१, २)।

१८—ऋग्वेद १. २०-२१ के देवता

त्वष्टा च सविता चैव देवदेवः प्रजापतिः।
सर्वान्देवान् समामन्त्र्य अमृतत्वं ददुश्च ते ॥ ८८ ॥

और त्वष्टा तथा सवितृ, और देवों के प्रजापति ने समस्त देवों को आमन्त्रित करके ऋभुओं को अमरत्व प्रदान किया (तु० की० ऋग्वेद ४. ३३, ३-४)।

इसके बाद दो ऋचायें (१३, १४) 'द्यावापृथिवी' की स्तुति करती है, 'स्योना' (से आरम्भ होने वाली १५ वीं ऋचा) को पृथिवी को सम्बोधित माना जा सकता है। 'अत' (१६ वीं ऋचा) वैकल्पिक रूप से देवों को सम्बोधित है, शेष सूक्त (१७–२१ वीं ऋचायें) विष्णु को सम्बोधित है।

वायोस्तीव्रेन्द्रवायुभ्यां तृचो द्वाभ्यां ततः परम् ।
तृचो मित्रावरुणयोस् तथेन्द्राय मरुत्वते ॥ ९४ ॥
तृचो विश्वेषां देवानां पूष्ण आघृणये तृचः ।
आसक्तो हि घृणिस्तस्य दध्नः पूर्णो हती रथे ॥ ९५ ॥

'तीव्रा' (१ २३, १) वायु को सम्बोधित है क्योंकि यहाँ (दूसरी और तीसरी ऋचा में) इन्द्र वायु के लिये दो ऋचायें है। इसके बाद यहाँ मित्र वरुण के लिय तीन ऋचायें (४–६) और मरुतों के साथ इन्द्र के लिये भी तीन ऋचायें (७–९) हैं। तदुपरान्त तीन ऋचायें (१०–१२) विश्वेदेवों के लिये और तीन ऋचायें (१३–१५) पूषन् आघृणि को समर्पित है। इन्हें (पूषन्) इसलिये ऐसा कहा गया है कि इनके रथ के साथ एक 'घृणि', अर्थात् दधि से पूर्ण चर्म पात्र संयुक्त (आसक्त) रहता है।

आघृणिस्तत्स्तुतः पूषा कीरिभी रिभ्यते ततः ।
यथा हि मधुनः पूर्णो हतिरथ्येति चाश्विनो ॥९६॥

अत इनको आघृणि के रूप म स्तुति की गई है, इसलिये गायकों (कीरि)[1] ने इनकी प्रशस्ति की है। और यत अश्विनों की हति' (चर्म-पात्र) मधु से पूर्ण है, अत याचक उनकी भी इसी प्रकार स्तुति करता है।

[1] वैदिक शब्द होते हुये भी कारि' शब्द केवल ऋग्वेद मे ही मिलता है। नैघण्टुक ३ १६ में यह एक 'स्तोतनामानि' है।

आ वर्तनिं मधुनेति हतिरेव च दृश्यते ।
अर्धाष्टमा अपां ज्ञेया अध्यर्धान्त्याग्निदेवता ॥ ९७ ॥

'आ वर्तनि मधुना' (ऋग्वेद ४ ४५, ३) मे स्वय 'हति' भी आता है। (इसके बाद) साढे सात (१६–२३, ऋचाओं) को जलों को समर्पित माना गया है, और आठवीं के शेषार्ध तथा उसके बाद की अन्तिम ऋचा के देवता अग्नि हैं।

'यच् चिद् धि सत्य' (ऋग्वेद १. २९) तथा इसके बाद का सूक्त (१. ३०) इन्द्र को सम्बोधित है। 'आश्विना' से आरम्भ होने वाली तीन ऋचायें (ऋग्वेद १. ३०, १७–१९) अश्विनों को और इसके बाद 'कस् ते' (२०–२२) से आरम्भ होने वाली तीन अन्तिम ऋचायें उषस् को सम्बोधित हैं।

२१–ऋग्वेद १. ३१–४० के देवता

स्तूयमानः शश्वदिति प्रीतस्तु मनसा ददौ।
शुनःशेपाय दिव्यं तु रथं सर्वं हिरण्मयम् ॥१०३॥

'शश्वत्' (ऋग्वेद १. ३०, १६) से आरम्भ होने वाली ऋचा द्वारा स्तुति की जाने पर मन से प्रसन्न होकर इन्द्र ने शुनःशेप को स्वर्ण निर्मित एक दिव्य रथ प्रदान किया।

आग्नेयं त्वमैन्द्रे च त्रिश्चिदित्याश्विनं ततः।
ऋतेऽर्थवादं कर्मैतद् इन्द्रस्येति तु शंसति ॥१०४॥

'त्वम्' (ऋग्वेद १. ३१) से आरम्भ होने वाला सूक्त अग्नि को सम्बोधित है; और इसके बाद इन्द्र को सम्बोधित दो सूक्त (३२, ३३) आते हैं। इसके बाद 'त्रिश्चिद्' (१. ३४) अश्विनों को सम्बोधित है। 'इन्द्रस्य' (१. ३२) बिना किसी अर्थ-वाद[1] के उद्देश्य के ही इन्द्र के कर्मों की प्रशस्ति करता है।

[1] अर्थात् ऋग्वेद १. ३२ में इन्द्र को सम्बोधित स्तुति के बिना ही वृत्र के साथ उनके संघर्ष की पुराकथा का उल्लेख है। 'अर्थवाद' शब्द ऊपर (२. ९१ में) भी आ चुका है।

पादोऽग्नये ह्वयामीति मैत्रावरुण उत्तरः।
तृतीयो रात्रिसंस्तावः सूक्तं सावित्रमुच्यते॥ १०५॥

'ह्वयामी' (ऋग्वेद १. ३५) सूक्त में एक पाद अग्नि को और उसके बाद का पाद मित्र-वरुण को सम्बोधित है, तथा तृतीय पाद में 'रात्रि' की स्तुति है, है, जब कि यह सम्पूर्ण सूक्त सवितृ को सम्बोधित कहा गया है।

पञ्चैतानि जगौ दृष्ट्वा सूक्तान्याङ्गिरसो मुनिः।
हिरण्यस्तूपतां प्राप्य सख्यं चेन्द्रेण शाश्वतम्॥ १०६॥

इन पाँच सूक्तों (३१–३५)[1] का इनके दर्शन के पश्चात् अङ्गिरस् के

पुत्र ऋषि ने हिरण्यस्तूप का पद और इन्द्र के साथ शाश्वत सख्य प्राप्त करने के उपलक्ष्य में गायन किया था।

[1] तु० की० आर्षानुक्रमणी, २. ११।

आग्नेयं प्रेति मरुतां क्रीळं त्रीणि पराण्यतः।
उत्तिष्ठ ब्राह्मणस्पत्यं यं रक्षन्ति त्रयस्तृचाः ॥१०७॥

'प्र' (ऋग्वेद १. ३६) अग्नि को सम्बोधित है। 'क्रीळं' (ऋग्वेद १. ३७) से आरम्भ होने वाले इसके बाद के तीन सूक्त (३७-३९) मरुतों को सम्बोधित हैं। 'उत् तिष्ठ' (ऋग्वेद १. ४०) ब्रह्मणस्पति को सम्बोधित किया गया है। 'यं रक्षन्ति' (ऋग्वेद १. ४१) सूक्त में ऋचाओं के तीन त्रिक मिलते हैं :

२२–ऋग्वेद १. ४१–४७ के देवता

वरुणार्यममित्राणां मध्य आदित्यदैवतः।
पौष्णं सं पूषन्यद्रौद्रयस् तृतीया न तु केवला ॥ १०८ ॥

(उक्त सूक्त के ऋचाओं के तीन त्रिकों में से प्रथम १–३, और तृतीय, ७–९, त्रिक) वरुण, अर्यमन् और मित्र को सम्बोधित है, जब कि आदित्य-गण मध्य त्रिक (४–६) के देवता हैं। 'सं पूषन्' (ऋग्वेद १. ४२) पूषन् को सम्बोधित है। इसके बाद रुद्र को सम्बोधित छः ऋचायें (ऋग्वेद १. ४३, १–६) आती हैं, जिनमें से तृतीय में, यद्यपि, अकेले रुद्र की स्तुति नहीं है।

मित्रेण वरुणेनात्र विश्वैर्देवैश्च संस्तवः।
उक्तमृषिणा पूर्वम् आदेशाद्दैवतं विना ॥ १०९ ॥
ज्ञातुं न शक्यते लिङ्गात् तथापि क्वचिदुच्यते।
आदित्या वसवो रुद्रास् त्वमग्न इति संस्तुताः ॥११०॥

यहाँ (उक्त १. ४३, ३ में) मित्र, वरुण तथा विश्वेदेवों के साथ-साथ ही रुद्र की स्तुति की गई है।

ऋषि[1] ने इस बात को पहले[2] ही कह दिया है कि बिना किसी आदेश के केवल लिङ्ग अथवा विशिष्ट लक्षण के आधार पर देवता को नहीं जाना जा सकता। फिर भी, कहीं-कहीं देवता का इस प्रकार भी उल्लेख है : जैसे 'त्वम् अग्ने' (ऋग्वेद १. ४५, १) में आदित्यों, वसुओं, रुद्रों की एक साथ[3] ही (अग्नि के साथ) स्तुति की गई है।

[1] अर्थात् प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता शौनक।

[2] ऊपर ३ ३९, में 'आदेशाद् दैवत ज्ञेयम्……न शक्यं लिङ्गतो……ज्ञातुम्' है।

[3] यह सब नाम ऋग्वेद १. ४५, १ में आते हैं; किन्तु सर्वानुक्रमणी में इनके सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं है।

तिस्रः सौम्योऽग्न आग्नेये प्रगाथेनाश्विनौ स्तुतौ।
सहोपसा लिङ्गभाजा अयं सोमः सुदानवः ॥१११॥
अर्धर्चो देवदेवत्य एषो इत्याश्विने परे।
आदित्यं मन्यते यास्को हविषेति सह स्तुतम् ॥११२॥

इसके बाद सोम को सम्बोधित तीन मन्त्र (१. ४३, ७-९) आते हैं। 'अग्ने' (१. ४४, १) से आरम्भ होनेवाले दो सूक्त (४४, और ४५) अग्नि को सम्बोधित किये गये हैं। यहाँ[1] एक 'प्रगाथ' द्वारा उषस् के साथ उन अश्विनों की स्तुति की गई है जो उसके (उषस् के) लिङ्ग-भाज् हैं। 'अयं सोमः सुदानवः' (ऋग्वेद १. ४५, १०) एक ऐसी अर्ध-ऋचा है जिसके देवता देवगण हैं।[2] 'एषो' (१. ४६, १) से आरम्भ होनेवाले दो बाद के सूक्त (४६ और ४७) अश्विनों को सम्बोधित हैं। यास्क[3] का विचार है कि यहाँ 'हविषा' (१. ४६, ४) में आदित्य की भी साथ-साथ स्तुति की गई है।

[1] अर्थात् १. ४४ १-२ में। तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'आद्यो द्वृचोऽश्वयु-उषसा च'।

[2] तु० की० ऋग्वेद १. ४५ पर सायण : 'अयं सोम इत्य् अर्धर्चो देवदेवत्यः', सर्वानुक्रमणी : 'अर्धर्चोऽन्त्यो देवः'।

[3] निरुक्त ५. २४ में।

२३-ऋग्वेद १. ४८-६० । सव्य की कथा । शतर्चिन्-गण

सहोषसे ततः सौर्यम् उदु त्यमिति संस्तुतः।
शुभक्तिर्येन वरुणो. रोगघ्नस्तृच उत्तमः ॥ ११३ ॥

'सह' (ऋग्वेद १. ४८, १) से आरम्भ होनेवाले दो सूक्त (४८ और ४९) उषस् को सम्बोधित हैं; इसके बाद 'उद् उ त्यम्' (१. ५०) सूर्य को सम्बोधित किया गया है। इसमें 'येन' (१. ५०, ६) मे आकाश के साथ सम्बद्ध वरुण की स्तुति की गई है; इसका अन्तिम त्रिक (१. ५०, ११-१३) रोगघ्न[1] है।

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'अन्त्यस् तृचो रोगघ्न उपनिषत्'।

रोगापनुत्तिराद्याभ्याम् उद्यन्नित्युत्तमे तृचे।
अर्धर्चे तु द्विपदृद्वेषः ऐन्द्रः सव्यः शतर्चिषु ॥ ११४ ॥

इस सूक्त में 'उद्यन्' से आरम्भ होनेवाली अन्तिम तीन ऋचाओं में से प्रथम दो (१. ५०, ११-१२) में रोग को भगाने का विधान है, जब कि अन्तिम की अर्धऋचा में शत्रुओं के प्रति द्वेष व्यक्त किया गया है।

शतर्चिनों में से एक सव्य[1] है जो इन्द्र के ही एक रूप हैं।

[1] सव्य ऋग्वेद के सात सूक्तों (१. ५१-५७) के द्रष्टा हैं (देखिये आर्षानुक्रमणी १. १३)।

स्वयमिन्द्रसमं पुत्रम् इच्छतोऽङ्गिरसो मुनेः।
बभूवेव सव्यो भूत्वर्षेर् योगित्वात्पुत्रतां गतः॥ ११५॥

इन्द्र के समान पुत्र की इच्छा करने वाले अङ्गिरस् मुनि के, इस ऋषि के योगत्व के परिणाम-स्वरूप, स्वयं इन्द्र ही सव्य का रूप धारण करके पुत्र[1] बन गये।

[1] तु० कीं० सर्वानुक्रमणी . 'अङ्गिरा इन्द्रतुल्य पुत्रम् इच्छन्न् अभ्यध्यायन् सव्य इतीन्द्र एवास्य पुत्रोऽजायत'।

प्रथमे मण्डले ज्ञेया ऋषयस्तु शतर्चिनः।
क्षुद्रसूक्तमहासूक्ता अन्त्ये मध्येषु मध्यमाः॥ ११६॥

प्रथम मण्डल में ऋषियों को शतर्चिन जानना चाहिये, जबकि अन्तिम (मण्डल) में लघुसूक्तों और महा-सूक्तों के ऋषि, तथा मध्य (के मण्डलों) में मध्यम (ऋषि) जानना चाहिये।[1]

[1] तु० कीं० सर्वानुक्रमणी २ २ ('शतर्चिन आद्य मण्डलेऽन्त्ये क्षुद्रसूक्तमहासूक्ता मध्यमेषु माध्यमाः)। देखिये आर्षानुक्रमणी १ २, २ १, १० १।

नवकं जातवेदस्यं नू चिद् यत्तु वया इति।
वैश्वानरीयं तत्सूक्तं वह्निमाग्नेयमुत्तरम्॥ ११७॥

नौ ऋचाओं वाला 'नू चित्' (ऋग्वेद १. ५८) सूक्त जातवेदस् को सम्बोधित है; जब कि 'वयाः' से आरम्भ होनेवाला सूक्त (ऋग्वेद १. ५९) वैश्वानर को, तथा इसके बाद का 'वह्निम्' (ऋग्वेद १. ६०) सूक्त अग्नि को सम्बोधित है।

२४-ऋग्वेद १. ६१-७३। ग्यारह खिल। ऋग्वेद १. ७४-८९

ऐन्द्राण्यस्मै ततस्त्रीणि वृष्णे शर्धाय मारुतम्।
आग्नेयानि तु पश्वेति नव शश्वद्धि वामिति॥११८॥

दशाश्विनानीमानीति इन्द्रावरुणयो स्तुतिः।
सौपर्णयास्तु याः काश्चिन् निपातस्तुतिषु स्तुताः॥११९॥

इसके बाद 'अस्मै' (ऋग्वेद १. ६१) से आरम्भ होनेवाले इन्द्र को सम्बोधित तीन सूक्त (६१–६३) आते हैं; 'वृष्णे शर्धाय' (ऋग्वेद १ ६४) मरुतों को सम्बोधित है; 'पश्वा' (ऋग्वेद १. ६५) उन नौ सूक्तों (६५–७३) मे से प्रथम है जो अग्नि को सम्बोधित हैं; इसके बाद 'शश्वद् धि वाम्', आदि दस सूक्त अश्विनों[1] को सम्बोधित हैं; 'इमानि' (ऋग्वेद ८. ५९)[2] द्वारा इन्द्र-वरुण की स्तुति की गई है। किन्तु जो भी अन्य देवता सौपर्ण-सूक्तों[3] में आते हैं उनकी नैपातिक स्तुति ही की गई है।

[1] यहाँ ग्यारह खिल-सूक्तों का उल्लेख है, जिनमें से दस तो अश्विनों को, तथा एक इन्द्र-वरुण को सम्बोधित हैं।

[2] इसे ऐतरेय ब्राह्मण ६. २५, ■ में 'सौपर्ण' कहा गया है।

[3] अर्थात् अश्विनों तथा इन्द्र-वरुण के अतिरिक्त इन ग्यारह सौपर्ण सूक्तों में जो देवता आते हैं उनकी केवल नैपातिक स्तुति की गई है।

उपप्रयन्तः सूक्तानि आग्नेयान्युत्तराणि षट्।
हिरण्यकेशो रजसस् तृचोऽग्नेर्मध्यमस्य तु॥१२०॥

'उपप्रयन्तः' (ऋग्वेद १. ७४, १) से आरम्भ होनेवाले बाद के छः सूक्त (७४–७९) अग्नि को सम्बोधित हैं; किन्तु 'हिरण्यकेशो रजसः' से आरम्भ होनेवाला ऋचाओं का एक त्रिक (ऋग्वेद १. ७९, १–३) मध्यम अग्नि को सम्बोधित है।

इत्थेति पञ्च त्वैन्द्राणि यामित्यस्यां निपातिताः।
दध्यङ् मनुरथर्वा च मारुतानि प्र ये ततः॥१२१॥
चत्वार्या नो वैश्वदेवे द्वे देवानां स्तुतिर्मते।
आ नो भद्राश्च देवानां भद्रं यावच्छतं पुनः॥१२२॥

'इत्था' (ऋग्वेद १. ८०, १) से आरम्भ होनेवाले पाँच सूक्त (८०–८४) इन्द्र को सम्बोधित हैं। 'याम्' (ऋग्वेद १. ८०, १६) से आरम्भ होनेवाले मन्त्र में दध्यञ्च, मनु, और अथर्वन् का नैपातिक रूप से उल्लेख है।[1] इसके बाद 'प्र ये' (ऋग्वेद १. ८५, १) से आरम्भ चार सूक्त (८५–८८) मरुतों को सम्बोधित हैं, 'आ नः' (ऋग्वेद १. ८९, १) से आरम्भ दो सूक्त (८८, ८९) विश्वेदेवों को समर्पित हैं; यहाँ 'आ नो भद्राः' (ऋग्वेद १.

८९, १) और 'देवानाम्' (ऋग्वेद १. ८९, २) से आरम्भ दोनों ऋचाओं, तथा पुनः 'भद्रम्' (ऋग्वेद १. ८९, ८) से लेकर 'शतम्' (ऋग्वेद १. ८९, ९) तक की ऋचाओं को भी देव मात्र की स्तुति करने वाला माना गया है।

[1] यहाँ ऋग्वेद १. ८०, १६ पर निरुक्त १२. ३३, ३४ (दध्यङ् 'अथर्वा "मनु" तेषां निपातो भवत्य् ऐन्द्र्याम् ऋचि) का अनुसरण किया गया है।

२५-ऋग्वेद १. ९०-९३। प्रथम मण्डल के ७४-१६४ सूक्तों के अन्तर्गत सूक्त समूह।

मधु वातास्तृचे तस्मिन् परमं मध्वपीष्यते।
अदितिर्द्यौरिति त्वस्यां विभूतिः कथितादितेः ॥१२३॥

'मधु वाता:' (ऋग्वेद १. ९०, ६) से आरम्भ ऋचाओं के त्रिक में परम मधु की भी इच्छा की गई है; किन्तु 'अदितिर् द्यौ' (ऋग्वेद १. ८९, १०) ऋचा में अदिति की विभूति का कथन है।

त्वं सोम सौम्यमौषसम् एता उ त्यास्तृचोऽश्विनोः।
अश्विनाग्नेः ससोमस्य अग्नीषोमाविति स्तुतिः ॥१२४॥

'त्वं सोम' (ऋग्वेद १. ९१) सोम को, 'एता उ त्या' (ऋग्वेद १. ९२) उषस् को, और 'अश्विना' (ऋग्वेद १. ९२, १६-१८) से आरम्भ ऋचाओं का त्रिक अश्विनों को सम्बोधित है। 'अग्नीषोमौ' (ऋग्वेद १ ९३) में सोम के साथ सम्बद्ध अग्नि की स्तुति है।

गौतमादौशिजः कुत्सः परुछेपाद्दैवः परः।
कुत्साद्दीर्घतमाः शश्वत् ते द्वे एवमधीयते ॥१२५॥

गोतम (सूक्त ७४-९३) के बाद उशिज् के पुत्र (कक्षीवत्: सूक्त ११६-१२६) आते हैं; परुछेप (सूक्त १२७-१३९) के बाद कुत्स (सूक्त ९४-११५) आते हैं; कुत्स के बाद दीर्घतमस्[1] (सूक्त १४०-१६४): इन दोनों को सदैव इसी क्रम से पढ़ना चाहिये।

[1] यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ शकलों का क्रम गोतम, कुत्स, कक्षीवत्, परुछेप, और दीर्घतमस है, वहीं बृहद्देवता में गोतम, कक्षीवत्, परुछेप, कुत्स, और दीर्घतमस का क्रम रक्खा गया है, जिसमें कुत्स द्वितीय की अपेक्षा चतुर्थ स्थान पर आता है, जो बाष्कलों का क्रम है।

२६–ऋग्वेद १. ९४–१११। ध्रुवपदों से युक्त सूक्तों के ऋषि।
कश्यप के खिल

इमं कुत्स आङ्गिरसो ददर्श
जातवेदस्यं जगाद षोळशर्चम्।
पूर्वो देवा इत्यृचो देवदेवास्
त्रयः पादा उत्तमायास्ततोऽर्धम् ॥ १२६ ॥
तस्यैव वा यस्य तत्पूर्वसूक्तं मित्रा-
दिभ्यो वात्र षड्भ्यः प्रकृताभ्यः।
अन्त्योऽर्धर्चस्तु वा पणां स्तुतानां
पूर्वो देवाः पादैस्तु त्रिभि स्तुताः ॥ १२७ ॥

अङ्गिरस् के पुत्र कुत्स ने 'इमम्' (ऋग्वेद १. ९४) का दर्शन किया : इन्होंने जातवेदस् को सम्बोधित सोलह ऋचाओं के इस सूक्त का उच्चारण किया। 'पूर्वो देवाः' (ऋग्वेद १. ९४, ८) ऋचा के तीन पादों के देवता देवगण हैं; इसके बाद अन्तिम ऋचा (ऋग्वेद १. ९४, १६) का अर्धांश इसके पूर्व आने वाली सम्पूर्ण सूक्त की ऋचाओं की भाँति या तो उसी देवता (अर्थात अग्नि) को समर्पित है, अथवा यह यहाँ उल्लिखित मित्रादि छः देवताओं को सम्बोधित है।

अन्तिम अर्ध-ऋचा (१. ९४. १६ का उत्तरार्ध) वैकल्पिक रूप से स्तुत्य छः देवताओं को सम्बोधित है, जब कि 'पूर्वः' (ऋग्वेद १. ९४, ८) में तीन पादों द्वारा देवताओं मात्र की स्तुति है।

भरद्वाजे गृत्समदे वसिष्ठे नोधस्यगस्त्ये विमदे नभाके।
कुत्से नोदर्का बहुदैवतेषु तथा द्विदेवेषु समानधर्मिणः ॥

[1]भरद्वाज, गृत्समद, वसिष्ठ,[2] नोधस्,[3] अगस्त्य,[4] विमद,[5] नभाक,[6] कुत्स[7] के अनेक देवताओं तथा दो देवताओं को सम्बोधित सूक्तों में समान-धर्मी ध्रुवपद नहीं हैं।

[1] अब ग्रन्थकार आठ ऐसे ऋषियों के नाम की गणना करा रहा है जिनके सूक्तों में ध्रुवपद आते हैं।

[2] प्रथम तीन (भरद्वाज, गृत्समद, वसिष्ठ) ऐसे सम्पूर्ण मण्डलों के ऋषियों के नाम हैं जिनमें अक्सर ही ध्रुवपद मिलते हैं।

[3] ऋग्वेद १. ५८–६४ का ऋषि : ५८ और ६०–६४ सूक्त समान ध्रुवपद से समाप्त होते हैं।

[४] ऋग्वेद १ १६६-१६८ का ऋषि।
[५] ऋग्वेद १० ३१ और २४ का ऋषि।
[६] ऋग्वेद ८ ३९-४२ का ऋषि।
[७] ऋग्वेद १ ९४-९८ का ऋषि।

द्वे विरूपे सूक्तमौपसायाग्नेयं स प्रत्नथेति द्रविणोदसेऽग्नये।
वैश्वानरस्येति वैश्वानरीयम् अस्मात्पूर्वं शुचयेऽग्नये पुनः।

'द्वे विरूपे' (ऋग्वेद १ ९५) अग्नि औपस का सूक्त है, और 'स प्रत्नथा' (ऋग्वेद १ ९६) अग्नि द्रविणोदस को, तथा 'वैश्वानरस्य' (ऋग्वेद १ ९८) वैश्वानर को सम्बोधित सूक्त है, किन्तु इसके पूर्व का एक सूक्त (ऋग्वेद १ ९७) अग्नि शुचि को सम्बोधित है।

जातवेदस्यं सूक्तसहस्रमेक
ऐन्द्रात्पूर्वं कश्यपार्षं वदन्ति।
जातवेदसे सूक्तमाद्यं तु तेषाम्
एकभूयस्त्वं मन्यते शाकपूणिः ॥ १३० ॥

कुछ का कथन है कि इन्द्र को सम्बोधित सूक्त (ऋग्वेद १ १००) के पूर्व आने वाले जातवेदस् को सम्बोधित एक सहस्र सूक्तों के ऋषि कश्यप हैं इनमें से प्रथम सूक्त 'जातवेदसे' (ऋग्वेद १ ९९) है। शाकपूणि का विचार है कि इसमें एक की वृद्धि होती है।

स यो वृषैन्द्राणि पञ्च वैश्वदेवानि चन्द्रमाः।
त्रीण्यैन्द्राग्ने य इन्द्राग्नी ततमित्यार्भवे परे ॥ १३१ ॥

'स यो वृषा' (ऋग्वेद १ १००) इन्द्र को सम्बोधित पाँच सूक्तों (१००-१०४) में से प्रथम है। इसके बाद 'चन्द्रमास्' (ऋग्वेद १ १०५, १) से आरम्भ तीन सूक्त (१०५-१०७) विश्वेदेवों को सम्बोधित है। 'य इन्द्राग्नी' (ऋग्वेद १. १०८) इन्द्र-अग्नि को सम्बोधित दो (१०८-१०९) में से प्रथम है, 'ततम्' (ऋग्वेद १ ११०, १) से आरम्भ दो बाद के सूक्त (११०-१११) ऋभुओं को सम्बोधित है।

२७-ऋग्वेद १. १०५ : त्रित की कथा

त्रितं गास्त्वनुगच्छन्तं क्रूराः सालावृकीसुताः।
कूपे प्रक्षिप्य गाः सर्वास् तत एवापजह्रिरे ॥१३२॥

गायों के पीछे चल रहे त्रित को कूएँ[1] में फेंक कर सालावृकी[2] के क्रूर पुत्र वहाँ से समस्त गायों को अपहृत करके ले गये।

[1] तु० की० ऋग्वेद १ १०५, १७: 'त्रितः कूपेऽवहितः'।

[2] तु० की० ऋग्वेद १ १०५, १८: 'अरुणो मा सकृद् वृकः पथा यन्तं ददर्श हि'।

स तत्र सुषुवे सोमं मन्त्रविन्मन्त्रवित्तमः।
देवांश्चावाहयत्सर्वांस् तच्छुश्राव बृहस्पतिः॥ १३३॥

उन मन्त्रविदों में सर्वश्रेष्ठ मन्त्रविद् ने वहाँ सोम-सवन किया और समस्त देवताओं का आवाहन किया : बृहस्पति ने उसके इस आह्वान को सुना।

आगच्छतोऽथ तान्दृष्ट्वा क्व वसत्यस्य तत्त्वतः।
सर्वदृक्त्वं च वरुणस्यार्यम्णश्चेत्युपालभत्॥ १३४॥
कूपेष्टकाभिर्व्रणितान्य् अङ्गान्येवाभवन्मम।
दृष्ट्वा सर्वानहं स्तौमि यद्यप्येको न पश्यति॥ १३५॥

उन सब को आता हुआ देख कर उसने यह कहते हुये उपालम्भ किया : 'इस वरुण और अर्यमा की वह सर्वदर्शी शक्ति कहाँ है? कूप की ईंटों से मेरे अंग घायल हो गये हैं। सब देवताओं को देखता हुआ मैं उनकी स्तुति कर रहा हूँ किन्तु उनमें से कोई भी मुझे नहीं देख रहा है।'

बृहस्पतिप्रचोदिता विश्वेदेवगणास्त्रयः।
जग्मुस्त्रितस्य तं यज्ञं भागांश्च जगृहुः सह॥ १३६॥

बृहस्पति द्वारा प्रेरित विश्वेदेवों के तीनों वर्ग[1] ने त्रित के यज्ञ में आ कर साथ-साथ यज्ञ-भाग ग्रहण किया।

[1] अर्थात् दिव्य, अन्तरिक्ष, और पृथिवी, तीनों स्थानों के।

२८—ऋग्वेद १. ११२–१२१ के देवता

बृहस्पतिस्त्रितस्यैतज् ज्ञानं विज्ञानमेव च।
तृचेनान्त्येन सूक्तस्य जगादर्षिरसाविति॥ १३७॥

एक ऋषि के रूप में बृहस्पति ने त्रित के सम्बन्ध में जिस ज्ञान-विज्ञान की घोषणा की उसको यहाँ 'असौ' (ऋग्वेद १. १०५, १६) से आरम्भ होने वाले इस सूक्त के अन्तिम त्रिक (१. १०५, १६–१८) में व्यक्त किया गया है।

द्यावापृथिव्योरीळेति आग्नेयः पाद उत्तरः ।
आश्विनः सूक्तशेषः स्याद् इदं रात्र्युषसो स्तुतिः ॥१३८॥

'ईळे' (ऋग्वेद १ ११२, १) पाद द्यावा पृथिवी को, और इसके बाद का पाद अग्नि को सम्बोधित है, इस सूक्त का शेषांश (१ ११२ १–२५) आश्विनों को सम्बोधित मानना चाहिए। 'इदम' (ऋग्वेद १ ११३) में रात्रि और उषस् की स्तुति है।

इमा रौद्रं परं सौर्यं चित्रं पञ्चाश्विनान्यतः ।
नासत्याभ्यामिति स्वन्त्ये अन्त्या दुःस्वप्ननाशिनी ॥१३९॥

'इमा' (ऋग्वेद १ ११४) रुद्र को सम्बोधित है, और इसके बाद का 'चित्रम' (ऋग्वेद १ ११५) सूर्य को सम्बोधित है। इसके बाद 'नासत्याभ्याम्' (ऋग्वेद १ ११६, १) से आरम्भ पांच वह सूक्त (११६–१२०) आते हैं जो अश्विनों को सम्बोधित हैं इनमें अन्तिम सूक्त की अन्तिम ऋचा (ऋग्वेद २०, १२) दुःस्वप्नों का नाश करने वाली है।

ऐन्द्रं कद्वैश्वदेवं प्र चौषसे पृथुरुत्तरे ।
ऋषिर्दानं च भाव्यस्य प्रातरित्यत्र शंसति ॥ १४० ॥

'कद्' (ऋग्वेद १ १२१) इन्द्र को और 'प्र' (ऋग्वेद १ १२२) विश्वेदेवों को सम्बोधित है। 'पृथु' (ऋग्वेद १ १२३, १) से आरम्भ बाद के दो सूक्त (१२३, १२४) उषस् को सम्बोधित हैं। 'प्रात' (ऋग्वेद १ १२५) में ऋषि ने 'भाव्य' की प्रशस्ति की है।

काक्षीवतं कदित्थेति यदैन्द्रमुपदिश्यते ।
परोक्षं वैश्वदेवं तत् प्रदिष्टं स्वरसामसु ॥ १४१ ॥

कक्षीवत् के एक सूक्त को, जिसे परम्परा के अनुसार इन्द्र को सम्बोधित माना गया है, स्वरसामनों[1] में परोक्ष रूप में विश्वेदेवों को सम्बोधित बताया गया है।

[1] कौषीतकि ब्राह्मण २४ ९ में इसे 'परोक्षवैश्वदेव' कहा गया है तु० वी० नाचे ५ ४४, ४५ मा।

२९—कक्षीवत् और स्वनय की कथा

अधिगम्य गुरोर्विद्यां गच्छन्स्वनिलयं किल ।
कक्षीवानध्वनि श्रान्तः सुप्त्वापारण्यगोचरः ॥ १४२ ॥

जैसा कि कहा गया है, अपने गुरु से विद्या प्राप्त करने के पश्चात् घर जाते समय कक्षीवत् मार्ग में थककर वन में ही सो गये।

तं राजा स्वनयो नाम भावयव्यसुतो व्रजन्।
क्रीडार्थं सानुगोऽपश्यत् सभार्यः सपुरोहितः ॥ १४३ ॥

उस समय अपनी सभा, पुरोहित, और भार्या के साथ क्रीडार्थ कहीं जा रहे भावयव्य के पुत्र राजा स्वनय ने उसे देखा।

अथैनं रूपसंपन्नं दृष्ट्वा देवसुतोपमम्।
कन्यादाने मतिं चक्रे वर्णगोत्राविरोधतः ॥ १४४ ॥

उसे रूप-सम्पन्न तथा देवपुत्रों के समान देखकर उन्होंने (राजा ने), वर्ण और गोत्र आदि का विरोध न होने पर उसे अपनी पुत्री प्रदान करने का विचार किया।

संबोध्यैनं स पप्रछ वर्णगोत्रादिकं ततः।
राजन्नाङ्गिरसोऽस्मीति कुमारः प्रत्युवाच तम् ॥ १४५ ॥

पुत्रोऽहं दीर्घतमस औचथ्यस्य ऋषेर्नृप।
अथास्मै स ददौ कन्या दशाभरणभूषिताः ॥ १४६ ॥

तावतश्च रथाञ्छ्यावान् वोढ्वङ्गान्वै चतुर्युजः।
वधूनां वाहनार्थाय धनकुप्यमजाविकम् ॥ १४७ ॥

तब उसे (कक्षीवत् को) उठाकर उन्होंने उससे उसका वर्ण और गोत्रादि पूछा। उस युवक (कक्षीवत्) ने यह कहते हुये उत्तर दिया : 'हे राजन्, मैं अङ्गिरस् के वंश का हूँ; हे नृप मैं उचथ्य-पुत्र ऋषि दीर्घतमस् का पुत्र हूँ।' तब उन्होंने (स्वनय ने) उसे (कक्षीवत् को) आभूषणों से अलंकृत दस कन्यायें प्रदान कीं, और इन कन्याओं को ले जाने के लिये इसी संख्या में रथ तथा चार-चार के दल में चलने वाले सुदृढ़ शरीर के अश्व, और धन तथा हीन धातु के बर्तन, और बकरियों तथा भेड़ आदि भी दिये।

निष्काणां वृषभाणां च शतं शतमदात्पुनः।
एतदुत्तरसूक्तेन शतमित्यादिनोदितम् ॥ १४८ ॥

इनके अतिरिक्त उन्होंने उसे एक सौ निष्क (एक प्रकार का कण्ठाभूषण) और एक सौ बैल भी दिये। इसका 'शतम्' (ऋग्वेद १ १२६, २) से आरम्भ अगले सूक्त की ऋचाओं[1] में वर्णन है।

[1] ऋग्वेद १ १२६, २-३ का इस प्रकार उद्धरण देने के पश्चात् नीचे के श्लोक में ग्रन्थकार इन ऋचाओं के शब्दों का अनुसरण करते हुये दान में दी गई वस्तुओं की पुन गणना कराता है।

शतमश्वाञ्छतं निष्कान् रथान्दश वधूमतः।
चतुर्युजो गवां चैव सहस्रं षष्ट्युपाधिकम् ॥१४९॥
स्वनयाद्भावयव्याच्च कक्षीवान्प्रत्यपद्यत।
प्रतिगृह्य च तुष्टाव प्रातः पित्रे शशंस च ॥१५०॥

एक सौ अश्व, एक सौ निष्क, कन्याओं सहित दस रथ, चार के दल में चलनेवाले रथवाहक अश्व, और एक हजार साठ गायें,[1] इन सब को स्वनय भावयव्य से प्राप्त करनेवाले कक्षीवत् ने इन्हें प्राप्त करने के पश्चात् उनकी (स्वनय की) प्रशंसा की तथा अपने पिता को 'प्रातः' (ऋग्वेद १ १२५) सूक्त समर्पित किया।

[1] (ऋग्वेद १ १२६, २-३) का मूल इस प्रकार है निष्कान् शतम् अश्वान् वधूमन्तो दश रथासः षष्टिं सहस्रम् ' गव्यम्।

३०-राजा के उपहार। नाराशंसी ऋचायें। १ १२६, ६-७ सम्बन्धी विचार

फलप्रदर्शनं तस्य क्रियते प्रायशस्त्विह।
द्वितीयां तु पितापश्यत् सुगुरित्यादिकामृचम् ॥१५१॥

अब, यहाँ (ऋग्वेद १ १२५ में) अधिकांशतः उसे दिये गये दान का ही उल्लेख है। फिर भी उसके पिता ने 'सुगु' (ऋग्वेद १ १२५, २) से आरम्भ केवल द्वितीय ऋचा का ही दर्शन किया।

काक्षीवतं सर्वमिति भगवानाह शौनकः।
एषा तु दैर्घतमसी सानुलिङ्गा कथं भवेत् ॥ १५२ ॥

श्रद्धेय शौनक का कथन है कि यह सम्पूर्ण सूक्त कक्षीवत् का ही है। किन्तु इसमें लक्षित होने वाले चिह्न के अनुसार यह ऋचा दीर्घतमस् द्वारा कैसे दृष्ट हो सकती है?

उच्यते प्रातरित्युक्ते सूनोर्दानेन हर्षितः।
राजन्याशिषमाहाथ सुगुरित्यादिना किल ॥ १५३ ॥

इसका उत्तर यह है कि जब उसने (कक्षीवत् ने) 'प्रातः' (ऋग्वेद १. १२५, १) का उच्चारण किया तब वह (दीर्घतमस्) अपने पुत्र को प्राप्त उपहारों से हर्षित हुये और तब उन्होंने (दीर्घतमस् ने) राजा की स्तुति में 'सुगुः' (ऋग्वेद १. १२५, २) ऋचा का उच्चारण किया।

कर्माणि याभिः कथितानि राज्ञां
दानानि चोच्चावचमध्यमानि।
नाराशंसीरित्यृचस्ताः प्रतीयाद्
याभि स्तुतिर्दाशतयीषु राज्ञाम् ॥ १५४ ॥

उन ऋचाओं को, जिनमें राजाओं के कार्यों तथा उनके महान, लघु, तथा मध्यम दानों का उल्लेख है, 'नाराशंसी'[1] के नाम से जानना चाहिये क्योंकि ऋग्वेद के दस मण्डलों में ऐसी ही ऋचाओं द्वारा राजाओं की स्तुति की गई है।

[1] जिन्हें अन्यथा 'दान-स्तुति' कहते हैं।

पञ्चामन्दान्भावयव्यस्य गीता जायापत्योः संप्रवादो द्वृचेन।
संप्रवादं रोमशयेन्द्रराज्ञोर् एते ऋचौ मन्यते शाकपूणिः ॥

'अमन्दान्' (ऋग्वेद १. १२६, १-५) से आरम्भ पाँच ऋचाओं में भावयव्य का गायन है। दो ऋचाओं (१. १२६, ६-७) में एक पति-पत्नी का संवाद है। शाकपूणि का विचार है कि इन दो ऋचाओं में इन्द्र तथा रोमशा सहित राजा के बीच संवाद है।

इन्द्रेण जायापत्योश्चेतिहासं द्वृचेऽस्मिन्मन्यते शाकटायनः।
प्रादात्सुतां रोमशां नाम नाम्ना बृहस्पतिर्भावयव्याय राज्ञे ॥

शाकटायन का विचार है कि इन दो ऋचाओं में इन्द्र के सन्दर्भ में एक पति तथा पत्नी की कथा है।[1] बृहस्पति ने रोमशा नामक अपनी पुत्री[2] राजा भावयव्य को प्रदान की।

[1] सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद १. १२६, ६-७ में पति-पत्नी के रूप में भावयव्य और रोमशा का वार्तालाप है। तु० की० १. १२६ पर सायण।

[2] ऋग्वेद १. १२६, ■ पर भाष्य करते हुये सायण का कथन है कि रोमशा बृहस्पति की पुत्री थी।

॥ इति बृहद्देवतायां तृतीयोऽध्यायः ॥



ततस्तमर्थं हरिवान्विदित्वा
प्रियं सखायं स्वनयं दिदृक्षुः।
अभ्याजगामाशु शचीसहायः
प्रीत्यार्चयत्तं विधिनैव राजा ॥ १ ॥

१–रोमशा और इन्द्र। ऋग्वेद १. १२७–१३६। युगल-स्तुतियाँ

तब, इस घटना को जानकर और अपने प्रिय सखा स्वनय को देखने की इच्छा से शचीसहाय (इन्द्र) तत्काल उनके (स्वनय के) पास गये। राजा ने उनका हर्षपूर्वक विधिवत् स्वागत किया।

अभ्याजगामाङ्गिरसी च तत्र
हृष्टा तयोः सा चरणौ ववन्दे।
इन्द्रः सखित्वादथ तामुवाच
रोमाणि ते सन्ति न सन्ति राज्ञि ॥ २ ॥

और अङ्गिरस् की पुत्री भी वहाँ आई : हर्षित होकर उसने उन लोगों की चरण-वन्दना की। तब इन्द्र ने उससे मित्र-भाव से कहा, 'हे रानी तुम्हें रोम हैं अथवा नहीं हैं ?'

सा बालभावादथ तं जगाद
उपोप मे शक्र परामृशेति।
तां पूर्वया सान्त्व्य नृपः प्रहृष्टो
अन्वव्रजत्साथ पतिं पतिव्रता ॥ ३ ॥

तब बाल-सुलभ भाव से उसने उन्हें सम्बोधित करते हुये 'उपोप मे' (ऋग्वेद १. १२६, ७) कहा। इसके पूर्व की ऋचा (ऋग्वेद १. १२६, ६) से उसे सान्त्वना देते हुये राजा हर्षित हुये। तब उसने एक पतिव्रता की भाँति अपने पति का अनुगमन किया।

अथाग्नेये अग्निमित्युत्तरे यं
पश्चैन्द्राणि प्र तदैन्द्व्यृगत्र।

युवं तमिन्द्रापर्वतौ सह स्तुतौ
त्विन्द्रं मेन इह यास्कः प्रधानम् ॥ ४ ॥

इसके बाद 'अग्निम्' (ऋग्वेद १. १२७) से आरम्भ अग्नि को सम्बोधित दो सूक्त (१२७, १२८) आते है। इनके बाद 'यम्' (ऋग्वेद १. १२९) से आरम्भ इन्द्र को सम्बोधित पाँच सूक्त (१२९–१३३) आते हैं। इनमें 'प्र तद्' (ऋग्वेद १. १२९, ६) ऋचा इन्दु को सम्बोधित है, जब कि 'युवं' (ऋग्वेद १. १३२, ६) में एक साथ ही इन्द्र-पर्वत की स्तुति की गई है। यहाँ यास्क ने इन्द्र को ही प्रधान माना है।

ऋक्षु स्तुतः पर्वतवद्धि वज्रो
द्विवत्स्तुतौ चेन्द्रमाहुः प्रधानम्।
आ त्वा वायोर्नव पञ्चेन्द्रवाय्वोर्
एका वायोरुत्तरं द्विप्रधानम् ॥ ५ ॥

क्योंकि कुछ ऋचाओं में वज्र की पर्वत के रूप में स्तुति की गई है, और इसीलिये इन दोनों की द्विवत् स्तुति होने पर उन लोगों के कथनानुसार इन्द्र की ही प्रधानता होती है। 'आ त्वा' (ऋग्वेद १. १३४, १) से आरम्भ नौ ऋचायें (ऋग्वेद १. १३४, १–६; १३५, १–३) वायु को, इनके बाद पाँच (१. १३५, ४–८) इन्द्र-वायु को, और फिर एक (१. १३५, ९) वायु को सम्बोधित है। बाद के सूक्त (ऋग्वेद १. १३६) में दो प्रधान देवता हैं।

२-विभक्त स्तुतियाँ। ऋग्वेद १. १३७–१३९। वैश्वदेव सूक्त

तत्र पञ्च वरुणमित्रदेवा
दिवादिभ्यः कथिताभ्यः परे द्वे।
द्वे द्वे पदे संस्तुते रोदसी च
देवाश्चार्धर्चेन विभक्तमन्यत् ॥ ६ ॥

यहाँ पाँच ऋचाओं (ऋग्वेद १. १३६, १–५) के देवता वरुण और मित्र हैं; बाद की दो ऋचायें (१. १३६, ६–७) द्यौस् तथा अन्य उल्लिखित देवताओं को सम्बोधित हैं। दोनों लोकों (रोदसी) सहित दो-दो देवताओं की एक ऋचा के विभिन्न पदों[१] में स्तुति है, तथा एक अर्ध-ऋचा में देवों की स्तुति है; ऋचा के शेषार्ध में विभक्त-स्तुति है।[२]

मरुतों को, और तब एक (९) इन्द्र-अग्नि को सम्बोधित है, इसके बाद की ऋचा (१०) बृहस्पति को सम्बोधित है; अन्तिम ऋचा (११) देवों की स्तुति करती है।

ऋषीनृषिर्वा स्तौति दध्यङ्ह मेऽ-
स्यामु आत्मानं वा तेषु शंसन्स्वजन्म।
तस्मादस्यां विप्रवदन्ति केचिद्
इन्द्राग्नी तस्यां तु निपातभाजौ ॥१०॥

'दध्यङ् ह मे' (ऋग्वेद १. १३९, ९) ऋचा में ऋषि या तो प्राचीन ऋषियों अथवा उनके बीच अपने जन्म का उल्लेख करते हुये अपनी ही स्तुति करता है। इसीलिये इस ऋचा के सम्बन्ध में असहमत होते हुये कुछ लोगों का कथन है कि इसमें इन्द्र-अग्नि की नैपातिक स्तुति की गई है।

३—दीर्घतमस् के जन्म की कथा

द्वावुचथ्यबृहस्पती ऋषिपुत्रौ बभूवतुः।
आसीदुचथ्यभार्या तु ममता नाम भार्गवी ॥ ११ ॥

उचथ्य और बृहस्पति (नाम के) दो ऋषि-पुत्र थे। उचथ्य की भृगु-वंशी पत्नी का नाम ममता था।

तां कनीयान्बृहस्पतिर् मैथुनायोपचक्रमे।
शुक्रस्योत्सर्गकाले तु गर्भस्तं प्रत्यभाषत ॥१२॥
इहास्मि पूर्वसंभूतो न कार्यः शुक्रसंकरः।
तच्छुक्रप्रतिषेधं तु न ममर्ष बृहस्पतिः ॥१३॥

इन दोनों में कनिष्ठ बृहस्पति मैथुन के लिये उसके (ममता के) पास गये। उनके शुक्रोत्सर्ग के समय गर्भ ने उनसे इस प्रकार कहा : 'मैं पहले से ही यहाँ सम्भूत हूँ, अतः तुम शुक्र को संकर करने का कार्य न करो।' फिर भी, बृहस्पति शुक्र सम्बन्धी इस प्रतिषेध को सहन न कर सके।

स व्याजहार तं गर्भं तमस्ते दीर्घमस्त्विति।
स च दीर्घतमा नाम बभूवर्षिरुचथ्यजः ॥१४॥

अतः उन्होंने गर्भ को सम्बोधित करते हुये कहा, 'तुम दीर्घतमस्वती होगे।' इसीलिये उचथ्य के पुत्र ऋषि का 'दीर्घतमस्' नाम के साथ जन्म हुआ।

स जातोऽभ्यतपद्देवान् अकस्मादन्धतां गतः।
ददुर्देवास्तु तन्नेत्रे ततोऽनन्धो बभूव सः॥ १५॥

जन्म लेते ही अकस्मात अन्धे हो जाने के कारण उसने देवों को दुःखी कर दिया। फिर भी देवों ने उसे उसके नेत्र दे दिये जिससे उसका अन्धापन दूर हो गया।

४–दीर्घतमस् को प्रकट सूक्त : ऋग्वेद १. १४१–१५६।

स वेदिषद इत्यस्तौच् चतुर्भिर्जातवेदसम्।
समिद्ध आप्रियोऽन्त्यैन्द्री तमित्यग्नेः पराणि षट्॥१६॥

इन्होंने (दीर्घतमस् ने) 'वेदिषदे' (ऋग्वेद १. १४०) से आरम्भ चार सूक्तों[1] द्वारा जातवेदस् (अग्नि) की स्तुति की। 'समिद्धः' (ऋग्वेद १. १४२) एक आप्री-सूक्त है जिसकी अन्तिम ऋचा (ऋग्वेद १. १४२, १३) इन्द्र को सम्बोधित है। 'तम्' (ऋग्वेद १. १४५, १) से आरम्भ बाद के छः सूक्त (१. १४५–१५०) अग्नि को सम्बोधित हैं।

[1] अर्थात् ऋग्वेद १. १४०, १४१, १४३, १४४। जब सूक्तों के किसी क्रम के बीच में कोई आप्री सूक्त आ जाता है तो उसे नीचे ५ ११ में वर्णित कारणों से छोड़ दिया जाता है।

स्तुतौ तु मित्रावरुणौ सूक्तैर्मित्रमिति त्रिभिः।
मित्रं मैत्रीं वदत्येताम् आ धेनवश्च शंसति॥१७॥

अदितिं वाथवाप्यग्निं तथा रूपं हि दृश्यते।
अग्निं मेनेऽदितिं त्वेव कुत्से चेह च शौनकः॥१८॥

किन्तु 'मित्रम्' (ऋग्वेद १. १५१, १) से आरम्भ तीन (१५१–१५३) सूक्तों द्वारा मित्र-वरुण की स्तुति की गई है। 'मित्रम्' (ऋग्वेद १. १५१, १) से ऐसा व्यक्त होता है कि यह ऋचा केवल मित्र को ही सम्बोधित है। 'आ धेनवः' (ऋग्वेद १. १५२, ६) में या तो अदिति की अथवा अग्नि की प्रशस्ति है; क्योंकि इसका ऐसा ही रूप दृष्टिगत होता है। फिर भी शौनक का विचार है कि 'कुत्स[1]' में तथा यहाँ भी अदिति का अर्थ केवल अग्नि ही है।[2]

[1] अर्थात् ऋग्वेद १. ९४, १५ में।

[2] ऋग्वेद १. ९४, १५ में यास्क ने अदिति को अग्नि माना है। तु० की० निरुक्त ११. २३ : 'अग्निर् अप्य् अदितिर् उच्यते।'

ऋषिरत्र प्रसङ्गाद्वा दर्शनाद्वानुकीर्तयेत् ।
विष्णोर्नु कमिति त्रीणि वैष्णवानि पराण्यतः ॥१९॥
प्र वश्च तिसृभिर्ऋग्भिर् इन्द्राविष्णू सह स्तुतौ ।
गृहाणि वा वैष्णवानि ता वामित्यृचि काङ्क्षति ॥२०॥

ऋषि ने यहाँ अदिति का या तो प्रसङ्गात् उल्लेख किया है अथवा इसलिये कि उसने (अग्नि को) इसी रूप में देखा है। 'विष्णोर्' (ऋग्वेद १. १५४, १) से आरम्भ इसके बाद के तीन सूक्त (१. १५४–१५६) विष्णु को सम्बोधित हैः और 'प्र वः' (ऋग्वेद १. १५५, १–३ से आरम्भ तीन ऋचाओं मे इन्द्र-विष्णु की सह-स्तुति है। 'ता वाम्' (ऋग्वेद १. १५४, ६) ऋचा में ऋषि द्वारा विष्णु के गृह की आकांक्षा व्यक्त कही जा सकती है।

५–दीर्घतमस् की कथा (क्रमशः)

जीर्णं तु दीर्घतमसं खिन्नास्तत्परिचारिणः ।
दासा बद्ध्वा नदीतोये दृष्टिहीनमवादधुः ॥ २१ ॥

दास परिचारकों ने खिन्न होकर उन वृद्ध और अन्धे दीर्घतमस् को बाँध कर नीचे[1] नदी के जल में फेंक दिया।

[1] तु० की० ऋग्वेद १ १५८, ५ 'दासा यद् ईं सुसमुब्धम् अवाधुः'। तु० की० निरुक्त ४ ४६ : 'त्रित कूपेऽवहितम्'।

तत्रैकस्त्रैतनो नाम शस्त्रेणैनमपाहनत् ।
शिरश्चांसावुरश्चैव स्वयमेव न्यकृन्तत ॥ २२ ॥

त्रैतन नामक उनमें (परिचारकों में) से एक ने उन पर अपनी तलवार से प्रहार करना चाहा, और (ऐसा करते हुये) उसने स्वयं अपने ही शिर, स्कन्ध, और वक्ष के टुकड़े कर दिये।[1]

[1] तु० की० ऋग्वेद १ १५८, ५ : 'शिरो यदस्य त्रैतनो वितक्षत्स्वयं दास उरो अंसावपि ग्ध'।

हत्वा दीर्घतमास्तं तु पापेन महता वृतम् ।
आत्माङ्गान्यनुदच्चैव तत्रोदोन्मोहितो भृशम् ॥ २३ ॥

महान पाप से लिप्त उसका (दास का) वध करने के पश्चात दीर्घतमस् ने जल में अत्यन्त संज्ञाशून्य हो रहे अपने अङ्गों को हिलाया।

अङ्गदेशसमीपे तु तं नद्यः समुदक्षिपन्।
अङ्गराजगृहे युक्ताम् उशिजं पुत्रकाम्यया ॥ २४ ॥
राज्ञा च प्रहितां दासीं भक्तां मत्वा महातपाः।
जनयामास चोत्थाय कक्षीवत्प्रमुखानृषीन् ॥२५॥

नदी की धारा ने उन्हें बहा कर अङ्ग देश के निकट पहुँचा दिया। उशिज् अङ्गराज के गृह में नियुक्त थी। पुत्र प्राप्ति की इच्छा से राजा ने इस दासी को उनके (दीर्घतमस् के) पास भेजा। उस महान तपस्वी (दीर्घतमस्) ने जल से बाहर आने पर उसकी (दासी की) भक्ति को देख कर उससे ऋषि कक्षीवत् तथा अन्य को उत्पन्न किया।

६—ऋग्वेद १. १५७-१६३ के देवता

तुष्टाव चैव सूक्ताभ्याम् अबोधीत्यश्विनावृषिः।
प्रेति द्यावापृथिव्यौ तु पराभ्यामेतदुत्तरम् ॥ २६ ॥
किमार्भवं परे मा नो मेध्यस्याश्वस्य संस्तवः।
ईर्मान्तास इति त्वस्यां नीयमानं प्रशंसति ॥ २७ ॥

और उस ऋषि ने 'अबोधि' (ऋग्वेद १. १५७. १) से आरम्भ दो सूक्तों (१५७, १५८) द्वारा अश्विनद्वय की, किन्तु 'प्र' (ऋग्वेद १. १५९, १) से आरम्भ बाद के दो सूक्तों (१५९, १६०) से द्यावापृथिवी की स्तुति की। 'किम्' (ऋग्वेद १. १६१, १) से आरम्भ इसके बाद जो सूक्त आता है वह ऋभुओं को सम्बोधित है। 'मा नः' (ऋग्वेद १. १६२, १) से आरम्भ दो अगले सूक्त (१६२, १६३) यज्ञाश्व की संस्तुति करते हैं। 'ईर्मान्तासः' (ऋग्वेद १६३, १०) ऋचा में वह अग्रणी किये जाने पर अश्व की प्रशस्ति करते हैं।

स्वयूथ्यास्तस्य चैवात्र बहवः संस्तुता ह्याः।
नियुक्ताश्चानियुक्ताश्च प्रसङ्गादनुकीर्तिताः ॥ २८ ॥

और यहाँ (ऋग्वेद १. १६३, १० में) भी उसके यूथ के अनेक अश्वों की स्तुति की गई है : संयुक्त और असंयुक्त दोनों का ही प्रसङ्गतः उल्लेख है।

संज्ञप्तवदसंज्ञप्तं भविष्यं चाह भूतवत्।
था ॥ २९ ॥

वासोऽधिवाससोश्चात्र यद्विशस्यं च कीर्तितम्।
गात्रस्य शूलस्थूणानां स्वधितेश्च प्रकीर्तनम् ॥ ३० ॥

बलि न हुई होने पर भी वह उसके सम्बन्ध में इस प्रकार कहते हैं मानो उसकी बलि हो गई है, और उसके भविष्य को इस प्रकार मानो वह गत हो गया है। उसके मांस, उसके वध,[1] पात्रों,[2] तथा हविष्य,[3] और वस्त्रों और ऊपरी परिधान,[4] उसके शरीर का जिसका इस प्रकार उल्लेख है मानो उसे अभी काटा जायगा,[5] शूल[6] और स्थूण,[7] और स्वधिति[8] (कुठार) का, यहाँ उल्लेख है।

[1] ऋग्वेद १ १६२, १३, में 'सूना' रूप आता है। तु० की० ऋग्वेद १ १६१, १० 'माम "सूनयाकृतम्।'

[2] ऋग्वेद १ १६२, १३, में 'चरूणाम्' आता है।

[3] ऋग्वेद १ १६२, १७ में 'हविष.' रूप है।

[4] 'वासस्' और 'अधिवास' दोनों ही ऋग्वेद १ १६२, १६ में आते हैं।

[5] तु० की० ऋग्वेद १ १६२, १८ 'गात्रा"पहष् परुर्"वि शस्त', १९ में 'अश्वस्य विशस्ता', और २० में 'मा ते "अविशस्ता"गात्राण्य असिना मिथू क'।

[6] तु० की० ऋग्वेद १ १६२, ११, 'ते"अग्नि शूल निहतस्य'।

[7] 'स्थूणा' शब्द सूक्त में नहीं आता किन्तु वह १ १६२, ६, में प्रयुक्त 'अश्व-यूप' और ९ में प्रयुक्त 'स्वरु' का समानार्थी है।

[8] 'स्वधिति' शब्द ऋग्वेद १ १६२, ९ १८ २०, में आता है।

७-ऋग्वेद १. १६४ के देवता : तीन अग्नि, संवत्सर

छागस्य कीर्तनं चात्र इन्द्रापूष्णोः सह स्तुतिः।
सूक्तं यदस्यवामीयं वैश्वदेवं तदुच्यते ॥३१॥

यहाँ 'छाग'[1] का उल्लेख, और साथ ही इन्द्र-पूषन् की स्तुति भी है।

'अस्य वामस्य'[2] (ऋग्वेद १. १६४) से आरम्भ सूक्त को विश्वेदेवों को सम्बोधित कहा गया है।

[1] इस सूक्त में बकरे का दो बार (२, ४ ऋचाओं में) 'अज' और एक बार (३ ऋचा में) 'छाग' के रूप में उल्लेख है।

[2] 'अस्यवामीय (सूक्तम्)' का ऋग्विधान २. ३६, २ और मनु ११ २५१ में भी उल्लेख है।

प्रवादा विविधास्तत्र देवानां चात्र कीर्तनम्।
सूक्तेऽस्यर्चि परोक्षोक्ता वक्ष्यामि भ्रातरस्त्रयः ॥३२॥

इसमें विविध प्रकार के प्रवाद हैं और यहाँ देवों का भी उल्लेख है।

इस सूक्त (१. १६४) की 'अस्य' ऋचा (१. १६४, १) में तीन भ्राताओं की परोक्ष रूप से चर्चा है, जिनकी मैं व्याख्या करूंगा।

अग्निस्तु वामः पलितो वायुर्भ्राता तु मध्यमः ।
घृतपृष्ठस्तृतीयोऽत्र सप्त वै रश्मय स्तुताः ॥ ३३ ॥

(इनमें से) कृपालु और पके बालों वाले अग्नि हैं, जब कि मध्यम भ्राता वायु हैं। यहाँ तृतीय (भ्राता) 'घृत-पृष्ठ'[1] हैं : इनके सप्तरश्मियों की स्तुति की गई है;[2]

[1] तु० की० ऋग्वेद १. १६४, १ : 'तृतीयो भ्राता घृत पृष्ठ', जिसकी यास्क ने पार्थिव अग्नि ('अयम् अग्निः', निरुक्त ४. २६) के रूप में व्याख्या की है।

[2] ऋग्वेद १. १६४, १ में 'सप्तपुत्रम्' शब्द की यास्क (वहीं) ने सूर्य की सात रश्मियों के रूप में व्याख्या की है।

परास्तु कथयन्त्यग्निं यथा वर्षति पाति च ।
अहोरात्रान्दिनान्मासान् ऋतूंश्च परिवर्तिनः ॥३४॥

किन्तु बाद की ऋचा में इस बात का कि अग्नि किस प्रकार वर्षा और रक्षा करते हैं[1]; तथा दिन और रात्रि (अहोरात्र), दिनों, मासों और ऋतु-चक्र का वर्णन है।[2]

[1] मुख्यतः ऋग्वेद १. १६४, ७ में।

[2] तु० की० यास्कः निरुक्त ४. २७।

८—ऋग्वेद १. १६४ के विषय-वस्तु का विवरण (क्रमशः)

पञ्चधा च त्रिधा चैव षोढा द्वादशधैव च ।
संवत्सरं चक्रवच्च पराभिः कीर्तयत्यृषिः ॥३५॥

क्षेत्रज्ञानं च धेनुं च गौरीं वाचं सरस्वतीम् ।
धर्मं पूर्वयुगीयं च साध्यान्देवगणांस्तथा ॥३६॥

विविधानि च कर्माणि अग्निवायुविवस्वताम् ।
विभूतिमग्नेर्वायोश्च जगति स्थास्नुजङ्गमे ॥३७॥

हरणं रश्मिभिर्वारो विसर्गं पुनरेव च ।
कर्मानुकीर्तनं चात्र पर्जन्याग्निविवस्वताम् ॥३८॥

अगली ऋचाओं[1] में ऋषि ने पञ्चधा और त्रिधा, षड्धा और द्वादशधा चक्र के रूप में संवत्सर की,[2] और क्षेत्रज्ञान और गाय[3], भैंस[4], वाच्[5], सरस्वती[6], पूर्वयुगीन धर्म, साध्यों और देवों[7] के गणों की, और अग्नि, वायु तथा विवस्वत् (सूर्य)[8] के विविध कर्मों, और स्थावर तथा जङ्गम लोकों में अग्नि तथा वायु के विभूति की, और सूर्य की रश्मियों द्वारा जलों के हरण[9] तथा उनके पुन[10] वर्षा की, स्तुति की है। यहाँ पर्जन्य, अग्नि[11], तथा विवस्वत्[12] (सूर्य) के कर्मों का भी कीर्तन है।

[1] अर्थात् ऋग्वेद १ १६४, १२–२६ में।
[2] अथर्ववेद १९ ५३, २ पर भाष्य करते हुये सायण ने 'तथा च शौनकोऽप्याह' शब्दों के साथ इस श्लोक को उद्धृत किया है।
[3] 'धेनु' नाम ऋग्वेद १ १६४, २६ में आता है।
[4] ऋग्वेद १ १६४, ४१। [5] ऋग्वेद १ १६४, ४१।
[6] ऋग्वेद १ १६४, ४९।
[7] ऋग्वेद १ १६४, ५० 'देवा ' "यज्ञांणि प्रथमानि" "पूर्वे साध्या'।
[8] ऋग्वेद १ १६४, ४४ में 'वपत एक "विश्वम् एको अभि चष्ट 'भ्राजिर एकस्य ददृशे न रूपम्'।
[9] ऋग्वेद १ १६४, ५१ 'समानम् एतद् उदकम् उच् चैत्य् अव चाहभिः।'
[10] पु० की० ऊपर २ ६८, और २ ९१। [11] ऋग्वेद १. १६४, ५१ में।
[12] ऋग्वेद १ १६४, ५२ में।

मातापुत्रौ तु वाक्प्राणौ माता वागितरः सुतः।
सरस्वन्तमिति प्राणं वाचं प्राहुः सरस्वतीम् ॥३९॥

अब, वाच् और प्राण माता पुत्र हैं वाच् माता है और दूसरा (प्राण) पुत्र। 'सरस्वत्'[1] से प्राण का तात्पर्य है, जब कि वाच् को सरस्वती कहा गया है।

[1] यहाँ 'सरस्वन्तम्' को ऋग्वेद १ १६४, ५२ ('सरस्वन्तम् अवसे जोहवीमि') से उद्धृत किया गया है।

शरीरमिन्द्रियैर्युक्तं क्षेत्रमित्यभिधीयते।
वेद तत्प्राण एवैकस् तस्मात्क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥४०॥

इन्द्रियों से युक्त शरीर को 'क्षेत्र' कहा गया है। केवल प्राण ही इसे जानता है अत प्राण को 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है।

९.–ऋग्वेद १. १६४ (क्रमश)। ऋग्वेद १. १६५ : इन्द्र तथा मरुद्गण

मेघे शक्रस्तस्य धूमः सलिलं वास एव वा।
सोम उक्षा भवन्त्यस्य पावकाश्च त्रयोऽधिपाः ॥४१॥

सब युग्म, अन्तिम[3] और ग्यारहवीं तथा प्रथम, ऋचायें इन्द्र की हैं। इसके बाद की तीन ऋचायें (१. १६५, १३–१५) मरुतों को सम्बोधित हैं। किन्तु इन तीन ऋचाओं के कर्तृत्व का यहाँ[4] अन्य[5] को श्रेय[6] दिया गया है।

[1] इसका तात्पर्य यह है कि इस सूक्त का यह संवाद इन्द्र और मरुतों के बीच सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संवाद है, यद्यपि इस प्रकार के अन्य सूक्त भी हैं (उदाहरण के लिये ऋग्वेद १ १७०)।

[2] तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'तृतीयाद्ययुजो मरुतां वाक्यं'।

[3] संवाद सम्बन्धी अन्तिम, अर्थात् बारहवीं ऋचा। इस सूक्त की अन्तिम तीन ऋचाओं (१. १६५, १३-१५) को संवाद का अंग नहीं माना गया है, ऐसा ४५वें श्लोक द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

[4] ऋग्वेद १ १६५ के अन्त में।

[5] अर्थात् १–१२ ऋचाओं से भिन्न को।

[6] यहाँ सम्भवतः आर्षानुक्रमणी १ २५, २६ से तात्पर्य है, जिसमें युग्म ऋचाओं का इन्द्र को ऋषि बताया गया है और अयुग्म का मरुतों को, जब कि इस सूक्त की अन्तिम तीन ऋचाओं के द्रष्टा अगस्त्य हैं। (सूक्तस्यान्त्ये तृचेऽगस्त्य ऋषिः')।

इतिहासः पुरावृत्त ऋषिभिः परिकीर्त्यते।
समागच्छन्मरुद्भिस्तु चरन्व्योम्नि शतक्रतुः ॥ ४६ ॥

ऋषियों द्वारा यहाँ प्राचीन वृत्तान्तों के इतिहास का कथन है। आकाश में भ्रमण करते हुये शतक्रतु मरुतों के साथ नीचे गिर पड़े।

दृष्ट्वा तुष्टाव तानिन्द्रस् ते चेन्द्रमृषयोऽब्रुवन्।
तेषामगस्त्यः संवादं तपसा वेद तत्त्वतः ॥ ४७ ॥

इन्हें देख कर इन्द्र ने इनकी तुष्टि की, और इन लोगों ने भी ऋषियों के रूप में इन्द्र को सम्बोधित किया। तप की सहायता से अगस्त्य इनके संवाद से तत्त्वतः अवगत हो गये।

स तानभिजगामाशु निरुप्यैन्द्रं हविस्तदा।
मरुतश्चाभितुष्टाव सूक्तैस्तन्न्विति च त्रिभिः ॥ ४८ ॥

तब इन्द्र के लिये एक हविष्य का निर्माण कर के वह (अगस्त्य) शीघ्रता पूर्वक वहाँ गये, और उन्होंने 'तन नु' (ऋग्वेद १. १६६, १) से आरम्भ तीन सूक्तों (१६६–१६८) द्वारा मरुतों[1] की भी स्तुति की।

[1] अर्थात्, १६५ सूक्त की तीन ऋचाओं तथा १६६–१६८ सूक्तों द्वारा।

मह्श्चिदिति चैवेन्द्रं सहस्रमिति चैतया ।
निरुप्तं तद्धविश्चेन्द्रं मरुद्भ्यो दातुमिच्छति ॥ ४९ ॥

'महश्चित्' (ऋग्वेद १ १६९) से उन्होंने इन्द्र की स्तुति की तथा 'सहस्रम्' (ऋग्वेद १ १६७, १) ऋचा द्वारा उन्होंने मरुतों को वह हवि देने की इच्छा की जिसे उन्होंने इन्द्र के लिये निमित्त किया था।[1]

[1] तु० की० निरुक्त १ ५ 'अगस्त्य इन्द्राय हविर् निरुप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्सां चकार, स इन्द्र एत्य परिदेवयां चक्रे।'

विज्ञायावेक्ष्य तद्भावम् इन्द्रो नेति तमब्रवीत् ।
न श्वो नाद्यतनं ह्यस्ति वेद कस्तद्यदद्भुतम् ॥ ५० ॥

उनके भाव[1] को जान कर इन्द्र ने उनसे 'न' (ऋग्वेद १ १७० १) से आरम्भ यह वचन कहे 'वास्तव[2] में न तो आगामी कल के लिये कुछ है और न आज के लिये जो कभी रहा ही नहीं[3] उसे कौन जानता है ?

[1] तु० का० माघ ६ २८ विचिन्त्या गम्म त भावम्।

[2] शौनक के शब्द ऋग्वेद १ १७० १ ('ना नूनम् अस्ति नो श्वः कस् तद् वेद यद् अद्भुतम्' ?) । तु० का० निरुक्त १ ६

[3] यास्क (निरुक्त १ ६) ने 'अद्भुतम्' की अभूतम् के रूप में व्याख्या की है।

कस्यचित्त्वर्थसंचारे चित्तमेव विनश्यति ।
किं न इत्यब्रवीदिन्द्रम् अगस्त्यो भ्रातरस्तव ॥ ५१ ॥

'अर्थ संचार की अनिश्चितता से मनुष्य का चिन्तन किया हुआ भी विनष्ट हो जाता है।' तब अगस्त्य ने इन्द्र से 'किं न' (ऋग्वेद १ १७०, २), अर्थात् यह कहा कि 'मरुद्गण आप के भ्राता हैं'।

मरुद्भिः संप्रकल्पस्व वधीर्मा नः शतक्रतो ।
किंनोभ्रातरितित्वस्याम् इन्द्रो मान्यमुपालभत् ॥५२॥

'मरुतों से सहमत हों,[1] शतक्रतु हमारा वध न करें।'[2] किन्तु 'किं नो भ्रात' (ऋग्वेद १. १७०, ३) ऋचा में इन्द्र ने मान्य[3] (अगस्त्य) का उपालम्भ किया।

[1] तु० की० ऋग्वेद १ १७०, २ 'तेभिः कल्पस्व साधुया।'

[2] तु० की० ऋग्वेद वही, 'मा नः समरणे वधीः'।

[3] ऋषि अगस्त्य के नाम के रूप में 'मान्य', ऋग्वेद १ १६५, १४ १५ में आया है।

अगस्त्यस्त्वरमित्यस्यां क्षुब्भमिन्द्रं प्रशामयत् ।
प्रादात्संधननं कृत्वा तेभ्य एव च तद्धविः ॥ ५३ ॥

किन्तु 'अरम' (ऋग्वेद १. १७०, ४) में अगस्त्य ने क्षुब्ध इन्द्र को शान्त किया है । उन्हें सान्त्वना देने के पश्चात् उन्होंने (अगस्त्य ने) मरुतों को हवि समर्पित की ।

११—ऋग्वेद १. १७१–१७८ । अगस्त्य और लोपामुद्रा: ऋग्वेद १. १७९

सुते चकार सोमेऽथ तानिन्द्रः सोमपीथिनः ।
तस्माद्वियान्निपातेन ऐन्द्रेषु मरुत स्तुतान् ॥५४॥

जब सोम दबाया गया, तब इन्द्र ने उन्हें (मरुतों को) भी (अपने साथ) सोम पान करने वाला बनाया । अतः यह जानना चाहिये कि इन्द्र को सम्बोधित सूक्तों में मरुतों की नैपातिक स्तुति होती है ।

प्रीतात्मा पुनरेवर्षिस् तांस्तुष्टाव पृथक्पृथक् ।
मरुतः प्रति सूक्ताभ्याम् इन्द्रं षड्भिः परैस्तु सः ॥५५॥

हृदय से प्रसन्न होकर ऋषिने 'प्रति' (ऋग्वेद १. १७१, १) से आरम्भ दो सूक्तों (१७१, १७२) द्वारा पुनः पृथक् रूप से मरुतों की, किन्तु बाद के छः सूक्तों (१. १७३–१७८) द्वारा इन्द्र की स्तुति की ।

स्तुतश्चतसृभिश्चेन्द्र स्तुतास इति तैः सह ।
मरुद्भिः सह यत्रेन्द्रो मरुत्वांस्तत्र सोऽभवत् ॥५६॥

और 'स्तुतासः' (से आरम्भ) चार ऋचाओं (ऋग्वेद १. १७३, ३–६) में इन्द्र की उनके साथ स्तुति है ।[1] जहाँ कहीं भी इन्द्र मरुतों के साथ थे वहाँ वह मरुत्वत् थे ।

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'मरुत्वास् त्व् इन्द्रो देवता ।'

ऋतौ स्नातामृषिर्भार्यां लोपमुद्रां यशस्विनीम् ।
उपजल्पितुमारेभे रहःसंयोगकाम्यया ॥ ५७ ॥

जब वह ऋतुस्नान से निवृत्त हो चुकी तब अपनी यशस्विनी पत्नी लोपामुद्रा से ऋषि[1] ने समागम की इच्छा से वार्ता आरम्भ की ।

[1] अर्थात् अगस्त्य ।

द्वाभ्यां सा त्वब्रवीदृग्भ्यां पूर्वीरिति चिकीर्षितम् ।
रिरंसुस्तामथागस्त्य उत्तराभ्यामतोषयत् ॥५८॥

'पूर्वी' (से आरम्भ) दो ऋचाओं (ऋग्वेद १ १७९, १–२) में उसने (लोपामुद्रा ने) अपना अभिप्राय व्यक्त किया। तब आनन्द प्राप्त करने की इच्छा से अगस्त्य ने उसे दो बाद की ऋचाओं (ऋग्वेद १ १७९, ३–४) से सन्तुष्ट किया।

विदित्वा तपसा सर्वं तयोर्भावं रिरंसतोः ।
श्रुत्वैनः कृतवानस्मि ब्रह्मचार्युत्तमे जगौ ॥५९॥

(ऋषि के) शिष्य ने अपने तप[1] के प्रभाव से इन दोनों (अगस्त्य और लोपामुद्रा) की परस्पर आनन्द प्राप्त करने की इच्छा की सम्पूर्ण स्थिति को जान लिया, किन्तु यह विचार करके कि उसने इस प्रकार बातों को सुन[2] कर एक पाप किया है, उसने अन्तिम दो ऋचाओं (५वीं और ६वीं) का गायन किया।

[1] तु० का० ऊपर ४ ४७ 'सवाद् तपसा वेद' और ४ ५० 'विशाय तद्भावम्'।
[2] तु० का० सर्वानुक्रमणी 'सवा- श्रुत्वा तेवासी ब्रह्मचारी-ये ... ' और ऋग्वेद १ १७९, ५ पर सायण 'सभोगमलाप श्रुत्वा तत्प्रायश्चित्त निकापुर उत्तरा भ्यान् आह।'

प्रशस्य तं परिष्वज्य गुरू मूर्ध्न्यवजघ्रतुः ।
स्मित्वैनमाहतुश्चोभाव अनागा असि पुत्रक ॥६०॥

गुरु और उनकी पत्नी दोनों ने उसकी प्रशंसा और आलिङ्गन करते हुये उसके माथे का चुम्बन किया, और दोनों ने ही उससे कहा कि 'हे पुत्र तुम निष्पाप हो।'

'युवो रजांसीति ततः सूक्तैः पञ्चभिरश्विनौ ।
अगस्त्य एव तुष्टाव कतरेति परेण तु ॥६१॥
द्यावापृथिव्यौ सूक्तेन आ नो विश्वान्दिवौकसः ।
पितुमन्नं समिद्धाप्र्यो अग्निमग्ने नयेति च ॥६२॥

तब 'युवो रजांसि' (ऋग्वेद १ १८०, १) से आरम्भ पाँच सूक्तों (१८०–१८४) द्वारा अगस्त्य ने अश्विनों की, किन्तु 'कतरा' (ऋग्वेद १ १८५, १) से आरम्भ बाद के सूक्त द्वारा द्यावापृथिवी की, 'आ न' सूक्त

(ऋग्वेद १. १८६) द्वारा समस्त आकाश-वासियों[1] की, 'पितुम्' (ऋग्वेद १. १८७) से अन्न की—'समिद्धः' (ऋग्वेद १. १८८) एक आप्री-सूक्त है—और 'अग्ने नय' (ऋग्वेद १. १८९) द्वारा अग्नि की स्तुति की।

[1] अर्थात् विश्वेदेवों की।

बृहस्पतेरनर्वाणं कङ्कतोपनिपत्परम्।
अपां तृणानां सूर्यस्य केचिदेतां स्तुतिं विदुः ॥६३॥

'अनर्वाणम्' (ऋग्वेद १. १९०) बृहस्पति को (समर्पित) है। 'कङ्कत' से आरम्भ बाद के सूक्त (ऋग्वेद १. १९१) का औपनिषदिक[1] महत्व है। कुछ लोग इसे जल, तृण, और सूर्य[2] की स्तुति मानते हैं।

[1] यहाँ प्रयुक्त 'उपनिषत्' के अर्थ के लिये तु० की० ऋग्वेद १. ५० पर षड्गुरुशिष्य।

[2] तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'कङ्कत ......उपनिषद्......अप्-तृण-सौर्य विषशङ्कावान् अगस्त्यः प्रागवीत्।'

ददर्श तदगस्त्यो वा विषघ्नं विषशङ्कया।
अदृष्टाख्यो नष्टरूपः सूक्तस्यान्त्योऽत्र तु द्वृचः ॥ ६४ ॥

अथवा विष की शङ्का से अगस्त्य ने इसका विषघ्न के रूप में दर्शन किया फिर भी इस सूक्त की अन्तिम दो ऋचायें 'अदृष्टाख्य' (जिसमें कोई स्पष्ट नाम न हो) और 'नष्टरूप' (अस्पष्ट) हैं।

द्वितीय मण्डल

१३ ऋग्वेद २. १-१२ के देवता। गृत्समद, इन्द्र, और दैत्यगण

अस्तौद्गृत्समदोऽग्निं त्वं जातवेदस्यमाप्रियः।
यज्ञेनाथ समिद्धोऽग्निर् अतोऽग्निं सप्तभिर्हुवे ॥ ६५ ॥

गृत्समद ने 'त्वम्' (ऋग्वेद २. १) से अग्नि की। इसके बाद 'यज्ञेन' (ऋग्वेद २. २) और 'समिद्धो' (ऋग्वेद २. ३) जातवेदस् को सम्बोधित तथा आप्री ऋचायें हैं। इनके बाद 'हुवे' (ऋग्वेद २. ४) से आरम्भ सात सूक्तों (४-१०) में उन्होंने अग्नि की स्तुति की।

संयुज्य तपसात्मानम् ऐन्द्रं बिभ्रन्महद्वपुः।
अदृश्यत मुहूर्तेन दिवि च व्योम्नि चेह च ॥ ६६ ॥

तप के साथ आ[illegible] के [illegible]न विभ्राट शरीर

ने उनसे (इन्द्र से) कहा 'हे वक्ताओं में प्रमुख ! हम लोगों को शरीर की, और हृदयगम हो जाने वाली वाणी की, सुरक्षा प्राप्त हो। हम सुवीरों और सम्पत्ति से सम्पन्न हों।' हे इन्द्र ! हम अपने विचारों द्वारा तुम्हारा ध्यान करते है, और हे इन्द्र ! हम तुम्हें प्रत्येक जन्मों[2] में जान लेते हैं, हमसे दूर मत जाओ, तुम श्रेष्ठ रथी हो।[3]

[1] तु० वा० ऋग्वेद २ १२, १५ 'सुवीरासो विदथम् आ वदेम', और २ २१, ६. 'पोष रयीणाम्, अरिष्टि तनूना स्वाद्मान वाच ।'

[2] अर्थात् इन्द्र द्वारा किसी भी रूप में जन्म धारण करने से तात्पर्य है।

[3] तु० कौ० ऋग्वेद १ ८४, ६ में इन्द्र के लिये प्रयुक्त यह शब्द 'नकिष् ट्वद् रथीतर ।

१५-इन्द्र और गृत्समद की कथा (क्रमशः)

निरुक्तं तदिदं वार्यम् इन्द्र श्रेष्ठान्यृचान्त्यया ।
वव्रे वरमिदं सर्वं तदाकर्ण्य शचीपतिः ॥ ७४ ॥
तथेत्युक्त्वा तुराषाट् तु पाणौ जग्राह दक्षिणे ।
ऋषिश्चास्य सखित्वेन पाणिना पाणिमस्पृशत् ॥ ७५ ॥

(गृत्समद के) इस वरण की 'इन्द्र श्रेष्ठानि' (ऋग्वेद २. २१, ६) से आरम्भ अन्तिम ऋचा में (इस प्रकार) व्याख्या की गई है उन्होंने (ऋषि ने) इन सब का वर के रूप में वरण किया। यह सुन कर शचीपती, और शीघ्र विजेता ने सहमत होते हुये उनको (ऋषि को) अपने दाहिने हाथ से पकड़ा और ऋषि ने भी उनके (इन्द्र के) प्रति अपने मैत्रीभाव के साथ अपने हाथ से उनके (इन्द्र के) हाथ का स्पर्श किया।

सहितौ जग्मतुश्चैवं महेन्द्रसदनं प्रति ।
तत्रैनमार्हयत्प्रीत्या स्वयमेव पुरंदरः ॥ ७६ ॥
कर्मणा विधिदृष्टेन तमृषिं चाभ्यपूजयत् ।
सखित्वाच्च पुनश्चैनम् उवाच हरिवाहनः ॥ ७७ ॥

और इस प्रकार यह दोनों साथ-साथ इन्द्र के आवास में गये। वहाँ पुरन्दर (इन्द्र) ने स्वयं उनका (ऋषि का) आदर तथा विधिवत कर्म द्वारा पूजन किया। और अपनी मित्रता के कारण हरिवाहन (इन्द्र) ने उनको (ऋषि को) पुनः सम्बोधित किया

गृणन्मादयसे यस्मात् त्वमस्मानृषिसत्तम ।
तस्माद्गृत्समदो नाम शौनहोत्रो भविष्यसि ॥ ७८ ॥

'हे ऋषियों में श्रेष्ठ ! यतः तुम अपनी स्तुति[1] द्वारा हम लोगों को प्रसन्न करते हो, अतः शुनहोत्र[2] के पुत्र होने के कारण तुम्हारा नाम गृत्समद[3] होगा।'

[1] तु० की० 'गृहन्' के सम्बन्ध में यास्क. निरुक्त ९. ५ : 'गृत्स इति मेधाविनाम गृणातेः स्तुतिकर्मणः।'

[2] तु० की० आर्षानुक्रमणी २. २ : 'औरसः शुनहोत्रस्य'।

[3] तु० की० दूसरे मण्डल की सर्वानुक्रमणी की भूमिका पर षड्गुरुशिष्यः 'पश्चाद् इन्द्रेणोक्तगृत्समदनामा।'

ततो द्वादशभिः सूक्तैस् तुष्टावेन्द्रं श्रुधीत्यृषिः।
ददर्श संस्तुवन्नेव तत्र स ब्रह्मणस्पतिम् ॥ ७९ ॥

इसके बाद 'श्रुधि' (ऋग्वेद २.११, १) से आरम्भ बारह सूक्तों द्वारा ऋषि ने इन्द्र की स्तुति की। और जब वह स्तुति कर रहे थे तो उन्होंने वहाँ ब्रह्मणस्पति को देखा।

१६—ऋग्वेद २. २३—३० के देवता

बृहस्पतिं तु तुष्टाव दृष्टलिङ्गाभिरेव च।
स तमप्यभितुष्टाव चतुर्भिरिति उत्तरैः ॥ ८० ॥
गणानां विश्वमित्यस्यां सहेन्द्राब्रह्मणस्पती।
बृहस्पतिं प्रसङ्गाद्वा ब्रह्मणस्पतिमेव च ॥ ८१ ॥

उन्होंने उन ऋचाओं में बृहस्पति की स्तुति की जिनमें उनका (बृहस्पति का) नाम दृष्टिगत होता है। उन्होंने इसके बाद 'गणानाम्' (ऋग्वेद २. २३, १) से आरम्भ बाद के चार सूक्तों (ऋग्वेद २. २३—२६) में भी इनकी, तथा 'विश्वम्' (ऋग्वेद २. २४, १२) ऋचा में इन्द्र और ब्रह्मणस्पति की साथ-साथ स्तुति की। अथवा[1] उन्होंने बृहस्पति की प्रसङ्गशः और ब्रह्मणस्पति की स्पष्ट रूप से स्तुति की।

[1] ८०वें सूक्त में जो कुछ कहा गया है उसी की एक वैकल्पिक उक्तिः अर्थात् ब्रह्मणस्पति तो 'सूक्तभाज्' हैं, जब कि बृहस्पति 'ऋग्भाज्' (८० में) अथवा 'निपातभाज्' (८१ में) हैं।

तुष्टाव कर्मणैकेन प्रभावस्यान्तरं द्वयोः।
मित्रावरुणदक्षांशतुविजातभगार्यम्णाम् ॥ ८२ ॥
आदित्यानामिमाः सूक्तम् इदं वारुणमुच्यते।
वारुणी यो मे इत्याद्या दुःस्वप्नाद्यप्रणाशिनी ॥ ८३ ॥

उन्होंने एक ही कर्म द्वारा दोनों के भिन्न प्रभाव की स्तुति की।

'इमा' (ऋग्वेद २ २७) सूक्त, मित्र, वरुण, दक्ष, अंश, तुविजात, भग, अर्यमा, और आदित्यों को समर्पित है। 'इदम्' (ऋग्वेद २ २८) को वरुण को सम्बोधित कहा गया है। 'यो मे' (ऋग्वेद २ २८, १०) से आरम्भ वरुण को सम्बोधित ऋचा दुःस्वप्नों आदि की विनाशक है।

धृतव्रता वैश्वदेवम् ऋतमैन्द्रं परं तु यत्।
प्र हि क्रतुमिति त्वस्याम् इन्द्रासोमौ सह स्तुतौ॥ ८४॥

धृतव्रता (ऋग्वेद २ २९) विश्वेदेवों को सम्बोधित है, किन्तु इसके बाद ऋतम् (ऋग्वेद २ ३०) इन्द्र को सम्बोधित है। 'प्र हि क्रतुम्' (ऋग्वेद २ ३०, ६) ऋचा में इन्द्र सोम की साथ-साथ स्तुति है।

सरस्वति त्वमित्यस्मिन् अर्धर्चे मध्यमा तु वाक्।
बृहस्पतिस्तुतिर्यो नस् तं व ऋङ् मरुतां स्तुतिः॥ ८५॥

किन्तु 'सरस्वति त्वम्' (ऋग्वेद २ ३०, ८) अर्धऋचा में मध्यम वाक् की स्तुति है। 'यो न' (ऋग्वेद २ ३०, ९) बृहस्पति की स्तुति है, और 'तं व' (ऋग्वेद २ ३०, ११) मरुतों की स्तुति है।

१७—ऋग्वेद २. ३१-३५ के देवता

अस्माकं वैश्वदेवं स्याद् आदावस्येति चास्य ऋक्।
द्यावापृथिव्योस्त्वाष्ट्र्यौ वा अथवैन्द्र्यौ परे ततः॥८६॥

'अस्माकम्' (ऋग्वेद २ ३१) को विश्वेदेवों को सम्बोधित मानना चाहिए, और आरम्भ की 'अस्य' (ऋग्वेद २ ३२, १) ऋचा आकाश और पृथिवी को समर्पित है इसके बाद की दो ऋचायें (ऋग्वेद २ ३२, २ ३) या तो त्वष्टा को अथवा इन्द्र को समर्पित हैं।

द्वे द्वे राकासिनीवाल्योः षड् गुङ्ग्वाद्यास्तथान्त्यया।
तत्पूर्वे द्वे ऋचौ कुह्वाः कुहूमहमिति स्मृते॥

(इसके बाद) प्रत्येक दो दो ऋचाओं में राका (ऋग्वेद २ ३२, ४ ५) और सिनीवाली (६, ७) की, जबकि अन्तिम (८) में गुङ्गू सहित छः देवियों की स्तुति है इससे पूर्व 'कुहूम् अहम्'' से आरम्भ दो ऋचाओं को कुहू को सम्बोधित माना गया है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ३. ३, ११, ५ में राका को समर्पित दो ऋचाओं (= ऋग्वेद २. ३२, ४. ५) के बाद कुहू को सम्बोधित उपरोक्त दो ऋचायें आती हैं।

तदुत्तरे द्वेऽनुमतेर् अनु नोऽन्विदिति स्मृते।
धातुश्चतस्रस्तत्रादौ धाता ददातु नो रयिम् ॥ ८८ ॥

इनके बाद 'अनु नः' और 'अन्व् इत्' से आरम्भ दो ऋचायें अनुमति[1] की मानी गई हैं। इसी स्थान पर आरम्भ में 'धाता ददातु नो रयिम्'[2] से आरम्भ चार ऋचायें धातृ को सम्बोधित हैं।

[1] देखिये तैत्तिरीय संहिता ३. ३, ११, ३. ४।
[2] देखिये तैत्तिरीय संहिता ३. ३, ११, २ ३।

रौद्रं मारुतं तु परम् आ ते धारावरा इति।
वामतस्तु मृगं दृष्ट्वा बिभ्यदेत्य ऋषिः स्वयम् ॥८९॥
स्तुहि श्रुतमिति त्वस्यां तमेवास्तौत्प्रसादयन्।
अपां नपादुपेत्यत्र स्तुतः सूक्ते ततः परे ॥९०॥

'आ ते' (ऋग्वेद २. ३३) रुद्र को और इसके बाद का 'धारावरा' (ऋग्वेद २. ३४) मरुतों को सम्बोधित है।

अपने बायें ओर पशु को देखकर ऋषि ने भयभीत होकर 'स्तुहि श्रुतम्' (ऋग्वेद २. ३३, ११) ऋचा द्वारा उसकी ही स्तुति की। इसके बाद 'उप' (ऋग्वेद २. ३५) से आरम्भ सूक्त में 'अपां नपात्' की स्तुति है।

१८–ऋग्वेद २. ३६–४३ के देवता। कपिञ्जल के रूप में इन्द्र

तुभ्यमित्यार्तवे सूक्ते सावित्रादाश्विनं परम्।
सोमः पूषादितिश्चैव सोमापौष्णेऽन्त्यया स्तुताः ॥९१॥

'तुभ्यम्' (ऋग्वेद २. ३६, १) से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद २. ३६–३७) ऋतुओं को सम्बोधित हैं। फिर सवितृ को सम्बोधित एक (ऋग्वेद २. ३८) के बाद अश्विनों को सम्बोधित एक सूक्त (ऋग्वेद २. ३९) आता है। सोम-पूषन् को सम्बोधित सूक्त (ऋग्वेद २. ४०) की अन्तिम ऋचा में सोम, पूषन्, और अदिति की भी स्तुति है।

वायव्ये चैन्द्रवायवो पश्चाथ प्राउगास्तृचाः।
प्रेत्यृक्स्तौति हविर्धाने अग्निस्तत्र निपातभाक्।
द्यावापृथिव्यौ द्यावेति हविर्धाने ततः परे ॥९२॥

दो ऋचायें (ऋग्वेद २ ४१, १. २) वायु को सम्बोधित हैं और एक ऋचा (ऋग्वेद २ ४१, ३) इन्द्र-वायु को, इसके बाद ऋचाओं के पाँच त्रिक (ऋग्वेद २. ४१, ४–१८) प्रउग[1] देवताओं को सम्बोधित हैं। 'प्र' (ऋग्वेद २. ४१, १९) ऋचा में हविर्धान की स्तुति है: अग्नि यहाँ निपातभाज् हैं। 'द्यावा' (ऋग्वेद २. ४१, २०) आकाश और पृथिवी की स्तुति करता है, इसके बाद (ऋग्वेद २. ४१, २१ में) हविर्धान आते हैं।

[1] इन देवताओं के लिये देखिये ऊपर ३. २७–३५, ऋग्वेद १. ३ और २. ४१ पर सर्वानुक्रमणी भी।

स्तुतिं तु पुनरेवेच्छन् इन्द्रो भूत्वा कपिञ्जलः।
ऋषेर्जिगमिषोराशां ववाशास्थाय दक्षिणाम् ॥९३॥

पुनः स्तुति प्राप्त करने की इच्छा से इन्द्र तीतर पक्षी बन गये, और ऋषि जब बाहर[1] जाने को हुये तब उन्होंने (तीतर रूपी इन्द्र ने) ऋषि के दक्षिण स्थित होकर आवाज़ लगाई।

[1] तु० की० निरुक्त ९ ४: 'गृत्समदम् अर्थम् अभ्युत्थितं कपिञ्जलोऽभिववाशे', तु० की० ऋग्वेद २ ४२ पर सर्वानुक्रमणी।

स तमार्षेण संप्रेक्ष्य चक्षुषा पक्षिरूपिणम्।
पराभ्यामभितुष्टाव सूक्ताभ्यां तु कनिक्रदत् ॥९४॥

उन्होंने (गृत्समद ने) आर्ष नेत्रों से पक्षी के रूप में इन्द्र को पहचानते हुये 'कनिक्रदत्' (ऋग्वेद २. ४२, १) से आरम्भ दो बाद के सूक्तों (ऋग्वेद २. ४२–४३) में उनकी स्तुति की।

तृतीय मण्डल

१९–विश्वामित्र ऋषि। ऋग्वेद ३. १–६ के देवता

प्रशास्य गां यस्तपसाभ्यगच्छद्
ब्रह्मर्षितामेकशतं च पुत्रान्।
स गाथिपुत्रस्तु जगाद सूक्तं
सोमस्य मेत्याग्नेयं यत्परे च ॥ ९५ ॥

वैश्वानरीये समित्समिदाप्रयो
द्वे आग्नेये उत्तरे त्वत्र सूक्ते।

द्यावापृथिव्या उपसो निपाता
आपोऽथ देवाः पितरश्च मित्रः ॥ ९६ ॥

पृथिवी पर शासन करने के पश्चात् तप द्वारा ब्रह्मर्षि पद और १०० पुत्र[1] प्राप्त करके गाथि-पुत्र[2] ने अग्नि को सम्बोधित 'सोमस्य मा' (ऋग्वेद ३. १) सूक्त का, और इसके बाद वैश्वानर को सम्बोधित दो सूक्तों (ऋग्वेद ३. २–३) का उच्चारण किया। 'समित्-समित' (ऋग्वेद ३. ४) एक आप्री सूक्त है। इसके बाद यहाँ अग्नि को सम्बोधित दो सूक्त (ऋग्वेद ३. ५–६) आते हैं : आकाश और पृथिवी, उषस्, जल, देव-गण, पितृ-गण और मित्र नैपातिक देवता हैं।

[1] तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ७. १८, १।
[2] अर्थात् तृतीय मण्डल के ऋषि, विश्वामित्र।

आग्नेयेषु दृश्यन्ते स्तुतास्तु
वैश्वानरो वरुणो जातवेदाः।
स्तूयेतैको यत्र यत्रास्तुतिर्वा
निपात्यर्थाश्चोपमार्थाश्च विद्यात् ॥ ९७ ॥

अग्नि को सम्बोधित (सूक्तों) में वैश्वानर, वरुण और जातवेदस् की भी स्तुति दृष्टिगत होती है। जहाँ (इनमें से) एक की भी स्तुति हो अथवा कोई स्तुति न हो, वहाँ भी यह जानना चाहिये कि इनकी नैपातिक स्तुति अथवा उपमा का तात्पर्य होता है।

राजर्षयो गृत्समदा वसिष्ठा
भरद्वाजाः कुशिका गोतमाश्च।
विश्वेऽश्विनावङ्गिरसोऽत्रयोऽदितिर्
भोजाः कण्वा भृगवो रोदसी दिशः ॥९८॥
सावित्रसौम्याश्विनमारुतेषु
ऐन्द्राग्नेये रौद्रसौर्यापसेषु।
आदावन्ते सूक्तमध्ये स्तुतास्तु
न व्याप्नुन्ति देवताः सूक्तभाजः ॥९९॥

राजर्षिगण, गृत्समद आदि, वसिष्ठगण, भरद्वाजगण, कुशिकगण, और गोतम- विश्वेदेव अश्विन-गण, अङ्गिरस-गण, अत्रिगण, अदिति, भोजगण,

कण्वगण, भृगुगण, दोनों लोक, और दिशाओं की, जब सवितृ, सोम, अश्विनों, अथवा मरुद्गणों, इन्द्र अथवा अग्नि, रुद्र, सूर्य अथवा उषस् को सम्बोधित सूक्त के आरम्भ, अन्त[1] अथवा मध्य में स्तुति हो तो यह सूक्तभाज् देवता के साथ व्याघात उत्पन्न नहीं करते।

[1] तु० की० ऊपर ३ ५२, और ३ २२ तथा, नीचे ५ १७१, भी।

२०–ऋग्वेद ३. ७–२९ के देवता

अग्नेः सप्तदशोऽध्याय ऊर्ध्वं ऊ षु ण ऊतये।
एते काण्वयावृचौ यौप्याव् अञ्जन्ति त्वेति पञ्च च ॥१००॥

सत्रहवाँ अध्याय (ऋग्वेद ३ ७–२९) अग्नि से सम्बद्ध है। 'ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये' (ऋग्वेद १ ३६, १३–१४) से आरम्भ कण्व की दो ऋचायें तथा 'अञ्जन्ति त्वा' (ऋग्वेद ३ ८, १–५) से आरम्भ पाँच ऋचायें यज्ञ-यूप को सम्बोधित हैं

शेषा बहुभ्यो यूपेभ्यो वैश्वदेवी त्वगष्टमी।
अस्यान्त्या व्रश्चनी योक्ता षष्ठमैन्द्राग्नमुच्यते ॥१०१॥

शेष अनेक यूपों को, जब कि आठवीं ऋचा विश्वेदेवों को सम्बोधित है, इस सूक्त की अन्तिम ऋचा को (यूप को) काटने से सम्बद्ध कहा गया है। छठवें[1] (सूक्त) को इन्द्र-अग्नि को सम्बोधित कहा गया है।

[1] अर्थात् इस अध्याय (तु० वा० ऊपर १००वाँ श्लोक) का छठवाँ सूक्त।

अग्निमुपसं वैश्वदेवी दधिक्रामिति चैतया।
आग्नेन्द्री त्वग्न इन्द्रश्चर्क् परो वैश्वानरस्तृचः ॥१०२॥

'अग्निम् उपसम्' (ऋग्वेद ३. २०, १) विश्वेदेवों को सम्बोधित है, 'दधिक्राम्' (ऋग्वेद ३ २०, ५) द्वारा भी इनका ही आवाहन किया गया है। किन्तु 'अग्न इन्द्रश् च' (ऋग्वेद ३ २५, ४) ऋचा अग्नि इन्द्र को सम्बोधित है। बाद की तीन ऋचायें (ऋग्वेद ३ २६, १–३) वैश्वानर को सम्बोधित हैं।

प्र यन्तु मारुतश्चान्त्या शतधारं गुरुस्तवः।
प्र वो वाजा ऋतून्स्तौति ऋत्विज स्तौति मन्थत ॥१०३॥

और 'प्र यन्तु' (ऋग्वेद ३ २६, ४–६) से आरम्भ तीन ऋचायें मरुतों[1] को सम्बोधित हैं। 'शतधारम्' (ऋग्वेद ३ २६, ९) से आरम्भ अन्तिम

उस सूक्त में द्विवचन, बहुवचन[1], और एकवचन में प्रवाद आते हैं: 'अच्छ' (ऋग्वेद ३. ३३, ३) अर्ध-ऋचा में अथवा 'निते' (ऋग्वेद ३. ३३, १०. ११) से आरम्भ तीन क्रमिक पादों में नदियों के सन्दर्भ में एकवचन में; प्रथम दो ऋचाओं (ऋग्वेद ३. ३३, १. २) में तथा एक अर्ध-ऋचा (तीसरी ऋचा की) में श्रुति के अनुसार विश्वामित्र[2] का वचन है। अथवा नदियों ने बहुवचन में ऋषि को इन ऋचाओं, अर्थात् छठवीं, आठवीं, चौथी और दसवीं ऋचाओं द्वारा सम्बोधित किया; शेष (ऋचायें) ऋषि की हैं। जिन दो देवों की सातवीं और छठवीं[3] ऋचाओं में प्रशस्ति है

[1] तु० की० निरुक्त २. २४।
[2] आर्षानुक्रमणी ३ ७ (जिसका सर्वानुक्रमणी ने भी अनुसरण किया है) ४, ६, ८ और १० ऋचाओं को 'नदीवाचः' कहा गया है। शेष नौ ऋचायें 'विश्वामित्र-वचांसि' हैं।
[3] छठवीं ऋचा में इन्द्र और सवितृ का तथा सातवीं में इन्द्र का उल्लेख है। सर्वानुक्रमणी का यह कथन है: 'षष्ठीसप्तम्योस् त्व् इन्द्रस्तु तः'।

२९– ऋग्वेद ३. ३१ : एक पुत्रिका-पुत्री। विश्वामित्र और शक्ति।

निपातिनौ तु तौ ज्ञेयौ ऐन्द्रापार्वत्यृगुत्तमे।
करोति पुत्रिकां नाम यथा दुहितरं तथा ॥११०॥
तस्यां सिञ्चति रेतो वा तच्छासदिति कीर्तितम्।
रिक्थस्य दुहितुर्दानं नेत्यृचि प्रतिषिध्यते ॥१११॥

उन्हें नैपातिक माना गया है। अन्तिम सूक्त में इन्द्र-पर्वत को सम्बोधित एक ऋचा[1] है। पुत्रिका कही जानेवाली को किस प्रकार अपनी पुत्री बनाया जाता है, अथवा उसे इस आशय में गर्भित किया जाता है, इसका 'शासद्' (ऋग्वेद ३. ३१)[2] सूक्त में उल्लेख है। 'न' (ऋग्वेद ३. ३१, २)[3] ऋचा में पुत्री को उत्तराधिकार देने का निषेध है।

[1] अर्थात् ऋग्वेद ३. ५३, १।
[2] ऋग्वेद ३. ३१, १, पर यास्क ने निरुक्त ३ ४ में टिप्पणी की है; तु० की० इस पर सायण भी।
[3] ऋग्वेद ३. ३१, २ पर यास्क ने निरुक्त ३. ६ में टिप्पणी की है।

तस्याश्चाह यवीयांसं भ्रातरं ज्येष्ठवत्सुतम्।
सुदासश्च महायज्ञे शक्तिना गाथिसूनवे ॥११२॥

निगृहीतं बलाच्चेतः सोऽवसीदद्विचेतनः।
तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम् ॥११३॥

सूर्यक्षयादिहाहृत्य ददुस्ते जमदग्नयः।
कुशिकानां ततः सा वाग् अमतिं तामपाहनत् ॥११४॥

और (ऋषि ने) यह कहा है कि उसका पुत्र, जो उससे छोटा है, ज्येष्ठ भ्राता के समान है।[1] सुदास् के एक महायज्ञ में शक्ति ने गाधि पुत्र को बलात् चेतनारहित कर दिया था। वह अचेतनता से दुःखी हुआ किन्तु जमदग्नियों[2] ने उसे सूर्य के आवास से लाकर ब्राह्मी अथवा सूर्य की पुत्री, ससर्परी नामक वाच् प्रदान की। तब उस वाच ने कुशिकों के अमतित्व[4] (अचेतनत्व) को दूर कर दिया।

[1] अर्थात् पुत्रिका पुत्र अपने पितामह की सम्पत्ति को अपनी माता के द्वारा इस प्रकार प्राप्त करता है मानो वह अपनी इस माता का ज्येष्ठ भ्राता हो।
[2] तु० की० ऋग्वेद ३ ५३, १५–१६।
[3] ऋग्वेद ३ ५३, १५ में ससर्परी को 'सूर्यस्य दुहिता' कहा गया है।
[4] ऋग्वेद ३ ५३, १५ में 'ससर्परीर् अमतिं बाधमाना' आया है।

२३–विश्वामित्र और वाच् ससर्परी। वसिष्ठों के विरुद्ध अभिचार।

उपेति चास्यां च कुशिकान् विश्वामित्रोऽनुबोधयत्।
लब्ध्वा वाचं च हृष्टात्मा तानृषीन्प्रत्यपूजयत् ॥
ससर्परीरिति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां वाचं स्तुवन्स्वयम्।
स्थिरावित्यनसोऽङ्गान्यनडुहश्च गृहान्व्रजन् ॥ ११६ ॥

और 'उप' (ऋग्वेद ३ ५३, ११) ऋचा द्वारा विश्वामित्र ने कुशिकों को पुनः चेतना युक्त कर दिया। वाच् के प्राप्त करके प्रसन्न हृदय उन्होंने (विश्वामित्र ने) इन ऋषियों (जमदग्नियों) का पूजन किया और स्वयं 'ससर्परी' (ऋग्वेद ३ ५३, १५) से आरम्भ दो ऋचाओं द्वारा वाच की स्तुति की। 'स्थिरौ' (ऋग्वेद ३ ५३, १७–२०) द्वारा उन्होंने घर जाते समय गाड़ी के अङ्गों और बैलों की स्तुति की।

ततश्च स्वशरीरेण गृहान्गच्छन्परीददे।
पराश्चतस्रो यास्त्वत्र वसिष्ठद्वेषिण्यः स्मृताः ॥११७॥

और तब घर जाकर उन्होंने स्वयं ही इन वस्तुओं[1] को रख दिया।

किन्तु इसके बाद आनेवाली चार ऋचाओं (ऋग्वेद ३. ५३, २१–२४) को वसिष्ठ-द्वेषी माना गया है।

[1] अर्थात् गाड़ी, उसके अङ्ग, और बैल। तु० की० ऋग्वेद ३. ५३, २० : 'अयमस्मान्वनस्पतिर्मा च हा मा च रीरिषत्। स्वस्त्या गृहेभ्य आवसा आ विमोचनात्॥'

विश्वामित्रेण ताः प्रोक्ता अभिशापा इति स्मृताः।
द्विषद्द्वेषास्तु ताः प्रोक्ता विद्याश्चैवाभिचारिकाः ॥११८॥

इनका विश्वामित्र ने उच्चारण किया था और इन्हें अभिशाप माना गया है। इनका शत्रु-द्वेषी[1] के रूप में उच्चारण किया गया है और यह अभिचारिक विद्यायें हैं।

[1] तु० की० ऋग्विधान १. १९, ४; १. २०, १।

२४–ऋग्वेद ३. ५३, २१–२४। ऋग्वेद ३. ५४–६१ के देवता।

वसिष्ठास्ता न शृण्वन्ति तदाचार्यकसंमतम्।
कीर्तनाच्छ्रवणाद्वापि महादोषश्च जायते ॥११९॥
शतधा भिद्यते मूर्धा कीर्तितेन श्रुतेन वा।
तेषां बालाः प्रमीयन्ते तस्मात्तास्तु न कीर्तयेत् ॥१२०॥

वसिष्ठ-गण इनका श्रवण नहीं करते। यह इनके आचार्यों का सर्वसम्मत मत है : श्रवण अथवा कीर्तन से महादोष भी उत्पन्न होता है; श्रवण अथवा कीर्तन से व्यक्ति का सर टूटकर सौ टुकड़ों में विभक्त हो जाता है। उनके बालक भी मर जाते हैं, अतः इनका कीर्तन नहीं करना चाहिये।

विश्वांश्च देवांस्तुष्टाव चतुर्भिरिममित्यृषिः।
अस्तौद्विश्वात्मना सर्वान् मन्यमानः परं पदम् ॥१२१॥
देवानामसुरत्वं तद् एकं महदितीरयन्।
अश्विनौ मित्र ऋभवो धेनुर्मित्र इहेह वः ॥१२२॥

'इमम्' (ऋग्वेद ३. ५४, १) से आरम्भ चार सूक्तों (ऋग्वेद ३. ५४–५७) में ऋषि ने विश्वेदेवों की स्तुति की।

उन्होंने उनके परमपद का विचार करके अपनी सम्पूर्ण आत्मा द्वारा स्तुति करते हुये 'देवानाम् असुरत्वं तद् एकं महत्' का उच्चारण किया।

अश्विन-गण, मित्र, और ऋभु-गण (क्रमशः) 'धेनुः' (ऋग्वेद ३. ५८)' 'मित्रः' (ऋग्वेद ३. ५९) और 'इहेह वः' (ऋग्वेद ३. ६०) के देवता हैं।

वैश्वदेवीति विज्ञेया मैत्री मित्राय पञ्च तु ।
ऐन्द्रार्भवस्तृचस्त्वत्र आर्भवे सूक्त उत्तमः ॥ १२३ ॥

मित्र को सम्बोधित 'मित्राय पञ्च' (ऋग्वेद ३. ५९, ८) ऋचा को विश्वेदेवों के लिये मानना चाहिये ।

किन्तु ऋभु के सूक्त में यहाँ अन्तिम तीन ऋचायें (ऋग्वेद ३ ६०, ५–७) इन्द्र और ऋभुओं को सम्बोधित है ।

२५–ऋग्वेद ३. ६१–६१ के देवता ।

पूर्वे सूक्ते निपातीन्द्र उषो वाजेन पञ्चमात् ।
औपसादुत्तरास्त्वन्त्ये षट् पृथग्देवतास्तृचाः ।
ऐन्द्रावरुणः प्रथमो बार्हस्पत्यस्तथापरः ॥१२४॥

पौष्णसावित्रसौम्याश्च मैत्रावरुण उत्तमः ।
तुष्टाव जमदग्निश्च तेन देवावृतावृधौ ॥१२५॥

इनके पहले की दो ऋचाओं (ऋग्वेद ३. ६०, ३–४) में इन्द्र नेपातिक है । 'उषो वाजेन' (ऋग्वेद ३. ६१) से आरम्भ उषस् को सम्बोधित पाँचवें सूक्त के बाद अन्तिम सूक्त (ऋग्वेद ३. ६२) में पृथक्-पृथक् देवताओं को सम्बोधित ऋचाओं के छः त्रिक आते हैं : प्रथम (ऋग्वेद ३. ६२, १–३) इन्द्र-वरुण को, और उसके बाद का (त्रिकः ऋग्वेद ३. ६२, ४–६) बृहस्पति को सम्बोधित है; इसके बाद क्रमशः पूषन् (ऋग्वेद ३. ६२, ७–९), सवितृ (ऋग्वेद ३. ६२, १०–१२) और सोम (ऋग्वेद ३. ६२, १३–१५) को सम्बोधित हैं, जब कि अन्तिम (ऋग्वेद ३. ६२, १६–१८) मित्र वरुण को सम्बोधित है । और इस अन्तिम से जमदग्नि ने इन दो ऋत-वृध[1] देवताओं की स्तुति की ।

[1] मित्रावरुण के लिये यह उपाधि ऋग्वेद ३ ६२, १८ में 'ऋतावृधा' के रूप में आती है ।

चतुर्थ मण्डल

२६–ऋग्वेद ४. १–१५ के देवता ।

देवर्षिपितृपूजार्थं पापाचान्नाणि यच्छुनः ।
यस्य वै श्येनरूपेण आहरद्वृत्रहा मधु ॥ १२६ ॥

सोऽग्निं तु पञ्चदशभिर् इन्द्रं षोडशभिः परैः ।
ऋषिस्त्वामिति तुष्टाव सूक्तैरेति तु गौतमः ॥ १२७ ॥

जब वामदेव ने देवों, ऋषियों और पितरों की पूजा के लिये कुत्ते की अँतड़ियों को पकाया था तब श्येन के रूप में वृत्रहन् (इन्द्र) उनके लिये मधु लाये थे, और गोतम के वंशज उस ऋषि ने 'त्वाम्' (ऋग्वेद ४. १-१५) से आरम्भ पन्द्रह सूक्तों द्वारा अग्नि की और 'आ' (ऋग्वेद ४. १६-३२) से आरम्भ बाद के सोलह सूक्तों द्वारा इन्द्र की स्तुति की।

स भ्रातरमिति त्वासु तिसृष्वग्निर्निपातभाक् ।
वरुणेनाभिसंस्तौति आहुरन्ये निपातिनम् ॥१२८॥

'स भ्रातरम्' (ऋग्वेद ४. १, २) से आरम्भ तीन ऋचाओं (२-४) में अग्नि निपातभाज् हैं; अन्य लोगों का कथन है कि यहाँ (ऋषि ने) नैपातिक अग्नि की वरुण के साथ स्तुति की है।

लिङ्गोक्तदैवते सूक्ते एके प्रत्यग्निरेव तु ।
ऋषिर्बोधदिति द्वाभ्यां स्तौति सोमकमेव तु ॥१२९॥

कुछ लोगों का कहना है कि 'प्रत्यग्निः' (ऋग्वेद ४. १३) से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद ४. १३-१४) लिङ्गोक्तदैवत' हैं। किन्तु 'बोधद्' (ऋग्वेद ४. १५, ७-८) से आरम्भ दो ऋचाओं द्वारा केवल सोमक की ही स्तुति की है।

' तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'लिङ्गोक्तदैवतं त्व् एके'।

२७-ऋग्वेद ४. १८-३०। इन्द्र का जन्म और वामदेव के साथ युद्ध

तस्यैव त्वायुषोऽर्थाय पराभ्यामश्विनौ स्तुतौ ।
अञ्जसा न जनिष्येऽहं ब्रुवाणं गर्भमेव तु ॥१३०॥

अन्वशाददितिः पुत्रम् इन्द्रमात्महितैषिणी ।
स जातमात्रो युद्धाय ऋषिमेवाजुहाव तु ॥१३१॥

इसके आयुष्य के लिये बाद की दो ऋचाओं (ऋग्वेद ४. १५, ९-१०) में अश्विनों की स्तुति है। अपने गर्भस्थ-पुत्र, इन्द्र, के यह कहने पर कि 'मैं उचित रूप से जन्म नहीं लूँगा', अपने हित के लिये ही अदिति ने उसे शान्त किया, किन्तु जन्म लेते ही उसने (इन्द्र ने) ऋषि को युद्ध के लिये ललकारा

[1] तु० यां० ऋग्वेद ४. १८, २ : 'नाहमतो निरया दुर्गहैतत्'।
[2] तु० की० ऋग्वेद ४. १८, १ : 'मा मातरममुया पत्तवे कः'।

योधयन्वामदेवस्तं कृत्वात्मनि बलं तथा।
दिनानि दश रात्रीश्च विजिग्ये चैनमोजसा ॥१३२॥

जब उसने (इन्द्र ने) उनके (ऋषि के) प्रति बल का प्रयोग किया तब वामदेव ने उससे (इन्द्र से) दस दिन और रात्रियों तक युद्ध करते हुए शक्ति द्वारा उसे पराजित किया।

स तं क इममित्यस्यां विक्रीणन्नृषिसंसदि।
स्वयं तेनाभितुष्टाव नकिरिन्द्रेति गौतमः ॥१३३॥

किमादुतासीति चास्यां मन्युमर्धे पराणुदत्।
अथास्य रूपवीर्याणि धैर्यकार्याणि तान्यृषिः ॥१३४॥

विविधानि च कर्माणि शशंसादितये तथा।
अहमित्यात्मसंस्तावस् तृचे स्तुतिरिवास्य हि ॥१३५॥

'क इमम्' (ऋग्वेद ४. २४, १०) ऋचा में गौतम ने उसका ऋषियों की सभा में विक्रय करते हुये इस उद्देश्य से 'नकिर् इन्द्र' (ऋग्वेद ४. ३०, १) द्वारा स्वयं उसकी स्तुति की; और 'किम् आद् उतासि' (ऋग्वेद ४. ३०, ७) में उन्होंने बीच में ही उसके क्रोध को समाप्त कर दिया। तब ऋषि ने उसके (इन्द्र के) रूप, वीरता तथा धीरतापूर्ण कार्यों और विविध कर्मों को अदिति से बताया। 'अहम्' (ऋग्वेद ४. २६) से प्रारम्भ तीन ऋचाओं में आत्मस्तुति है। क्योंकि इनमें मानों उसकी (इन्द्र की) स्तुति है।[1]

[1] अर्थात् ऋषि ने इस प्रकार अपनी स्तुति की मानों वह स्वयं इन्द्र है, तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'इन्द्रम् इवात्मानम् ऋषिम् तुष्टावेन्द्रो वाऽत्मानम्'।

प्र सु प विभ्यो नवभिर् ऋग्भिः श्येनस्य संस्तवः।
पराभिस्त्वेति पञ्चर्चे सोमेनेन्द्रः स्तुतः सह ॥ १३६ ॥

'प्र सु ष विभ्य.' (ऋग्वेद ४. २६, ४) से आरम्भ बाद की नौ ऋचाओं (ऋग्वेद ४. २६, ४–७; २७, १–५) में श्येन की स्तुति है। 'त्वा' (ऋग्वेद ४.२८) से आरम्भ पाँच ऋचाओं के सूक्त में सोम के साथ इन्द्र की स्तुति है।

सोमप्रधानामेतां तु क्रौष्टुकिर्मन्यते स्तुतिम् ।
दिवश्चिदिति चैतेन तृचेनेन्द्रेण संस्तुताम् ॥१३७॥
उपसं मध्यमां मेने आचार्यः शाकटायनः ।
वाममृचि स्तुताश्चात्र भगः पूषेति चार्यमा ॥१३८॥
करूळतीति पूषोक्तोऽदन्तकः स इति श्रुतेः ।
अस्माकमुत्तमं सूर्यं स्तौतीत्याहाश्वलायनः ॥१३९॥

क्रौष्टुकि इस स्तुति को प्रमुखतः सोम को सम्बोधित मानते हैं; जब कि आचार्य शाकटायन ने 'दिवश् चिद्' (ऋग्वेद ४. ३०, ६) से आरम्भ तीन ऋचाओं द्वारा इन्द्र के साथ मध्यम उषस् की स्तुति माना है। और 'वामम्' (ऋग्वेद ४. ३०, २४) ऋचाओं में यहाँ भग, पूषन्, और अर्यमा की स्तुति है : पूषन् को (यहाँ) 'करूळतिन्'[1] कहा गया है : एक श्रुति[2] के अनुसार यह 'दन्तविहीन' है। आश्वलायन का कथन है कि 'अस्माकम् उत्तमम्' (ऋग्वेद ४. ३१, १५) सूर्य की स्तुति करता है।

[1] यह शब्द ऋग्वेद ४. ३०, २४ में आता है, जिस पर यास्क ने निरुक्त ६. ३०. ३१ में टिप्पणी की है।

[2] अर्थात् यास्क : निरुक्त ६. ३१. में उद्धृत शतपथ ब्राह्मण १. ७, ४, ७।

२९–विभिन्न देवताओं के वाहनाश्व।

इन्द्रस्य हरयो ह्यश्वा अग्नेरश्वास्तु रोहितः ।
सूर्यस्य हरितश्चैव वायोर्नियुत एव च ॥ १४० ॥

इन्द्र के अश्व 'हरि' (भूरे, या बादामी, या पीले) हैं, अग्नि के अश्व 'रोहित' हैं; सूर्य के 'हरित' और वायु के 'नियुत्' (बहुसंख्यक) हैं।[1]

[1] यह तथा बाद के दो श्लोक नैघण्टुक १. १५ का निकट अनुसरण करते हैं।

रासभः सहितोऽश्विभ्याम् अजाः पूष्णश्च वाजिनः ।
पृषत्योऽश्वास्तु मरुतां गावोऽरुण्यस्तथोषसाम् ॥१४१॥

गर्दभ अश्विनों के साथ सम्बद्ध है और पूषन् के वाजिन् बकरे हैं, किन्तु मरुतों के अश्व पृषती अश्वियाँ हैं, जब कि उषस् की अरुण गायें।

सवितुर्वाजिनः श्यावा विश्वरूपा बृहस्पतेः ।
सहैते देवताभिस्तु स्तूयन्तेऽप्यल्पशोऽन्यथा ॥१४२॥

सवितृ के अश्व 'श्याव' (धुँधले) हैं, बृहस्पति का (अश्व) विभिन्न रूपों वाला है। इन सब की अपने देवताओं के साथ स्तुति होती है, अन्यथा अत्यन्त कम।

आयुधं वाहनं चापि स्तुतौ यस्येह दृश्यते।
तमेव तु स्तुतं विद्यात् तस्यात्मा बहुधा हि सः ॥१४३॥

जहाँ जिस (देवता) के आयुध और वाहन की स्तुति दृष्टिगत होती है वहाँ उसकी ही स्तुति माननी चाहिये, क्योंकि वही (देवता) अनेक रूप से उसकी आत्मा होता है।[1]

[1] अर्थात् आयुधों या वाहनों में वही अपने को व्यक्त करता है। तु० की० ऊपर १. ७१. ७४।

कनीनका सूक्तशेषो हर्योः स्तुतिरिहोच्यते।
चात्वार्यतश्च विज्ञेयान्य् अप्रगृह्याणि विद्रधे ॥१४४॥

एक सूक्त[1] के 'कनीनका' (ऋग्वेद ४. ३२, २३) से आरम्भ शेषांश (दो ऋचायें : ऋग्वेद ४. ३२, २३–२४) को यहाँ (इन्द्र के)[2] दो 'हरि' (अश्वों) की स्तुति कहा गया है। और इसके बाद[3] के चार शब्दों, (अर्थात्) 'विद्रधे' आदि को, 'अप्रगृह्य'[4] मानना चाहिये।

[1] अर्थात्, वह सूक्त जिसे पहले ही (ऊपर १२७वाँ श्लोक) एक इन्द्र सूक्त कहा जा चुका है, और जिसकी ही यह दोनों अन्तिम ऋचायें हैं।

[2] तु० की० निरुक्त ४ १५. 'अश्वयो स्तवः', तथा सर्वानुक्रमणी 'अन्त्याभ्याम् इन्द्राश्वौ स्तुतौ'।

[3] अर्थात् 'कनीनका' (ऋग्वेद ४ ३२, २३) के बाद के शब्द।

[4] अर्थात्, 'विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके' शब्दों को द्विवाचक नहीं वरन् एकवचन सप्तमी मानना चाहिये, जैसा कि पदपाठ तथा यास्क (निरुक्त ४ १५) द्वारा उद्धृत शाकपूणि के इस मत से प्रकट होता है. 'कन्ययोर् अधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानीति शाकपूणिः'।

॥ इति बृहद्देवतायां चतुर्थोऽध्यायः ॥

१–ऋग्वेद ४. ३३–५२ के देवता।

प्रेति पञ्चार्भवं त्रीणि दाधिक्राणि पराण्यतः।
ऋग्द्यावापृथिव्यौ स्तौति दाधिक्राणां मुखे तु या ॥१॥

'प्र' (ऋग्वेद ४. ३३, १) से ऋभुओं को सम्बोधित पाँच सूक्तों (ऋग्वेद ४. ३३–३७) का आरम्भ होता है। इसके बाद तीन सूक्त (ऋग्वेद ४. ३८–४०) दधिक्रा को सम्बोधित हैं; किन्तु दधिक्रा को सम्बोधित सूक्तों की मुख-ऋचा (ऋग्वेद ४. ३८, १) में आकाश और पृथिवी की स्तुति है।

परोक्षैरमुतो वाग्भिर् नामभिश्च स्तुतास्त्रयः।
अग्निर्वायुश्च सूर्यश्च हंसः शुचिषदित्यृचि ॥ २ ॥

फिर, परोक्ष वचनों और नामों द्वारा अग्नि, वायु, सूर्य, इन तीनों की 'हंसः शुचिषत्' (ऋग्वेद ४. ४०, ५) ऋचा द्वारा स्तुति की गई है।

नियुक्ता सूर्यदेवत्या हंस इत्यैतरेयके।
द्वे त्वैन्द्रावरुणे सूक्ते ततस्त्रीण्याश्विनानि कः ॥ ३ ॥

ऐतरेय (ब्राह्मण) में 'हंसः' (ऋग्वेद ४. ४०, ५) में सूर्य को देवता नियुक्त किया गया है।[1] इसके बाद इन्द्र-वरुण को सम्बोधित दो सूक्त (ऋग्वेद ४. ४१–४२) आते हैं; इसके बाद 'कः' (ऋग्वेद ४. ४३, १) से आरम्भ तीन (ऋग्वेद ४. ४३-४५) आश्विनों को सम्बोधित हैं।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ४. २०, ५ में इस ऋचा को सूर्य से सम्बद्ध किया गया है।

अग्रं वायो विहीत्येषु वायव्याः सप्त कीर्तिताः।
नव सैवैन्द्रवायव्या इन्द्रस्तिस्रः शतेन षट् ॥ ४ ॥

'अग्रम्' (ऋग्वेद ४. ४६, १), 'वायो' (ऋग्वेद ४. ४७, १), और 'विहि' (ऋग्वेद ४. ४८, १–५), इन सात ऋचाओं को वायु को सम्बोधित कहा गया है; और नौ ऋचायें इन्द्र-वायु को सम्बोधित हैं, जिनमें से 'इन्द्रः' (ऋग्वेद ४. ४७, २–४) से आरम्भ तीन तथा 'शतेन' (ऋग्वेद ४. ४६, २–७) से आरम्भ छः ऋचायें आती हैं।

इदं कथितदेवत्यं यस्तस्तम्भोत्तमो द्वृचः।
स्तुतिरिन्द्राबृहस्पत्योर् अष्टावेता ऋचः स्मृताः ॥५॥

'इदम्' (ऋग्वेद ४ ४९), और 'यस् तस्तम्भ' (ऋग्वेद ४ ५०) की अन्तिम दो ऋचायें, इनमें ही उल्लिखित देवताओं को सम्बोधित हैं[1]—इन आठ[2] ऋचाओं में इन्द्र बृहस्पति की स्तुति मानी गई है।

[1] अर्थात् इन्द्र और बृहस्पति।
[2] अर्थात् ऋग्वेद ४ ४९, १–६ और ५० १०११।

सूक्तं तु तद्बार्हस्पत्यम् इदमित्यौषसे परे।
पुरोधातुः कर्मशंसा स इन्द्राजोच्यते तृचे ॥ ६ ॥

फिर भी, यह[1] सूक्त बृहस्पति को सम्बोधित है, 'इदम्' (ऋग्वेद ४ ५१, १) से आरम्भ दो बाद के सूक्त (ऋग्वेद ४ ५१–५२) उषस् को सम्बोधित हैं। 'स इद् राजा' (ऋग्वेद ४ ५०, ७–९) से आरम्भ तीन ऋचाओं में पुरोधाता के कर्मों की प्रशंसा है।

[1] अर्थात् ऋग्वेद ४ ५०।
[2] तु० का० ऐतरेय ब्राह्मण ८ २४–२६।

२—ऋग्वेद ४. ५३–५८ के देवता

तत्सावित्रे द्वे तु को वैश्वदेवं मही
द्यावापृथिवीयं परं तु यत्।
क्षेत्रस्येति तिस्रस्तु क्षेत्रपत्याः
शुनं वाहाः शुनदेवी त्वृगुत्तरा ॥ ७ ॥

'तत्' (ऋग्वेद ४. ५३, १) से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद ४ ५३–५४) सवितृ को सम्बोधित हैं, 'क' (ऋग्वेद ४ ५५) विश्वेदेवों को सम्बोधित है, जबकि इसके बाद आने वाला 'मही' (ऋग्वेद ४ ५६) आकाश और पृथ्वी को सम्बोधित है। किन्तु 'क्षेत्रस्य' (ऋग्वेद ४ ५७) सूक्त में प्रथम तीन ऋचायें क्षेत्रपति को सम्बोधित हैं, जबकि 'शुन वाहा' (ऋग्वेद ४ ५७, ४) से आरम्भ बाद की ऋचा के देवता शुन हैं।

वायुः शुनः सूर्य एवात्र सीरः
शुनासीरौ वायुसूर्यौ वदन्ति।
शुनासीरं यास्क इन्द्रं तु मेने
सूर्येन्द्रौ तौ मन्यते शाकपूणिः ॥ ८ ॥

शुन यहाँ वायु हैं, सीर सूर्य हैं क्योंकि उनका कहना है कि शुन और सिर, वायु और सूर्य हैं। फिर भी, यास्क ने शुनासीर को इन्द्र माना है[1],

और शाकपूणि का विचार है कि यह दोनों (शुन और सीर) सूर्य और इन्द्र हैं।[2]

[1] यास्क के मत के लिये देखिये निरुक्त ९. ४०।
[2] इस श्लोक को ऋग्वेद ४ ५७ पर षड्गुरुशिष्य ने उद्धृत किया है।

शुनासीरौ पञ्चम्यां तु स्तुतौ तौ
द्वे तु सीतायै षष्ठी सप्तमी च।
शुनं नः फालाः कृषिं स्तौति पादः
शुनं कीनाशाः कृषिजीवान्मनुष्यान् ॥ ९ ॥

अब इन दोनों, शुन और सीर, की पाँचवीं ऋचा (ऋग्वेद ४. ५७, ५) में स्तुति है, जब कि दो, छठवीं और सातवीं, ऋचायें (ऋग्वेद ४. ५७, ६-७) सीता की हैं। 'शुनं नः फालाः' (ऋग्वेद ४. ५७, ८) पाद कृषि की स्तुति करता है; और 'शुनं कीनाशाः' (ऋग्वेद ४. ५७, ८) पाद कृषिजीवी मनुष्यों की।

स्तुतः पादेऽत्र पर्जन्यस्तृतीये
अन्त्यं त्वृषिर्धनकामो जगाद।
कृषिं वा स्तौति सर्वं हि
सूक्तं समुद्रादित्यग्नेर्मध्यमस्य ॥ १० ॥

पर्जन्य की यहाँ तृतीय पाद (ऋग्वेद ४. ५७, ८) में स्तुति है, जब कि ऋषि ने अन्तिम पाद (ऋग्वेद ४. ५७, ८) को धन की कामना से कहा है। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि यह सम्पूर्ण सूक्त कृषि की स्तुति करता है। 'समुद्रात्' (ऋग्वेद ४. ५८) मध्यम अग्नि का है।

आदित्यं वा ब्राह्मणोक्तं प्रदिष्टम्
आग्नेयं वाप्याज्यसूक्तं हि दृष्टम्।
अपां स्तुतिं वा यदि घृतस्तुतिं
गव्यमेके सौर्यमेतद्वदन्ति ॥ ११ ॥

जैसा कि एक ब्राह्मण में उल्लेख है, इसे या तो आदित्य अथवा अग्नि को सम्बोधित कहा गया है; क्योंकि यह एक आज्य-सूक्त प्रतीत होता है[1]; अथवा

कुछ लोग इसे जलों की स्तुति करने वाला, अथवा घृत की स्तुति करने वाला, अथवा गायों, अथवा सूर्य को सम्बोधित कहते हैं।[२]

[१] ऐतरेय ब्राह्मण ५. १६, ६ में ऋग्वेद ४. ५८ को सातवें दिन का आज्य शस्त्र कहा गया है।

[२] तु० की० सर्वानुक्रमणी।

पञ्चम मण्डल

१-ऋग्वेद ५. १-२८ के देवता। त्र्यरुण और वृश जान की कथा

स्वर्भानुहृष्टं सूर्यस्य अपहृत्य तमोऽत्रयः।
सप्तविंशतिभिः सूक्तैर् अबोधीत्यग्निमस्तुवन् ॥१२॥

स्वर्भानु द्वारा अदृष्ट किये गये सूर्य के अन्धकार को दूर करके अत्रियों ने 'अबोधि' (ऋग्वेद ५. १, १) से आरम्भ सत्ताईस सूक्तों (ऋग्वेद ५. १-२८) से अग्नि की स्तुति की।[१]

[१] ऋग्वेद ५. ५ को आप्रीसूक्त होने के कारण छोड़ दिया गया है, अतः सत्ताईस की संख्या के अन्तर्गत अट्ठाईसवाँ सूक्त भी सम्मिलित है।

त्रैवृष्णस्त्रसदस्युश्च अश्वमेध ऋणंचयः।
स्तूयमानाः परीक्ष्याः स्युर् अत्रिष्वेते क्वचित्क्वचित् ॥१३॥

अत्रियों के सूक्तों के विभिन्न स्थलों पर त्रैवृष्ण (त्र्यरुण), त्रसदस्यु, अश्वमेध, ऋणंचय की भी स्तुति देखी जा सकती है।

ऐक्ष्वाकुस्त्र्यरुणो राजा त्रैवृष्णो रथमास्थितः।
संजग्राहाश्वरश्मींश्च वृशो जानः पुरोहितः ॥१४॥

इक्ष्वाकुवंशी, त्रिवृष्ण के पुत्र, राजा त्र्यरुण अपने रथ पर जा रहे थे, और जन के पुत्र वृश नामक उनके पुरोहित ने अश्वों की रश्मियों (वल्गाओं) को अपने हाथ में लिया।

स ब्राह्मणकुमारस्य रथो गच्छञ्छिरोऽछिनत्।
एनस्वीत्यब्रवीच्चैव स राजैनं पुरोहितम् ॥ १५ ॥

चलते समय रथ ने एक ब्राह्मण कुमार के शिर को काट दिया, और तब राजा ने अपने पुरोहित से कहा कि 'तुम हत्यारे हो'।

सोऽथर्वाङ्गिरसान्मन्त्रान् दृष्ट्वा संजीव्य तं शिशुम्।
क्रोधात्संत्यज्य राजानम् अन्यदेशं समाश्रितः ॥१६॥

वह (वृश) राजा को अथर्वन् मन्त्रों का दर्शन कराकर और बालक को पुनरुज्जीवित करके क्रोध में उसका परित्याग करके अन्य देश में चला गया।

हरोऽप्यग्नेर्ननाशास्य तस्यापक्रमणादृषेः।
अग्नौ प्रास्तानि हव्यानि न ह्यपच्यन्त कानिचित् ॥१७॥

ऋषि के चले जाने से उनके (राजा के) अग्नि का ताप नष्ट हो गया, क्योंकि उसमें डाली हुई कोई भी हवि पकती नहीं थी।

४–त्र्यरुण की कथा (क्रमशः)

ततः प्रव्यथितो राजा सोऽभिगम्य प्रसाद्य तम्।
आनीत्वा स वृशं जानं पुनरेव पुरोदधे ॥१८॥

तब अत्यन्त व्यथित होकर राजा वृश जान के पास गये और उन्हें प्रसन्न करके लौटा लाये तथा पुनः अपना पुरोहित बना लिया।

स प्रसन्नो वृशोऽन्वैच्छद् धरमग्नेर्नृपक्षये।
अविन्दत पिशाचीं तां जायां तस्य च भूपतेः ॥१९॥

प्रसन्न होकर वृश ने राजा के घर में अग्नि के ताप को ढूँढा, और राजा की पत्नी को पिशाची के रूप में पाया।

निषण्णः स तया सार्धम् आसन्द्यां कशिपावपि।
तामुपामन्त्रयां चक्रे कमेतं त्वमिति त्वृचा ॥२०॥

उसके साथ विस्तरे से युक्त आसन्दी पर बैठकर उसने (वृश ने) उसे (पिशाची को) 'कम् एतं त्वम्' (ऋग्वेद ५. २, २) मन्त्र द्वारा सम्बोधित किया।

हरः कुमाररूपेण ब्रुवंस्तामभ्यभाषत।
विज्योतिषेति चोक्तायां सहसाग्निरुदज्वलत् ॥ २१ ॥
सहमानः समायान्तं प्रकाशं च प्रकाशयन्।
पिशाचीमदहत्तां स यत्र चोपविवेश सा ॥ २२ ॥

अग्नि के ताप को एक कुमार के रूप में बताते हुये उन्होंने उसे (पिशाची को) सम्बोधित किया। और जब उन्होंने 'वि ज्योतिषा' (ऋग्वेद ५. २, ९) का उच्चारण किया तब पास आते हुये को दूर भगाते हुये और प्रकाश को

प्रकाशित करते हुये अग्नि सहसा प्रगट हुये; और पिशाची को, जहाँ वह बैठी थी वहीं, भस्म कर दिया।

५–अन्य कृतियों में ऋग्वेद ५. २, २. ९ के सन्दर्भ।
ऋग्वेद ५. २९. ४० के देवता।

एष एव परामृष्टो भाल्लविब्राह्मणे द्वृचः।
निदानसंज्ञके ग्रन्थे छन्दोगानामिति श्रुतिः॥ २३॥

इन दो ऋचाओं[1] का भाल्लविनों के ब्राह्मण में उल्लेख है: यह श्रुति-स्थल सामवेदिनों के निदान नामक ग्रन्थ में भी (उद्धृत) है।

[1] अर्थात् ऋग्वेद ५. २, २. ९।

भवेदेव परामर्शः सूक्तस्यास्य व्यपेक्षया।
भवन्ति बाह्या मन्त्रा हि विधिदृष्टेन चोदिताः॥ २४॥

इसका उल्लेख सम्भवतः इस सूक्त के सन्दर्भ में ही हुआ है, क्योंकि एक विधि में बाह्य मंत्रों को संयुक्त होते हुये देखा गया है।

दृश्यन्ते ब्राह्मणे मन्त्रा एकदेशे प्रदर्शिताः।
जामदग्न्यस्तथैवाप्य स्तोकीयाश्चैतरेयके॥ २५॥

ब्राह्मणों के किसी स्थल पर मन्त्र प्रदर्शित दिखाई देते हैं: इसी प्रकार जमदग्नि[1] के आप्री मंत्र तथा स्तोक[2] से सम्बन्धित मंत्र ऐतरेय में आते हैं।

[1] अर्थात् ऋग्वेद १०. ११० को तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ६, ३, १, और वाजसनेयि संहिता २९. २५ में उद्धृत किया गया है।

[2] ऋग्वेद १ ७५ और ३. २१ को तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ ६, ७, १ और ऐतरेय ब्राह्मण २. १२, ३. ६ में उद्धृत किया गया है।

आप्रियः सुसमिद्धाय पञ्चमं सूक्तमत्र तु।
एदमृग्वैश्वदेवी वा अन्त्या चैन्द्राग्न्युपोत्तमे॥ २६॥

'सुसमिद्धाय' (ऋग्वेद ५. ५, १) से आरम्भ पाँचवाँ सूक्त आप्री मंत्रों से बना है। 'एदम्' (ऋग्वेद ५. २६, ९) ऋचा वैकल्पिक रूप से विश्वेदेवों को सम्बोधित है; और अन्तिम से पहले के सूक्त की अन्तिम ऋचा (ऋग्वेद ५. २७, ६) इन्द्र-अग्नि को सम्बोधित है।

ऐन्द्राणि द्वादश त्रीणि उशना त्वत्र संस्तुतः।
उशनेति तु पादेन सं ह यद्वामनेन च॥ २७॥

'त्री' (ऋग्वेद ५. २९, १) से आरम्भ बारह सूक्त (ऋग्वेद ५. २९-४०) इन्द्र को सम्बोधित हैं; किन्तु यहाँ 'उशना' (ऋग्वेद ५. २९, ९) तथा 'सं ह यद् वाम्' (ऋग्वेद ५ ३१, ८) से आरम्भ पादों में उशना की स्तुति है।

६—अत्रि की दानस्तुति।

इन्द्राकुत्सेति चैतस्यां कुत्सेनेन्द्र स्तुतः सह।
यत्त्वा सूर्येति चात्रीणां पञ्चर्ये कर्म कीर्त्यते ॥ २८ ॥

और 'इन्द्राकुत्सा' (ऋग्वेद ५. ३१, ९) ऋचा में इन्द्र की कुत्स के साथ स्तुति है; और 'यत् त्वा सूर्य' (ऋग्वेद ५. ४०, ५) से आरम्भ पाँच ऋचाओं (ऋग्वेद ५. ४०, ५–९) में अत्रियों के कर्मों का कीर्तन है।

अनस्वन्तेति सूक्तेऽस्मिन्न् आग्नेयेऽत्रिर्ऋषिः स्वयम्।
दानतुष्टः शशंसैतान् राजर्षीनिति केचन ॥ २९ ॥

'अनस्वन्ता' (ऋग्वेद ५. २७) से आरम्भ अग्नि को सम्बोधित सूक्त में, दान से तुष्ट होकर स्वयं अत्रि ऋषि ने इन राजर्षियों की प्रशंसा की है ऐसा कुछ लोग कहते हैं।

आशीरध्येषणाद्भ्यो अग्निं प्रति च दृश्यते।
अयुतं च गवां त्रीणि शतान्यथ च विंशतिम् ॥ ३० ॥
सौवर्णं शकटं गोभ्यां त्र्यरुणोऽदात्त्रपोऽत्रये।
अश्वमेधः शतं चोक्ष्णां त्रसदस्युर्धनं बहु ॥ ३१ ॥

यहाँ उनकी प्रार्थना पर उनकी ओर से की गई अग्नि की एक स्तुति भी दिखाई देती है। दस हजार, तीन सौ और बीस गायें, और दो बैलों सहित एक सुवर्ण रथ, राजा त्र्यरुण ने अत्रि को दिया। अश्वमेध ने सौ बैल, और त्रसदस्यु ने प्रचुर धन दिया।

७—ऋणंचय का बभ्रु को दान। ऋग्वेद ५. ४१–५१ के देवता

राज्ञः प्रति च तत्सूक्तं बभाष इति केचन।
आत्मा हि नात्मने दद्याद् अग्रहीन्नृपतेर्ऋषिः ॥ ३२ ॥

अन्य लोगों का कहना है कि उन्होंने (अत्रि ने) यह सूक्त राजाओं को सम्बोधित किया, क्योंकि कोई व्यक्ति स्वयं अपने को कुछ नहीं दे सकता, जब कि ऋषि ने राजा से दान ग्रहण किया।

अत्रेः सुतमृषिं बभ्रुम् आर्त्विज्याय ऋणंचयः ।
सहस्रदक्षिणे सोमे वव्रे तं सोऽप्ययाजयत् ॥ ३३ ॥

ऋणंचय ने अत्रि के पुत्र बभ्रु को अपने उस सोमयज्ञ के ऋत्विज् के रूप में चुना जिसमें एक सहस्र दक्षिणायें प्रदान की गईं। अतः उन्होंने (बभ्रु ने) उनके (ऋणंचय के) लिये यज्ञ किया ।

ददौ च रौशमो राजा सहस्राणि शतानि च ।
तस्मै चत्वारि चत्वारि महावीरं च काञ्चनम् ॥ ३४ ॥

और रुशमों[1] के राजा ने उन्हें चार सहस्र, चार सौ गायें[2] और एक सुवर्ण यज्ञीय पात्र-विशेष[3] दिया ।

[1] तु० की० ऋग्वेद ५. ३०, १४. 'ऋणंचये राजनि रुशमानाम्'
[2] तु० की० ऋग्वेद ५. ३०, १२. 'गवां चत्वारि दधतः सहस्रा ऋणंचयस्य ।'
[3] तु० की० ऋग्वेद ५. ३०, १५ ।

प्रवर्ग्येषु महावीराः सौवर्णास्तस्य चाभवन् ।
प्रतिगृह्य ऋषिर्गच्छन् मध्यमेनाग्निना पथि ॥ ३५ ॥
पृष्ट इन्द्रेण चाचख्यौ भद्रं चतसृभिश्च तत् ।
को नु वां वैश्वदेवानि एकादश पराण्यतः ॥ ३६ ॥

और उन्होंने प्रवर्ग्य के लिये सुवर्ण यज्ञपात्रों को प्राप्त किया। इन्हें प्राप्त करके जाते हुये मार्ग में ऋषि से मध्यम अग्नि तथा इन्द्र ने प्रश्न किया, और उन्होंने इन सबका 'भद्रम्' (ऋग्वेद ५. ३०, १२) से आरम्भ चार ऋचाओं (ऋग्वेद ५. ३०, १२-१५) द्वारा वर्णन किया ।

इसके बाद 'को नु वाम्' (ऋग्वेद ५. ४१, १) से आरम्भ ग्यारह सूक्त (ऋग्वेद ५. ४१-५१) विश्वेदेवों को सम्बोधित हैं ।

८—ऋग्वेद ५. ४१-४३ का विस्तृत वर्णन ।

मारुतानि दश प्रेति इळाभीत्यृचि तु स्तुता ।
उदित्यृचि तृतीयायां सविता शौनकोऽब्रवीत् ॥ ३७ ॥

'प्र' (ऋग्वेद ५. ५२, १) से आरम्भ दस सूक्त (ऋग्वेद ५. ५२-६१) मरुतों को समर्पित हैं। फिर भी, 'अभि' (ऋग्वेद ५. ४१, १९) से आरम्भ ऋचा में इळा की स्तुति है। 'उत्' (ऋग्वेद ५. ४२, ३) में सवितृ की स्तुति है, ऐसा शौनक ने कहा है।

उपेति बार्हस्पत्यस्तु तृचो मारुत्यृगुत्तरा।
तमु ष्टुहीति रौद्री तु प्र सुष्टुतिरिति त्वृचि ॥ ३८ ॥
शौनकादिभिराचार्यैर् देवता बहुधेरिता।
इळस्पतिं शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः ॥ ३९ ॥
यास्कस्तु पूषणं मेने स्तुतमिन्द्रं तु शौनकः।
वैश्वानरं भागुरिस्तु मारुत्येष समाश्विनी ॥ ४० ॥

'उप' (ऋग्वेद ५. ४२, ७) से आरम्भ तीन ऋचायें (ऋग्वेद ५. ४२, ७–९) बृहस्पति को सम्बोधित हैं; बाद की ऋचा (ऋग्वेद ५. ४२, १०) मरुतों को सम्बोधित है; 'तम् उ ष्टुहि' (ऋग्वेद ५. ४२, ११) रुद्र को सम्बोधित है। किन्तु 'प्र सुष्टुतिः' (ऋग्वेद ५. ४२ १४) ऋचा में शौनक तथा अन्य आचार्यों द्वारा देवता को विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया गया है। शाकपूणि ने इळस्पति, गालव ने पर्जन्य-अग्नि, यास्क ने पूषन्, शौनक ने इन्द्र और भागुरि ने वैश्वानर की स्तुति माना है। 'एषः' (ऋग्वेद ५. ४२, १५) मरुतों को सम्बोधित है; 'सम्' (ऋग्वेद ५. ४२, १८) अश्विनों को सम्बोधित है।

वायव्याध्वर्यवः सौमी दशेत्यैन्द्री परा तु या।
अग्निं धर्मं पराञ्जन्ति अश्विनौ स्तौत्यृगच्छ च ॥ ४१ ॥

'अध्वर्युवः' (ऋग्वेद ५. ४३, ३) वायु को सम्बोधित है; 'दश' (ऋग्वेद ५. ४३, ४) सोम को सम्बोधित है, जब कि जो इसके बाद आता है (ऋग्वेद ५. ४३, ५) इन्द्र को सम्बोधित है।

इसके बाद (ऋग्वेद ५. ४३, ६) और 'अञ्जन्ति' (ऋग्वेद ५. ४३, ७) क्रमशः अग्नि और धर्म की स्तुति करते हैं; और 'अच्छ' (ऋग्वेद ५. ४३, ८) ऋचा अश्विनों की स्तुति करती है।

९—ऋग्वेद ५. ४३ (क्रमशः). ४४–४५ के देवता।

प्रेति वायुं पूषणं च अर्धर्चेऽग्निरिहोच्यते।
प्रथमेऽस्य द्वितीये च स्तुता एति दिवौकसः ॥ ४२ ॥

'प्र' (ऋग्वेद ५. ४३, ९) वायु और पूषन् की स्तुति करता है। 'आ' (ऋग्वेद ५. ४३, १०) से आरम्भ अर्द्ध-ऋचा में यहाँ अग्नि की और ऋचा के द्वितीयार्ध में दिवौकसों की स्तुति है।

आ वाचं मध्यमां स्तौति ततोऽन्या तु बृहस्पतिम्।
ज्यायांसमिति चादित्यं प्र वो वायुरिहोच्यते ॥ ४३ ॥

'आ' (ऋग्वेद ५. ४३, ११) मध्यम वाच् की स्तुति करता है और उसके बाद (ऋग्वेद ५. ४३, १२) में बृहस्पति की स्तुति है।

'ज्यायांसम्' (ऋग्वेद ५. ४४, ८) आदित्य की स्तुति करता है। वायु की यहाँ 'प्र व.' (ऋग्वेद ५. ४४, ९) में स्तुति है।

तं प्रत्नथेति सौमी वा वैश्वैन्द्री वा प्रजापतेः।
परोक्षवैश्वदेवं तद् आह कौषीतकिः स्वयम् ॥ ४४ ॥

'तं प्रत्नथा' (ऋग्वेद ५. ४४, १) या तो सोम अथवा देवों की, अथवा इन्द्र को सम्बोधित है, अथवा यह प्रजापति का है। स्वयं कौषीतकि[1] ने इस सूक्त को परोक्ष रूप से विश्वदेवों को सम्बोधित बताया है।

[1] अर्थात् कौषीतकि ब्राह्मण २४.९ 'प्रजापत्यम् अनिरुक्तानि परोक्षं वैश्वदेवान्य् अवधीयन्ते।'

तेषु तृतीयमित्युक्तं देवान्हुव इदं परम्।
देवानां पत्नीरिति तु देवपत्न्यो द्वृचे स्तुताः ॥ ४५ ॥

इनमें इसे तृतीय कहा गया है : इसके बाद 'देवान् हुवे' (ऋग्वेद १०. ६६) से आरम्भ सूक्त आता है।

'देवानां पत्नीः' (ऋग्वेद ५. ४६, ७–८) से आरम्भ दो ऋचाओं में देव-पत्नियों की स्तुति है।

१०–ऋग्वेद ५. ५१–६० के देवता।

अयं चतुर्णामिति चेन्द्रवायू त्रिभि
स्तुतौ वायवा याहि वायुम्।
रथं त्वृचा रोदसी स्तूयतेऽत्र
यस्या स्तुता मरुतो रुद्रपत्न्याः ॥ ४६ ॥

'अयम्' (ऋग्वेद ५. ५१, ४) से आरम्भ चार ऋचाओं (ऋग्वेद ५. ५१, ४–७) में से तीन द्वारा इन्द्र-वायु की स्तुति की गई है, जब कि 'वायव् आ याहि' (ऋग्वेद ५. ५१, ५) केवल वायु की स्तुति करता है। 'रथम्' (ऋग्वेद ५. ५६, ८) ऋचा द्वारा उस रोदसी की स्तुति है जिसके पति मरुतों—यह रुद्र की भी पत्नी है—की इस सम्पूर्ण सूक्त में स्तुति है।

आ रुद्रास इति त्वस्यां रुद्राणां संस्तुतो गणः ।
मरुतां तु गणस्यैतन् नाम रुद्रा इति स्मृताः ॥४७॥

किन्तु 'आ रुद्रासः' (ऋग्वेद ५. ५७, १) ऋचा में रुद्रों के गणों की स्तुति है । मरुतों के गणों का यही नाम है, जिन्हें रुद्र कहा गया है ।

असावग्निरयं चोभाव् अग्नी पार्थिवमध्यमौ ।
अग्ने मरुद्भिरित्यस्यां मरुद्भिः सह संस्तुतौ ॥ ४८ ॥

(अग्ने मरुद्भिः' (ऋग्वेद ५. ६०, ८) ऋचा में उस तथा इस, अर्थात् मध्यम और पार्थिव, दोनों अग्नियों की मरुतों के साथ स्तुति है ।

मध्यमा वाक् स्त्रियः सर्वाः पुमान् सर्वश्च मध्यमः ।
गणाश्च सर्वे मरुतो गुणभेदात्पृथक् पृथक् ॥ ४९ ॥

अपने-अपने पृथक् गुण-भेद के आधार पर, वाक् मध्यम हो सकती है, समस्त स्त्रियाँ मध्यम हो सकती हैं, और समस्त पुरुष मध्यम हो सकते हैं, तथा साथ ही साथ, समस्त गण भी जैसे मरुतादि ।

११-श्यावाश्व की कथा ।

राजर्षिरभवद्दार्भ्यो रथवीतिरिति श्रुतः ।
स यक्ष्यमाणो राजात्रिम् अभिगम्य प्रसाद्य च ॥ ५० ॥

रथवीति दार्भ्य नाम का एक प्रसिद्ध राजर्षि हुआ है, ऐसा सुनते हैं। यज्ञ की इच्छा से वह राजा अत्रि के पास गया और उनको प्रसन्न किया ।

आत्मानं कार्यमर्थं च ख्यापयन्प्राञ्जलि स्थितः ।
अवृणीतर्षिमात्रेयम् आर्त्विज्यायार्चनानसम् ॥ ५१ ॥

अपना तथा अपने कार्य का प्रयोजन बताकर जब वह हाथ जोड़कर खड़ा हुआ तब उसने अपने ऋत्विज् के रूप में अत्रि-पुत्र[1] अर्चनानस् को चुना ।

[1] ऋग्वेद ५. ६१ पर सायण ने इसे 'अत्रि-कुलनन्दन कहा है ।'

स सपुत्रोऽभ्यगच्छत्तं राजानं यज्ञसिद्धये ।
श्यावाश्वश्चात्रिपुत्रस्य पुत्रः खल्वर्चनानसः ॥ ५२ ॥
साङ्गोपाङ्गान्सर्ववेदान् यः पित्राध्यापितो मुदा ।
अर्चनानाः सपुत्रोऽथ गत्वा नृपमयाजयत् ॥ ५३ ॥

अपने पुत्र को साथ लेकर वह यज्ञ की सिद्धि के लिये राजा के पास गये। अत्रि के पुत्र अर्चनानस के पुत्र का नाम श्यावाश्व था, जिसे उसके पिता ने प्रसन्नतापूर्वक अङ्गों और उपाङ्गों सहित वेदों की दीक्षा दी थी। तब अपने पुत्र के साथ जाकर अर्चनानस ने राजा का यज्ञ पूर्ण किया।

यज्ञे च विततेऽपश्यद् राजपुत्रीं यशस्विनीम्।
स्नुषा मे राजपुत्री स्याद् इति तस्य मनोऽभवत् ॥ ५४ ॥

जब यज्ञ चल रहा था तब उसने राजा की यशस्विनी पुत्री को देखा। उसके मन में यह विचार आया कि वह राज पुत्री उसकी पुत्रवधू बन सकती है।

श्यावाश्वस्य च तस्यां वै सक्तमासीत्तदा मनः।
संयुज्यस्व मया राजन् इति याज्यं च सोऽब्रवीत् ॥

तब श्यावाश्व का मन भी उस पर आसक्त हो गया और उसने याजक से कहा 'हे राजन्! तुम मेरे साथ सम्बद्ध हो जाओ।'

१२—श्यावाश्व की कथा (क्रमश)

श्यवाश्वाय सुतां दित्सुर् महिषीं स्वां नृपोऽब्रवीत्।
किं ते मतमहं कन्यां श्यावाश्वाय ददामि हि ॥ ५६ ॥

श्यावाश्व को अपनी पुत्री देने की इच्छा से राजा ने अपनी महारानी से कहा 'तुम्हारा क्या मत है? मैं कन्या को श्यावाश्व को देना चाहता हूँ।

अत्रिपुत्रोऽदुर्बलो हि जामाता त्वावयोरिति।
राजानमब्रवीत्सापि नृपर्षिकुलजा ह्यहम् ॥५७॥
नानृषिर्नो तु जामाता नैष मन्त्रान् हि दृष्टवान्।
ऋषये दीयतां कन्या वेदस्याम्बा भवेत्तथा।
ऋषिर्मन्त्रदृशं वेदपितरं मन्यते यतः ॥५८॥

'क्योंकि अत्रि पुत्र हमलोगों के लिये एक हीन जामाता नहीं होगा।' तब उसने (रानी ने) राजा से अपने लिये कहा कि 'मैं राजर्षियों के कुल में उत्पन्न हुई थी, जो ऋषि नहीं है उसे हमारा जामाता नहीं होना चाहिये, इस युवक ने मन्त्रों का दर्शन नहीं किया है। कन्या किसी ऋषि को ही दी जाय इस प्रकार वह वेद माता होगी, क्योंकि एक ऋषि ने मन्त्र द्रष्टा को वेद का पिता माना है।'

प्रत्याचष्टे स तं राजा सह संमन्त्र्य भार्यया।
अनृषिर्नैव जामाता कश्चिद्भवितुमर्हति ॥५९॥

अपनी पत्नी के साथ परामर्श करने के बाद उसे (यह कहते हुये) अस्वीकृत कर दिया कि 'जो ऋषि नहीं है वह हमारा जामाता होने के योग्य नहीं है।'

प्रत्याख्यात ऋषिस्तेन वृत्ते यज्ञे न्यवर्तत।
श्यावाश्वस्य तु कन्याया मनो नैव न्यवर्तत ॥६०॥

उसके (राजा के) द्वारा अस्वीकृत ऋषि यज्ञ समाप्त होने पर लौट आये; किन्तु श्यावाश्व का हृदय कन्या के पास से नहीं लौटा।

ततस्तौ तु निवर्तेताम् उभावेवाभिजग्मतुः।
शशीयसीं तरन्तं च पुरुमीळ्हं च पार्थिवम् ॥६१॥

इस प्रकार दोनों लौटे; यह दोनों शशीयसी और तरन्त, और राजा पुरुमीळ्ह से मिले।

तरन्तपुरुमीळ्हौ तु राजानौ वैददश्व्यृषी।
ताभ्यां तौ चक्रतुः पूजाम् ऋषिभ्यां नृपती स्वयम् ॥

यह दोनों राजा, तरन्त तथा पुरुमीळ्ह, ऋषि तथा विददश्व के पुत्र थे। इन दोनों राजाओं ने स्वयं भी उन दोनों ऋषियों का पूजन किया।

ऋषिपुत्रं महिष्याश्च दर्शयामास तं नृपः।
तरन्तानुमता चैव प्रादाद्बहुविधं वसु ॥६३॥
अजाविकं गवाश्वं च श्यावाश्वाय शशीयसी।
अत्रिं याज्यार्चितौ गत्वा पितापुत्रौ स्वमाश्रमम् ॥६४॥

और राजा (तरन्त) ने ऋषि-पुत्र का अपनी महारानी को दर्शन कराया; और तरन्त की अनुमति से उस (महारानी) शशीयसी ने प्रचुर धन, भेड़-बकरियाँ, गायें और अश्व श्यावाश्व को प्रदान किया। इस प्रकार याजकों द्वारा सम्मानित होकर पिता और पुत्र अपने अत्रि-आश्रम चले गये।

१३—श्यावाश्व की कथा (क्रमशः)

अभ्यवादयतामत्रिं महर्षिं दीप्ततेजसम्।
श्यावाश्वस्य मनस्यासीन् मन्त्रस्यादर्शनादहम् ॥६५॥

न लब्धवानहं कन्यां हन्त सर्वाङ्गशोभनाम् ।
अप्यहं मन्त्रदर्शी स्यां भवेद्धर्षो महान्मम ॥६६॥

और उन्होंने प्रदीप्त तेजवाले महर्षि अत्रि का अभिवादन किया। किन्तु श्यावाश्व ने विचार किया कि 'यतः हमने किसी मन्त्र का दर्शन नहीं किया ., अतः मैं सर्वाङ्ग सुन्दरी कन्या को न प्राप्त कर सका। यदि मैं मन्त्र द्रष्टा हो सकूँ तो मुझे महान् हर्ष होगा।'

इत्यरण्ये चिन्तयतः प्रादुरासीन्मरुद्गणः ।
ददर्श संस्थितान्पार्श्वे तुल्यरूपानिवात्मनः ॥६७॥
समानवयसश्चैव मरुतो रुक्मवक्षसः ।
तांस्तुल्यवयसो दृष्ट्वा देवान्पुरुषविग्रहान् ॥६८॥
श्यावाश्वो विस्मितोऽपृच्छत के ष्ठेति मरुतस्तदा ।
ततस्तु मरुतो देवान् रुद्रसूनूनबुध्यत ॥६९॥

जब उसने वन में इस प्रकार चिन्तन किया तब उसके सम्मुख मरुद्गण प्रकट हुये।

उसने अपने पार्श्व में अपने ही समान रूपवाले रुक्म वक्ष मरुतों को देखा। पुरुषरूपी तथा वय में समान देवों को देख कर विस्मित श्यावाश्व ने मरुतों से पूछा 'के ष्ठ' (ऋग्वेद ५. ६१, १)। फिर भी, तब तक वह यह जान गया कि यह रुद्र के पुत्र दिव्य मरुद्गण हैं।

१४–श्यावाश्व की कथा (क्रमशः)

य ईं वहन्त इत्याभिर् बुद्ध्वा तुष्टाव तांस्तथा ।
अतिक्रमं हि तं मेने ऋषिर्विपुलमात्मनः ॥ ७० ॥
यन्न दृष्ट्वैव तुष्टाव यच्च के ष्ठेति पृष्टवान् ।
स्तुता स्तुत्या तया प्रीता गच्छन्तः पृश्निमातरः ॥७१॥
अवमुच्य स्ववक्षोभ्यो रुक्मं तस्मै तदा ददुः ।
मरुत्सु तु प्रयातेषु श्यावाश्वः सुमहायशाः ॥ ७२ ॥

इसे देख कर उसने 'य ईं वहन्ते' (ऋग्वेद ५. ६१, ११) ऋचा द्वारा उनकी स्तुति की। ऋषि ने यह विचार किया कि मरुतों को देखते ही उनकी स्तुति न करके यह पूछने से कि 'आप लोग कौन हैं', उसने मर्यादा का उल्लंघन किया

है। स्तुति की जाने पर और उन स्तुतियों से प्रसन्न हो कर पृश्नि के पुत्र (मरुद्गण) जब चलने लगे तब उन्होंने अपने वक्ष से स्वर्ण उतार कर उसे (ऋषिको) दे दिया। जब मरुद्गण वहाँ से चले गये तब महायशस्वी श्यावाश्व,

रथवीतेर्दुहितरम् अगच्छन्मनसा तदा।
स सद्य ऋषिरात्मानं प्रवक्ष्यन् रथवीतये ॥ ७३ ॥

एतं मे स्तोममित्याभ्यां दौत्ये रात्रीं न्ययोजयत्।
रथवीतिमपश्यन्तीं संप्रेक्ष्यार्षेण चक्षुषा ॥ ७४ ॥

रम्यं हिमवतः पृष्ठे एष क्षेतीति चाब्रवीत्।
ऋषेर्नियोगमाज्ञाय देव्या राज्या प्रचोदितः ॥ ७५ ॥

आदाय कन्यां तां दार्भ्य उपेयायार्चनानसम्।
पादौ तस्योपसंगृह्य स्थित्वा प्रह्वः कृताञ्जलिः ॥ ७६ ॥

रथवीतिरहं दार्भ्य इति नाम शशंस च।
मया संगतिमिच्छन्तं त्वां प्रत्याचक्षि यत्पुरा ॥ ७७ ॥

तत्क्षमस्व नमस्तेऽस्तु मा च मे भगवन्क्रुधः।
ऋषेः पुत्रः स्वयमृषिः पितासि भगवन्नृषेः ॥ ७८ ॥

विचारों में रथवीति की पुत्री के पास पहुँच गये। तत्काल ही ऋषि हुये उन्होंने रथवीति को अपने सम्बन्ध में बताने की इच्छा से 'एतं मे स्तोमम्' (ऋग्वेद ५. ६१, १७) से आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद ५. ६१, १७-१८) द्वारा रात्रि को दूत-कार्य के लिये नियुक्त किया; और रथवीति को न देखने वाली उसे (रात्रि को) आर्ष नेत्रों से देखकर उन्होंने 'एष क्षेति' (ऋग्वेद ५. ६१, १९) द्वारा कहा कि वह हिमवत के रम्य पृष्ठ पर रहते है। ऋषि की आज्ञा को मानकर रात्रि द्वारा प्रेरित दर्भ के पुत्र कन्या को साथ लेकर अर्चनानस् के पास गये और उनका चरण पकड़ने के बाद करबद्ध झुककर यह कहते हुये उन्होंने अपना नाम बताया, "मैं दर्भ का पुत्र रथवीति हूँ: मेरे साथ सम्बन्ध करने की आपकी इच्छा को जो मैंने अस्वीकृत किया था उसके लिये मुझे क्षमा करें। हे भगवान्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आप मुझसे क्रुद्ध न हों। आप ऋषि के पुत्र हैं, स्वयं भी ऋषि हैं; और हे भगवन्! आप ऋषि के पिता हैं।

१५—श्यावाश्व की कथा (समास)

हन्त प्रतिगृहाणेमां स्नुषामित्येवमब्रवीत् ।
पाद्यार्घ्यमधुपर्कैश्च पूजयित्वा स्वयं नृपः ॥ ७९ ॥
शुक्लमश्वशतं दत्त्वा अनुजज्ञे गृहान्प्रति ।
शशीयसीं तरन्तं च पुरुमीळ्हं च पार्थिवम् ॥ ८० ॥
षड्भिः सनदिति स्तुत्वा जगामर्षिरपि क्षयम् ।
ऋतेन मैत्रावरुणान्य् एकादश पराणि तु ॥ ८१ ॥

आइये इसे (कन्या को) पुत्र-वधू के रूप में स्वीकार कीजिये ।" राजा ने ऐसा कहा और स्वयं ही पाद्य, अर्घ्य, और मधुपर्क द्वारा उनका पूजन किया, साथ ही उन्हें एक सौ शुक्ल अश्व प्रदान करके घर जाने की आज्ञा दी । और ऋषि ने भी 'सनत्' (ऋग्वेद ५. ६१, ५) से आरम्भ छ ऋचाओं (ऋग्वेद ५ ६१, ५–१०) द्वारा शशीयसी, और तरन्त, और राजा पुरमीळ्ह की स्तुति की और अपने घर गये ।

अब 'ऋतेन' (ऋग्वेद ५. ६२) से आरम्भ ग्यारह सूक्त (ऋग्वेद ५ ६२–७२) मित्र वरुण को सम्बोधित हैं ।

१६—ऋग्वेद ५. ७३–७८ । सप्तवध्रि की कथा ।

षळाश्विनानि गर्भार्थं पञ्चर्चोपनिषत्स्तुतिः ।
सप्त कृत्वापराधान्वै विफले दारसंग्रहे ॥ ८२ ॥
ऋषिः कृतोऽश्वमेधेन भारतेनेति वै श्रुतिः ।
तमष्टमेऽपराधे तु वृक्षद्रोण्यां स पार्थिवः ॥ ८३ ॥
ऋबीसे ह विनिक्षिप्य स्कन्नं रात्रौ न्यधारयत् ।
सोऽश्विनावित्ति सूक्तेन तुष्टावर्षिः शुभस्पती ॥ ८४ ॥

छ सूक्त (ऋग्वेद ५ ७३–७८) अश्विनों को सम्बोधित हैं । यहाँ पाँच गर्भार्थक ऋचाओं की एक उपनिषद स्तुति है (ऋग्वेद ५ ७८, ५–९) ।

एक ऐसी श्रुति है कि सात बार विफल हो जाने के बाद भी भारतवंशी राजा अश्वमेध ने ऋषि को पुन नियुक्त किया, क्योंकि उनका वैवाहिक जीवन श्र विहीन था । फिर भी, आठवीं बार विफल हो जाने पर राजा ने उसे वृक्षद्रोणी में रख एक गर्त में फेंक कर वहाँ पड़ा रहने दिया जहाँ वह रात्रि

के समय पड़ा रहा। तब उस ऋषि ने 'अश्विनौ' (ऋग्वेद ५. ७८) सूक्त द्वारा शुभस्पती (प्रकाश के अधिपति) की स्तुति की।

तौ तं तस्मात्समुद्धृत्य चक्रतुः सफलं पुनः।
तृचः स्वस्यैव गर्भार्थं स्वपतस्तस्य गर्भवत् ॥८५॥
यथा वात इति ज्ञेये त्वश्विभ्यामितरे ऋचौ।
स्रवतामपि गर्भाणां दृष्टं तदनुमन्त्रणम् ॥८६॥

उसे गर्त से ऊपर उठाते हुये उन्होंने (मरुतों ने) पुनः सफल कर दिया। 'यथा वातः' (ऋग्वेद ५. ७८, ७) से आरम्भ तीन ऋचाओं (७-९) से उसके लिये गर्भ का प्रयोजन है जो गर्भवत सो गया। किन्तु अन्य दो ऋचाओं (ऋग्वेद ५. ७८, ५-६) को अश्विनों के लिये जानना चाहिये। इसे, बाहर निकलते हुये गर्भों के लिये आमन्त्रण-स्तुति भी कहा गया है।

१७-ऋग्वेद ५. ७९-८७ के देवता। खिल

भावबृत्तं तु तद्धृस्थात् तथारूपं हि दृश्यते।
जरायुगर्भशब्दाभ्याम् एतद्रूपं हि दृश्यते ॥८७॥

किन्तु इसे, इसी प्रकार, भावबृत्त से सम्बद्ध कहा जा सकता है, क्योंकि इसका ऐसा रूप भी दृष्टिगत होता है : 'जरायु'[1] और 'गर्भ'[2] शब्दों से इसका ऐसा ही रूप स्पष्ट होता है।

[1] यह ऋग्वेद ५. ७८, ८ में आता है।
[2] यह ऋग्वेद ५. ७८, ७ में आता है।

महे उपस्ये सावित्रे युञ्जतेऽछेति वै स्तुतः।
पर्जन्यो बळित्थिति त्वस्मिन् पृथिवी मध्यमा स्तुता ॥८८॥

'महे' (ऋग्वेद ५. ७९, १) से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद ५. ७९-८०) उषस् को सम्बोधित हैं; और 'युञ्जते' (ऋग्वेद ५. ८१, १) से आरम्भ दो (ऋग्वेद ५. ८१-८२) सवितृ को सम्बोधित हैं। 'अछ' (ऋग्वेद ५. ८३) में पर्जन्य की स्तुति है; किन्तु 'बट्' (ऋग्वेद ५. ८४) में मध्यम पृथ्वी[1] की स्तुति है।

[1] निरुक्त ११. ३७ (ऋग्वेद ५. ८४, १ पर) पृथिवी को एक मध्यम स्थानीय देवी बताता है। देखिये नैघण्टुक ५. ५ भी।

अद्या नो देव सवितर् इयं दुःस्वप्ननाशनी।
वारुणं तु प्र सम्राजे इन्द्राग्न्यैन्द्राग्न्यमुत्तरम् ॥ ८९ ॥

'अद्या नो देव सवित' (ऋग्वेद ५ ८२, ४) ऋचा दुःस्वप्न विनाशिनी है।
'प्र सम्राजे' (ऋग्वेद ५ ८५) वरुण को सम्बोधित है। इसके बाद का 'इन्द्राग्नी' (ऋग्वेद ५ ८६) सूक्त इन्द्र-अग्नि को सम्बोधित है।

विष्णुन्यङ्गं परं प्रेति मारुतं सूक्तमुत्तमम्।
एवयामरुदाख्यातं द्यौर्नेन्द्रे प्रतिपूर्वकम् ॥९०॥

इसके बाद, इस मण्डल का अन्तिम 'प्र' (ऋग्वेद ५ ८७) सूक्त मरुतों को सम्बोधित है, जब कि इसमें विष्णु का भी नैपातिक उल्लेख है। इसे 'द्यौर् न' (ऋग्वेद ६ २०) से आरम्भ इन्द्र सूक्त का प्रतिपूरक होने के कारण 'एवयामरुत्' कहा गया है।

श्रीसूक्तमाशीर्वादस्तु श्रीपुत्राणां पराणि षट्।
तस्याद्यालक्ष्म्यपनुदम् अग्निस्तत्र निपातभाक् ॥९१॥

किन्तु श्रीसूक्त एक आशीर्वाद है इसके बाद के छः, श्री और पुत्रों के साथ सम्बद्ध हैं।[1] अथवा इस सूक्त का प्रयोजन दुर्भाग्य को दूर भगाना है। इसमें अग्नि निपातभाज् हैं।

१८-प्रजावत् और जीवपुत्र के खिल। मन्त्रों का व्यवहार

प्रजावज्जीवपुत्रौ वा गर्भकर्मणि संस्तुतौ।
नानारूपा पयस्विन्यः संस्रवन्तीति संस्तुताः ॥९२॥

अथवा प्रजावत् और जीवपुत्र के दो सूक्तों का गर्भ कर्म में सम्मिलित स्तुति के रूप में व्यवहार किया जा सकता है। 'स स्रवन्ति'[1] सूक्त में विभिन्न प्रकार की पयस्विनियों की स्तुति की गई है।

[1] इस खिल की पाँच ऋचायें अथर्ववेद २ २६, १-५ में आती हैं।

आशीर्वादेषु संज्ञासु कर्मसंस्थासु देवता।
निपातभाग् लिङ्गवाक्यात् परीक्षेतेह मन्त्रवित् ॥९३॥

आशीर्वादों में, संज्ञाओं में, कर्मकाण्डों में, किसी देवता का नैपातिक उल्लेख होता है। मन्त्रवेत्ता को यहाँ लिङ्ग-वाक्य की परीक्षा कर लेनी चाहिये।

मन्त्रप्रयोगमन्त्रयोः प्रयोगो बलवत्तरः।
विधेस्तयोः परीक्षा स्यात् मन्त्राः स्युरभिधायकाः॥

मन्त्रों और मन्त्रों के प्रयोग में प्रयोग अधिक बलवान होता है। इन दोनों की विधि की परीक्षा कर लेनी चाहिये। मन्त्रों को केवल अभिधायक[1] ही मानना चाहिये।

[1] अर्थात् इनमें केवल देवताओं के सम्बन्ध में उक्तियाँ मात्र होती हैं। ब्राह्मणों तथा सूक्तों की भाँति यह अपने विनियोग के सम्बन्ध में किसी विधि का उल्लेख नहीं करते।

तस्मात्तेन विसंवादो मन्त्राणां तद्गतानि तु।
गुणाभिधायकानि स्युः संविज्ञानपदानि तु॥ ९५॥

अतः मन्त्र और उसके प्रयोग में असहमति हो सकती है। किन्तु उनमें आनेवाले सामान्य रूप से अर्थ-विशेष के बोधक पद किसी गुण[1] के परिचायक हो सकते हैं।

[1] उदाहरण के लिए किसी मन्त्र में जातवेदस् को अग्नि के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है, जब कि किसी संस्कार में इसका विशिष्ट आशय ही प्रमुख हो सकता है। तु० की० निरुक्त ७. १३ : 'यत् तु संविज्ञान-भूतं स्यात् प्राधान्य स्तुति।'

मन्त्रेषु गुणभूतेषु प्रधानेषु च कर्मसु।
प्रधानगुणभूताः स्युर् देवता इति गम्यते॥ ९६॥

मंत्र के गौण और कर्म के प्रधान होने पर देवता भी गौण अथवा प्रधान हो सकते हैं, ऐसा जानना चाहिये।

१९—भृगु, अङ्गिरस्, और अत्रि के जन्म की कथा

त्रिसांवत्सरिकं सत्त्रं प्रजाकामः प्रजापतिः।
आहरत्सहितः साध्यैर् विश्वैर्देवैः सहेति च॥ ९७॥

ऐसा कहा गया है कि प्रजाकाम की इच्छा से प्रजापति ने साध्यों और विश्वदेवों के साथ तीन वर्ष का यज्ञ-सत्र किया है।

तत्र वाग्दीक्षणीयायाम् आजगाम शरीरिणी।
तां दृष्ट्वा युगपत्तत्र कस्याथ वरुणस्य च॥ ९८॥
शुक्रं चस्कन्द तद्वायुर् अग्नौ प्रास्यद्यदृच्छया।
ततोऽर्चिभ्यो भृगुर्जज्ञे अङ्गारेष्वङ्गिरा ऋषिः॥ ९९॥

उस समय दीक्षा के अवसर पर वाच् सशरीर वहाँ आई। उसे वहाँ देखकर एक साथ ही 'क' (प्रजापति) और वरुण का शुक्र स्खलित हो गया। उनकी

इच्छा से वायु ने उसे (शुक्र को) अग्नि में छोड़ दिया। तब ज्वालाओं से भृगु उत्पन्न हुये और अङ्गारों[1] से ऋषि अङ्गिरस्।

[1] तु० को० निरुक्त ३. १७ और ऐतरेय ब्राह्मण ३ ३४, १।

प्रजापतिं सुतौ दृष्ट्वा हृष्टा वागभ्यभाषत।
आभ्यामृषिस्तृतीयोऽपि भवेदत्रैव मे सुतः॥ १००॥

दो पुत्रों को देखकर और स्वयं भी हृष्ट होकर वाक् ने प्रजापति से कहा 'इन दो के अतिरिक्त मुझे ऋषि के रूप में यहीं एक तृतीय पुत्र भी उत्पन्न हो।'

प्रजापतिस्तथेत्युक्तः प्रत्यभाषत भारतीम्।
ऋषिरत्रिस्ततो जज्ञे सूर्यानलसमद्युतिः॥ १०१॥

इस प्रकार सम्बोधित होने पर प्रजापति ने भारती से कहा 'ऐसा ही होगा'। तब सूर्य और अग्नि के समान द्युतिवाले अत्रि ऋषि उत्पन्न हुये।

षष्ठ मण्डल

२०-भरद्वाज की उत्पत्ति। ऋग्वेद ६. १-४६ के देवता

योऽङ्गारेभ्य ऋषिर्जज्ञे तस्य पुत्रो बृहस्पतिः।
बृहस्पतेर्भरद्वाजो विदथीति य उच्यते॥ १०२॥
मरुत्स्वासीद्गुरुर्यश्च स एवाङ्गिरसो नपात्।
सपुत्रस्य तु तस्यैतन् मण्डलं षष्ठमुच्यते॥ १०३॥

बृहस्पति उस ऋषि के पुत्र थे जो अङ्गारों से उत्पन्न हुये थे। बृहस्पति-पुत्र भरद्वाज, जिन्हें विदथिन् भी कहते हैं और जो मरुतों में गुरु थे, अङ्गिरस् के पौत्र हुये। अब षष्ठ मण्डल को इनका तथा इनके पुत्रों का बताया गया है।

त्वं ह्यग्न इति तत्रादाव् आग्नेयानि त्रयोदश।
सूक्तानि त्रीणि मूर्धानम् अग्नेर्वैश्वानरस्य तु॥ १०४॥

इसमें 'त्वं ह्य् अग्ने' (ऋग्वेद ६. १, १) से आरम्भ तेरह सूक्त (ऋग्वेद ६. १-६ और १०-१६) अग्नि को सम्बोधित हैं, जब कि 'मूर्धानम्' (ऋग्वेद ६. ७, १) से आरम्भ तीन सूक्त (ऋग्वेद ६. ७-९) अग्नि वैश्वानर को।

एकान्नत्रिंशदेवात्र पिबेत्यैन्द्राण्यतः परम्।
अग्ने स क्षेपदित्यस्यां देवौ यौ तु निपातितौ॥ १०५॥

इसके बाद (अर्थात् ऋग्वेद ६. १६ के बाद) यहाँ 'पिब' (ऋग्वेद ६. १७, १) में आरम्भ पूरे उनतीस सूक्त इन्द्र को सम्बोधित हैं। 'अग्ने स क्षेषत्' (ऋग्वेद ६. ३, १) में आनेवाले दो देवताओं का नैपातिक उल्लेख है।

प्रोतये नू म इत्येते वैश्वदेव्यावृचौ स्मृते।
ऋग्द्वितीया पदं चान्त्यम् ऐन्द्रमेति गवां स्तुतिः ॥१०६॥

किन्तु 'प्रोतये' (ऋग्वेद ६. २१, ९), और 'नू मे' (ऋग्वेद ६.२१, ११), इन दो ऋचाओं को विश्वेदेवों को सम्बोधित माना गया है। 'आ' (ऋग्वेद ६.२८) सूक्त में गायों की स्तुति है: इसकी द्वितीय ऋचा और अन्तिम पाद इन्द्र को सम्बोधित हैं।[1]

[1] तु० कौ० सर्वानुक्रमणी: 'द्वितीयैन्द्री चान्त्यश्च पादः।'

२१—ऋग्वेद ६.३७.४४.४५.४७ के देवता।

आसस्राणास इत्यस्यां वायुरिन्द्रश्च संस्तुतौ।
इन्द्रः प्राधान्यतो वात्र स्तुतो वायुर्निपातभाक् ॥ १०७ ॥

'आसस्राणासः' (ऋग्वेद ६. ३७, २) में वायु और इन्द्र की साथ-साथ स्तुति है।

अथवा यहाँ इन्द्र की प्रधान स्तुति है और वायु निपातभाज् है।

अयं देवस्तृचं सौम्यम् ऐन्द्रमेके प्रचक्षते।
य आनयदिति त्वस्य तृचोऽधीति बृबुस्तुतिः ॥ १०८ ॥

'अयं देव' (ऋग्वेद ६. ४४, २२) से आरम्भ जो तीन ऋचायें सोम को सम्बोधित हैं उन्हें कोई इन्द्र को सम्बोधित कहते हैं।

किन्तु 'य आनयत्' (ऋग्वेद ६. ४५) सूक्त की 'अधि' (ऋग्वेद ६.४५, ३१) से आरम्भ तीन ऋचाओं में बृबु[1] की स्तुति है।

[1] तु० कौ० सर्वानुक्रमणी: 'तृचेऽन्त्ये बृबुस् तक्षा दैवतम्।'

पितरं स्तौति शंयुश्च तृचस्यान्त्ये पदे स्वकम्।
स्वादुष्किलायमिति तु सौम्यः पञ्चर्च उत्तरः ॥ १०९ ॥

और शंयु[1] ने इन तीन ऋचाओं के अन्तिम पाद में अपने पिता की स्तुति की है। 'स्वादुष्किलायम्' (ऋग्वेद ६. ४७, १) से आरम्भ पाँच बाद की ऋचायें (ऋग्वेद ६. ४७, १–५) सोम को सम्बोधित हैं।

[1] ऋग्वेद ६.४४–४६ और ४७ के ऋषि।

इन्द्रः प्रधानतो वात्र स्तुतः सोमो निपातभाक् ।
इन्द्रस्यैन्द्र्योऽनुपानीयाः श्रूयन्ते ह्यैतरेयके ॥११०॥

अथवा यहाँ इन्द्र की प्रधान स्तुति है जबकि सोम निपातभाक् है क्योंकि ऐतरेय (ब्राह्मण)[1] में इन्हें इन्द्र को सम्बोधित अनुपानीया ऋचायें कहा गया है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ३ २८, २ में यह कथन है कि ऋग्वेद ६ ४७ की प्रथम चार ऋचाओं को इन्द्र का अनुपानीया ऋचाओं के रूप में दुहराना चाहिये

अगव्यूति स्तौति देवान् पादो भूमिमथोत्तरः ।
बृहस्पतिं तृतीयस्तु इन्द्रमेवोत्तमं पदम् ॥१११॥

'अगव्यूति' (ऋग्वेद ६ ४७, २०) में एक पाद देवों की, दूसरा पृथिवी की, तीसरा बृहस्पति की, और अन्तिम इन्द्र की स्तुति करता है।

२२–ऋग्वेद ६ ४७ (क्रमश), और ६ ४८ के देवता।

वनस्पते वीड्वङ्गः परं यत्
तदाचार्या भाववृत्तं वदन्ति ।
ऋचस्तु तिस्रस्तु रथाभिमर्शना
उपेति तिस्रो दुन्दुभेः संस्तवोऽत्र ॥११२॥

'वनस्पते वीड्वङ्ग' (ऋग्वेद ६ ४७ २६) से आरम्भ बाद में आने वाले पाद को आचार्यों ने भाववृत्त कहा है। किन्तु तीन सम्पूर्ण ऋचायें (ऋग्वेद ६, ४७, २६–२८) रथाभिमर्शन से सम्बद्ध हैं, जब कि 'उप' (ऋग्वेद ६ ४७, २९) से आरम्भ यहाँ तीन ऋचायें दुन्दुभि की स्तुति करती हैं।

[1] देखिये ऐतरेय ब्राह्मण ७ ९, २ आश्वलायन गृह्यसूत्र २ ६ ५ ऋग्वेद ६ ४७ पर षड्गुरुशिष्य।

समश्वपर्णा इति चार्धमैन्द्रं दशादितोऽग्नेस्तृणपाणिकस्य ।
तृचः परो मारुतः पृश्निसूक्ते द्व्यृचः परो वैश्वदेवः पुनश्च ॥

और 'सम् अश्वपर्णा' (ऋग्वेद ६ ४७, ३१) से आरम्भ अर्धऋचा इन्द्र को सम्बोधित है। तृणपाणि सूक्त[1] (ऋग्वेद ६ ४८) के आरम्भ की दस ऋचायें (ऋग्वेद ६ ४८, १–१०) अग्नि को सम्बोधित हैं, इसी पृश्नि के सूक्त की तीन बाद की ऋचायें (६ ४८, ११–१३) मरुतों को सम्बोधित

हैं, और पुनः, बाद की दो ऋचायें (ऋग्वेद ६. ४८, १४–१५), विश्वेदेवों को सम्बोधित हैं।

[1] तु०, को० सर्वानुक्रमणी : 'एकपाणिकं पृश्निसूक्तम्'। देखिये ऋग्वेद ५. ४९ और ६. ४८ पर षड्गुरुशिष्य।

आदित्यो वा मारुत एव वा स्याद्
आ मा पूषन्निति पौष्णोऽथवातः।
द्वृचं परं मारुतं तत्र विद्याद्
अन्त्या द्युभ्वोः कीर्तना पृश्नये वा ॥ ११४ ॥

अथवा इसे आदित्यों अथवा मरुतों को सम्बोधित किया जा सकता है। 'आ मा पूषन्' (ऋग्वेद ६. ४८, १६) से आरम्भ छः ऋचाओं (ऋग्वेद ६. ४८, १६–१९) को पूषन् को, और बाद की दो ऋचाओं (ऋग्वेद ६.४८, २०–२१) को मरुतों को सम्बोधित जानना चाहिये; अन्तिम ऋचा (ऋग्वेद ६. ४८, २२) में आकाश और पृथिवी का कीर्तन है अथवा यह पृश्नि के लिए उद्दिष्ट है।

२३–ऋग्वेद ६. ४९–६२ के देवता।

स्तुषे सूक्तानि चत्वारि वैश्वदेवान्यतः परम्।
द्वितीयाग्निं चतुर्थी च वायुं पञ्चम्यथाश्विनौ ॥ ११५ ॥
सौम्यक् तु सप्तमी वाचम् अत्र पूषणमष्टमी।
त्वष्टारं नवमी रुद्रं भुवनस्येत्यथोत्तरे ॥ ११६ ॥
मारुत्यौ यो रजांसीति विष्णुमेव जगावृषिः।
अग्नीन्द्रयेति च सावित्री रौद्रस्याग्नेय्युताश्विनी ॥ ११७ ॥

इसके बाद 'स्तुषे' (ऋग्वेद ६. ४९, १) से आरम्भ चार सूक्त (ऋग्वेद ६. ४९–५२) विश्वेदेवों को सम्बोधित हैं : यहाँ द्वितीय ऋचा (ऋग्वेद ६. ४९, २) अग्नि की, और चौथी (ऋग्वेद ६. ४९, ४) वायु की, फिर पाँचवीं (ऋग्वेद ६, ४९, ५) अश्विनों की, किन्तु सातवीं (ऋग्वेद ६. ४९, ७) वाच् की, आठवीं (ऋग्वेद ६. ४९, ८) पूषन् की, नवीं (ऋग्वेद ६. ४९, ९) त्वष्टा की, 'भुवनस्य' (ऋग्वेद ६. ४९, १०) रुद्र की, और बाद की दो (ऋग्वेद ६. ४९, ११–१२) मरुतों की स्तुति करती हैं। 'यो रजांसि', (ऋग्वेद ६. ४९, १३) में ऋषि ने विष्णु का गायन किया।

[1] 'अभि' (ऋग्वेद ६. ५०, ६) इन्द्र को सम्बोधित है और 'आ' (ऋग्वेद ६. ५०, ८) सवितृ को सम्बोधित है। फिर एक रोदसी को (ऋग्वेद ६. ५०, ५), तथा 'उत्' (ऋग्वेद ६. ५०, ९. १०) से आरम्भ दो ऋचाओं में से एक (९ वीं ऋचा) अग्नि को और एक (१० वीं ऋचा) अश्विनों को सम्बोधित है।

अग्नीपर्जन्यावनयोः सौर्यौ चोदु त्यदित्यृचौ।
वयं चत्वारि पौष्णानि त्वैन्द्रापौष्णस्य चोत्तरम्॥११८॥

'अग्नीपर्जन्यौ' (ऋग्वेद ६. ५२, १६) इन्हीं दो देवताओं की है, और 'उद् उ त्यत्' (ऋग्वेद ६. ५१, १. २) से आरम्भ दो ऋचायें सूर्य को सम्बोधित हैं। 'वयम्' (ऋग्वेद ६. ५३, १) से आरम्भ चार सूक्त (ऋग्वेद ६. ५३–५६), तथा वह जो इन्द्र-पूषन् को सम्बोधित सूक्त (ऋग्वेद ६. ५७) के बाद आता है (अर्थात्, ऋग्वेद ६. ५८), पूषन् को सम्बोधित है।

२४–ऋग्वेद ६. ६३–७४ के देवता। सात रक्ष

रथीतमं कपर्दिनं रौद्रमेके प्रचक्षते।
ऐन्द्राग्ने प्र नु वोचेति इयं सारस्वतं स्तुवे ॥ ११९ ॥
आश्विने चौषसे चैव मारुतं तु वपुर्न्विति।
उपेति च द्वृचेऽश्विभ्याम् आराधनं च शंसति ॥१२०॥

कुछ 'रथीतमं कपर्दिनम्' (ऋग्वेद ६. ५५, २) ऋचा को रुद्र को सम्बोधित बताते हैं।

'प्र नु वोचा' (ऋग्वेद ६. ५९, १) से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद ६. ५९–६०) इन्द्र-अग्नि को सम्बोधित हैं। 'इयम्' (ऋग्वेद ६. ६१) सरस्वती को सम्बोधित है; 'स्तुवे' (ऋग्वेद ६. ६२) से आरम्भ दो सूक्त (६. ६२–६३) अश्विनों को सम्बोधित हैं, और तब इसके बाद दो (ऋग्वेद ६. ६४–६५) उषस् को सम्बोधित हैं; किन्तु 'वपुर् नु' (ऋग्वेद ६. ६६) मरुतों को सम्बोधित है।

और 'उप'[1] से आरम्भ दो ऋचाओं में ऋषि ने अश्विनों का आराधन किया है।

[1] ऋग्वेद ६. ६६ अथवा इसके निकट के किसी भी सूक्त में 'उप' से आरम्भ कोई ऋचा नहीं है।

मैत्रावरुणमेवैकं विश्वेषां वः सतामिति ।
श्रुष्टीति चैन्द्रावरुणं समैन्द्रावैष्णवं परम् ॥ १२१ ॥

एक (अर्थात) 'विश्वेषां वः सताम्' (ऋग्वेद ६. ६७) मित्र-वरुण को सम्बोधित है । 'श्रुष्टी' (ऋग्वेद ६. ६८) इन्द्र-वरुण को सम्बोधित है; बाद का 'सम्' (ऋग्वेद ६. ६९) इन्द्र-विष्णु' को सम्बोधित है ।

द्यावापृथिव्यौ सविता इन्द्रासोमौ बृहस्पतिः ।
पृथक्पृथक् परैः सूक्तैः सोमारुद्रेति तौ स्तुतौ ॥१२२॥

बाद के सूक्तों में क्रमशः आकाश-पृथिवी (७०वें में), सवितृ (७१ वें में), इन्द्र-सोम (७२ वें में) और बृहस्पति (७३ वें में) की स्तुति है; 'सोमारुद्रा' (ऋग्वेद ६, ७४) में इन्हीं दो देवताओं की स्तुति है ।

चक्रं रथो मणिर्भार्या भूमिरश्वो गजस्तथा ।
एतानि सप्त रत्नानि सर्वेषां चक्रवर्तिनाम् ॥ १२३ ॥

चक्र, रथ, मणि, भार्या, भूमि, अश्व और गज—यह सब चक्रवर्ती राजाओं के सप्तरत्न हैं ।

२४–ऋग्वेद ६. ७५ : अभ्यावर्तिन् और प्रस्तोक सार्ञ्जय की कथा

अभ्यावर्ती चायमानः प्रस्तोकश्चैव सार्ञ्जयः ।
आजग्मतुर्भरद्वाजं जितौ वारशिखैर्युधि ॥ १२४ ॥

युद्ध में वारशिखों[1] द्वारा पराजित हो जाने पर अभ्यावर्तिन चायमान[2] और सृञ्जय[3] के पुत्र प्रस्तोक, भरद्वाज के पास आये ।

[1] ऋग्वेद ६. २७, ४५ में इस नाम का यही रूप है ।
[2] तु० की० ऋग्वेद ६. २७, ५. ८ ।
[3] तु० की० ऋग्वेद ६. २७, [illegible]; ६. ४७, २२. २५ ।

अभिगम्योचतुस्तौ तं प्रसाद्याख्याय नामनी ।
युधि वारशिखैर्ब्रह्मन् आवां विद्धि विनिर्जितौ ॥१२५॥

पास आकर स्तुति कर लेने तथा अपना नाम बताने के बाद इन दोनों ने उनसे (भरद्वाज से) कहा : 'हे ब्रह्मन् , आप यह जानें कि हम लोग युद्ध में वारशिखों द्वारा पराजित हो गये हैं ।

भवत्पुरोहितावावां क्षत्रबन्धूञ्जयेवहि ।
क्षत्रं तदपि विज्ञेयं ब्रह्म यत्पाति शाश्वतम् ॥ १२६ ॥

आप को अपना पुरोहित बनाकर हमलोग योद्धाओं को विजित कर सकते हैं।' उसे ही क्षत्र (योद्धा) जानना चाहिये जो शाश्वत ब्रह्म की रक्षा करता है।

ऋषिस्तौ तु तथेत्युक्त्वा पायुं पुत्रमभाषत ।
अधर्षणीयौ शत्रूणां कुरुष्वैतौ नृपाविति ॥ १२७ ॥

उन लोगों से 'हाँ' कह कर ऋषि ने अपने पुत्र, पायु, को सम्बोधित किया : 'इन दो राजाओं का अपने शत्रुओं द्वारा पराभूत न होनेवाला बना दो।

पितरं स तथेत्युक्त्वा युद्धोपकरणं तयोः ।
जीमूतस्येति सूक्तेन पृथक्त्वेनान्वमन्त्रयत् ॥ १२८ ॥

अपने पिता से 'हाँ' कह कर उसने (पायु ने) उनके आयुधों को पृथक् पृथक् 'जीमूतस्य' (ऋग्वेद ६ ७५) द्वारा अभिषिक्त कर दिया।

२६–ऋग्वेद ६. ७५ के देवताओं का विस्तृत उल्लेख

प्रथमा त्वस्य सूक्तस्य योद्धारं स्तौति वर्मिणम् ।
धनुषश्च द्वितीया तु तृतीया ज्याभिमन्त्रिणी ॥१२९॥

इस सूक्त की प्रथम ऋचा में कवच सहित योद्धा की स्तुति है, दूसरी में धनुष की स्तुति है, तथा तीसरी में प्रत्यञ्चा को अभिषिक्त किया गया है।

स्तौत्यृगार्त्नी चतुर्थी तु इषुधिं स्तौति पञ्चमी ।
अर्धेन सारथिः षष्ठ्या रश्मयोऽर्धेन संस्तुताः ॥ १३० ॥

चतुर्थ ऋचा धनुष के किनारों की स्तुति करती है और पाँचवीं तरकस की। छठवीं ऋचा का एक अर्ध-भाग सारथि की तथा दूसरा अर्ध-भाग वल्गाओं की स्तुति करता है।

अश्वांस्तु सप्तमी स्तौति आयुधागारमष्टमी ।
नवमी रथगोपांस्तु दशमी रणदेवताः ॥ १३१ ॥

सातवीं ऋचा अश्वों को, आठवीं आयुधागार को, नवीं रथ रक्षकों की और दसवीं रण देवताओं की स्तुति करती है।

इषुं चैकादशी स्तौति द्वादशी कवचस्तुतिः।
त्रयोदशी कशां स्तौति हस्तत्राणं चतुर्दशी ॥ १३२ ॥

ग्यारहवीं कवच-स्तुति है; तेरहवीं में कशा को तथा चौदहवीं में हस्त-त्राण की स्तुति है।

प्रथमे पञ्चदश्यास्तु पादे दिग्ध इषु स्तुतः।
अयोमुखी द्वितीये तु अर्धेऽस्त्रं वारुणं परे ॥ १३३ ॥

पन्द्रहवीं (ऋचा) के प्रथम पाद में दग्ध (विष से) बाण की स्तुति है, दूसरे पाद में अयोमुखी बाण की; किन्तु ऋचा के शेषार्ध में वरुणास्त्र की स्तुति है।

२७–ऋग्वेद ६.७५ (क्रमशः)

षोळश्यां त्वस्य सूक्तस्य धनुर्मुक्त इषु स्तुतः।
सप्तदश्यां तु युद्धादेः कवचस्य तु बध्यतः ॥१३४॥
स्तुतिरष्टादशी ज्ञेया युयुत्सो स्तुतिरुत्तमा।
आशास्ते चोत्तमे पादे ऋषिरात्मन आशिषः ॥१३५॥

इस सूक्त की सोलहवीं ऋचा में धनुष से छुटे हुये बाण की स्तुति है और सत्रहवीं में युद्ध के आरम्भ की, जब कि अट्ठारहवीं को उस व्यक्ति के कवच की स्तुति करनेवाला जानना चाहिये जो उसे बाँधता है। अन्तिम ऋचा में उसकी स्तुति है जो युद्ध करने को वाला हो; और इसके अन्तिम पाद में ऋषि ने अपनी ओर से आशिस दिया है।

सूक्तेनानेन तु स्तुत्वा संग्रामाङ्गान्यृषिस्तयोः।
ततः प्रस्थापयामास पुनर्वारशिखान्प्रति ॥१३६॥

इस सूक्त द्वारा इन दो राजाओं के युद्ध के आयुधों की स्तुति करने के बाद ऋषि ने इन्हें पुनः वारशिखों के पास भेज दिया।

एतस्यन्ते चतसृभी राज्ञो साहाय्यकाम्यया।
भरद्वाजोऽभिलुष्टाव प्रीतस्तेन पुरंदरः ॥ १३७ ॥
अभ्यावर्तिनमभ्येत्य हर्युपीयानदीतटे।
सहितश्चायमानेन जघानैनाञ्छचोपतिः ॥ १३८ ॥

'एतत् त्यत् ते' (ऋग्वेद ६. २६, ४) से आरम्भ चार ऋचाओं (ऋग्वेद २७, ४-७) में भरद्वाज ने राजा (चायमान) की सहायता की इन्द्र (इन्द्र की) स्तुति की। इससे प्रसन्न होकर शचीपति, पुरन्दर, हर्युपीया दी के तट पर अभ्यावर्तिन के पास आये, और चायमान को साथ लेकर नका बध किया।

१८—चायमान और प्रस्तोक की कथा (क्रमशः)

तौ तु वारशिखाञ्जित्वा ततोऽभ्यावर्तिसार्ञ्जयौ।
भरद्वाजाय गुरवे ददतुर्विविधं वसु ॥ १३९ ॥

इन दोनों, अभ्यावर्तिन और सार्ञ्जय ने, वारशिखों को विजित करके अपने गुरु भरद्वाज को प्रचुर धन दिया।

भरद्वाजश्च गर्गश्च दृष्टाविन्द्रेण वै पथि।
द्वयान् प्रस्तोक इत्याभिर् दानं तद्वै शशंसतुः ॥ १४० ॥

पथ पर इन्द्र द्वारा देखे जाने पर भरद्वाज और गर्ग[1] ने 'द्वयान्', (ऋग्वेद ६. २७, ८) और 'प्रस्तोक.' (ऋग्वेद ६. ४७, २२) से आरम्भ ऋचाओं द्वारा उस दान की स्तुति की।

[1] सर्वानुक्रमणी में भरद्वाज पुत्र गर्ग को ऋग्वेद ६. ४७, और भरद्वाज पुत्र पायु को ऋग्वेद ६. ७५ का ऋषि बताया गया है। तु० की० आर्षानुक्रमणी ६. ६, ८।

ऋषिरप्यभितुष्टाव दानं तत्र च तस्य तु।
ऋचैकया द्वयाँ अग्ने दत्तं संकीर्तयन् स्वयम् ॥ १४१ ॥

'द्वयान् अग्ने' (ऋग्वेद ६. २७, ८) ऋचा द्वारा ऋषि ने अपनी ओर से उनके दान की स्तुति की, और स्वयं ही, प्रदान की गई वस्तुओं का उल्लेख किया।

प्रसङ्गात्त्विह याः सूक्ते देवताः परिकीर्तिताः।
ता एव सूक्तभाजस्तु मेने रथीतर स्तुतौ ॥ १४२ ॥

जिन देवताओं का इस सूक्त[1] में प्रसङ्गात्मक[2] वर्णन है उनको ही राथीतर ने स्तुति में सूक्तभाज् माना है।

[1] अर्थात् ऋग्वेद ६. ७५।
[2] अर्थात् आकाश और पृथिवी, पूषन्, सोम, अदिति, पर्जन्य, ब्राह्मणस्पति, वरुण।

सप्तम मण्डल

२९–वसिष्ठ की वंशावली। कश्यप की पत्नियाँ

प्राजापत्यो-मरीचिर्हि मारीचः कश्यपो मुनिः।
तस्य देव्योऽभवञ्जाया दाक्षायण्यस्त्रयोदश ॥ १४३ ॥
अदितिर्दितिर्दनुः काला दनायुः सिंहिका मुनिः।
क्रोधा विश्वा वरिष्ठा च सुरभिर्विनता तथा ॥ १४४ ॥
कद्रूश्चैवेति दुहितॄः कश्यपाय ददौ स च।
तासु देवासुराश्चैव गन्धर्वोरगराक्षसाः ॥ १४५ ॥
वयांसि च पिशाचाश्च जज्ञिरेऽन्याश्च जातयः।
तत्रैका त्वदितिर्देवी द्वादशाजनयत्सुतान् ॥ १४६ ॥

प्रजापति के पुत्र मरीचि थे, मरीचि के पुत्र कश्यप मुनि। दक्ष की पुत्रियाँ, उनकी (कश्यप की) तेरह दिव्य पत्नियाँ थीं: अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, मुनि, क्रोधा, विश्वा और वरिष्ठा, सुरभि और विनता और कद्रू, इनके नाम थे: इन पुत्रियों को उन्होंने (दक्ष ने) कश्यप को दिया था। इनमें ही देव, असुर, गन्धर्व, सर्प, राक्षस, पक्षी, पिशाच तथा अन्य जातियाँ उत्पन्न हुईं। इन पुत्रियों में से एक, देवी अदिति, ने बारह पुत्रों को जन्म दिया।

भगश्चैवार्यमांशश्च मित्रो वरुण एव च।
धाता चैव विधाता च विवस्वांश्च महाद्युतिः ॥ १४७ ॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते।
द्वन्द्वं तस्यास्तु तज्जज्ञे मित्रश्च वरुणश्च ह ॥ १४८ ॥

इनके नाम यह हैं: भग, अर्यमन्, और अंश, मित्र और वरुण, धातृ और विधातृ, और महातेजस्वी विवस्वान्, त्वष्टा, पूषन् तथा इन्द्र; और बारहवें का नाम विष्णु है। इस प्रकार वरुण और मित्र का युग्म उनसे (अदिति से) उत्पन्न हुआ।

३०–मित्र-वरुण और उर्वशी की कथा

तयोरादित्ययोः सत्रे दृष्ट्वाप्सरसमुर्वशीम्।
रेतश्चस्कन्द तत्कुम्भे न्यपतद्वासतीवरे ॥ १४९ ॥

इनमें से दो आदित्यों ने जब अप्सरा उर्वशी को एक यज्ञ-सत्र में देखा तब उनका वीर्य स्कन्दित[1] हो गया और उस जल से भरे कुम्भ में गिर पड़ा जो रात भर वहाँ पड़ा रहा।

[1] तु० या० निरुक्त ५ १३ - तस्या दर्शनान् मित्रावरुणयो रेतश् चस्कन्द।' देखिये सर्वानुक्रमणी १ १६६ - मित्रावरुणयोर् दीक्षितयोर् उर्वशीम् अप्सरस दृष्ट्वा वासतीवरे कुम्भे रेतोऽपतत् '

तेनैव तु मुहूर्तेन वीर्यवन्तौ तपस्विनौ।
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी संबभूवतुः ॥ १५० ॥

उसी क्षण वहाँ दो वीर्यवान् तपस्वी, ऋषि अगस्त्य और वसिष्ठ, उत्पन्न हो गये।

बहुधा पतिते शुक्रे कलशेऽथ जले स्थले।
स्थले वसिष्ठस्तु मुनिः संभूत ऋषिसत्तमः ॥ १५१ ॥
कुम्भे त्वगस्त्यः संभूतो जले मत्स्यो महाद्युतिः।
उदियाय ततोऽगस्त्यः शम्यामात्रो महायशाः ॥१५२॥

यतः यह वीर्य विविध रूपों से कुम्भ, जल, और स्थल पर गिरा था, अत. ऋषिश्रेष्ठ मुनि वसिष्ठ स्थल पर उत्पन्न हुये; जब कि अगस्त्य कुम्भ में और महाद्युतिमान् मत्स्य जल में उत्पन्न हुये।

तब महायशस्वी अगस्त्य खूँटे के आकार के बराबर उदित हुये।

३१–अगस्त्य और वसिष्ठ का जन्म

मानेन संमितो यस्मात् तस्मान्मान्य इहोच्यते।
यद्वा कुम्भादृषिर्जातः कुम्भेनापि हि मीयते ॥ १५३ ॥
कुम्भ इत्यभिधानं तु परिमाणस्य लक्ष्यते।
ततोऽप्सु गृह्यमाणासु वसिष्ठः पुष्करे स्थितः ॥१५४॥

यतः उनको एक मान से सीमित किये जाने के कारण उनका यहाँ मान्य नाम पड़ा, अथवा इसलिये कि इस ऋषि का कुम्भ से जन्म हुआ था, और कुम्भ द्वारा भी नापा जाता है: कुम्भ नाम में भी एक परिमाण लक्षित होता है।

जब जलों को ग्रहण किया जा रहा था तब वसिष्ठ एक पुष्कर (पुष्प) पर खड़े पाये गये।

सर्वत्र पुष्करं तत्र विश्वे देवा अधारयन्।
उत्थाय सलिलात्तस्माद् अथ तेपे महत्तपः ॥ १५५॥

वहाँ विश्वेदेव चारों ओर से उस पुष्कर[1] को धारण किये हुये थे। जल से निकलने के बाद उन्होंने (वसिष्ठ ने) महान तप किया।

[1] तु० की० ऋग्वेद ७. ३३, ११ : 'विश्वेदेवाः पुष्करे त्वाददन्त'; जिसकी यास्क ने निरुक्त ५. १४ में 'सर्वे देवाः पुष्करे त्वाऽधारयन्त' शब्दों द्वारा व्याख्या की है।

नामास्य गुणतो जज्ञे वसतेः श्रैष्ठ्यकर्मणः।
अदृश्यमृषिभिर्हीन्द्रं सोऽपश्यत्तपसा पुरा ॥ १५६॥

इनका नाम इनके गुणों के आधार पर श्रेष्ठ कर्मों को उत्पन्न करनेवाले 'वस्' धातु से उत्पन्न हुआ है : क्योंकि एक समय इन्होंने तप के द्वारा इन्द्र को देखा था जो अन्य ऋषियों के लिये अदृश्य थे।

सोमभागानथो तस्मै प्रोवाच हरिवाहनः।
ऋषयो वा इन्द्रमिति ब्राह्मणात्तद्धि दृश्यते ॥ १५७॥

तब हरिवाहन (इन्द्र) ने इन्हें सोम-भागों को प्राप्त करने के लिये कहा, क्योंकि 'ऋषयो वा इन्द्रम्'[1] ब्राह्मण वाक्य से ऐसा स्पष्ट होता है।

[1] तैत्तिरीय संहिता ३ ५, २, १ : 'ऋषयो वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यन्; तं वसिष्ठ प्रत्यक्षम् अपश्यत्...तस्मै एतान्त् सोमभागान् अब्रवीत्।'

३२–वसिष्ठ और उनके वंशज। ऋग्वेद् ७. १–३२ के देवता

वसिष्ठश्च वसिष्ठाश्च ब्राह्मणा ब्रह्मकर्मणि।
सर्वकर्मसु यज्ञेषु दक्षिणीयतमास्तथा ॥ १५८॥

इस प्रकार वसिष्ठ और वसिष्ठगण हर प्रकार के कर्मों से सम्बद्ध यज्ञों में दक्षिणा प्राप्त करने के लिये सर्वोपयुक्त ब्रह्मकर्मी[1] ब्राह्मण बन गये।

[1] ऋग्वेद ७ ३३, ११ : 'उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधि जातः', तु० की० तैत्तिरीय संहिता ३. ५, २, १ : 'तस्माद् वासिष्ठो ब्रह्मा कार्यः'।

तस्माद्येऽद्यापि वासिष्ठाः सदस्याः स्युस्तु कर्हिचित्।
अर्हयेद्दक्षिणाभिस्तान् भाल्लवेयी श्रुतिस्त्वियम् ॥१५९॥

अतः प्रत्येक व्यक्तियों को वसिष्ठ के उन सभी वंशजों को दक्षिणा से सम्मानित करना चाहिये जो आज भी किसी यज्ञ-सत्र पर उपस्थित हों—ऐसा भाल्लविनों की एक श्रुति का कथन है।

ऋषिस्तु मैत्रावरुणिः सूक्तैः षोळशभिः परैः।
तुष्टावाग्निमिति त्वग्निम् आप्र्यस्तत्र जुषस्व नः ॥१६०॥

मित्र वरुण के पुत्र ऋषि (वसिष्ठ) ने 'अग्निम्' (ऋग्वेद ७ १, १) से [आ]रम्भ सोलह अगले सूक्तों म अग्नि की स्तुति की, यहाँ 'जुषस्व न' (ऋग्वेद [७] २) आप्री मन्त्रों से युक्त है।

प्राग्नयेऽथ प्र सम्राजो द्वितीयं प्राग्नये तृचम्।
वैश्वानरीयाण्येतानि त्वे हैन्द्राणि पराण्यतः ॥ १६१॥
दश पञ्च च सूक्तानि निपातो मरुतां स्तुतिः।
नकिः सुदास इत्यस्यां दानं पैजवनस्य तु ॥ १६२ ॥
वसिष्ठेन चतुर्भिस्तु द्वे नप्तुरिति कीर्तितम्।
संवादं सूक्तमैन्द्रं वा श्वित्यञ्चस्तु प्रचक्षते ॥ १६३ ॥

तब 'प्राग्नये' (ऋग्वेद ७ ५), 'प्र सम्राज' (ऋग्वेद ७ ६) और एक [दू]सरा 'प्राग्नये' (ऋग्वेद ७,१३) भी जिसमें तीन ऋचायें हैं—इनसे वैश्वानर [को] सम्बोधित किया गया है। इसके बाद 'त्वे ह' (ऋग्वेद ७ १८) से आरम्भ [हो]कर इन्द्र को सम्बोधित है जिनके अन्तर्गत पन्द्रह सूक्त (ऋग्वेद ७ १८-३२) [आ]ते हैं, यहाँ मरुतों की नैपातिक स्तुति है। 'नकि सुदास' (ऋग्वेद ७ ३२, [१]) ऋचा में तथा 'द्वे नप्तु' (ऋग्वेद ७ १८, २२-२५) से आरम्भ चार [ऋ]चाओं में वसिष्ठ द्वारा पैजवन (सुदास) के दान का उल्लेख है। 'श्वित्यञ्च' (ऋग्वेद ७ ३३) को उन लोगों ने इन्द्र को सम्बोधित सूक्त अथवा एक [सं]वाद कहा है।

३३–ऋग्वेद ७ ३३-३८ के देवता।

[व]सिष्ठागस्त्ययोरत्र कीर्त्यते तनयैः सह।
इन्द्रेण चैव संवादो महिमा जन्म कर्म च ॥ १६४ ॥

यहाँ वसिष्ठ और अगस्त्य का अपने पुत्रों तथा इन्द्र के साथ सवाद का उल्लेख, और महिमा, जन्म और कर्म की प्रशस्ति है।

पराणि प्रेति चत्वारि वैश्वदेवानि तत्र तु।
स्तौत्यब्जामहिं तत्र मा नोऽहिं बुध्न्यमेव च ॥१६५॥

'प्र' (ऋग्वेद ७ ३४, १) से आरम्भ चार बाद के सूक्त (ऋग्वेद ७ ३४-३७) विश्वेदेवों को सम्बोधित हैं। फिर भी, यहाँ 'अब्जाम्' (ऋग्वेद

७. ३४, १६) ऋचा में अहि की, और 'मानः' (ऋग्वेद ७. ३४, १७) में अहि बुध्न्य की स्तुति है।

अहिराहन्ति मेघान्स एति वा तेषु मध्यमः।
योऽहिः स बुध्न्यो बुध्ने हि सोऽन्तरिक्षेऽभिजायते ॥१६६॥

अहि मेघों पर प्रहार करता है अथवा उनके मध्य में चला जाता है।[1] यह अहि ही बुध्न्य है, क्योंकि यह बुध्न अथवा अन्तरिक्ष[2] में उत्पन्न हुआ है।

[1] निरुक्त २. १७ में 'अहि' को 'अयन्' अथवा 'अहन्ति' से व्युत्पन्न बतलाया गया है।
[2] तु० की० निरुक्त १०. ४४ : 'योऽहिः स बुध्न्यः बुध्नम् अन्तरिक्षं, तन्निवासात्'।

उदु ष्य सवितुः सूक्तं शं नो वाजिनदैवतः।
द्वृचोऽर्धर्चश्च भागोऽत्र भगस्तुग्र इति श्रुतिः ॥ १६७ ॥

'उद् उ ष्यः' (ऋग्वेद ७. ३८) सवितृ का सूक्त है। यहाँ 'शं नः' (ऋग्वेद ७.८) से आरम्भ दो ऋचाओं के देवता वाजिन हैं, और 'भगम् उग्रः' (ऋग्वेद ७. ३८, ६) से आरम्भ अर्ध-ऋचा भग को सम्बोधित है, ऐसा एक श्रुति का कथन है।

२४–ऋग्वेद ७. ३८–४३ के देवता

पादश्चैव तृतीयोऽत्र पञ्चम्यामहिर्दैवतः।
यथार्धर्चो भगस्तुग्रस् तथा नूनं भगोऽपि च ॥ १६८ ॥
स हि रत्नानि सविता सुवातीति भगः स वा।
वैश्वदेवानि पञ्चोर्ध्वः पञ्चर्चो भगदैवतः ॥ १६९ ॥
प्रातर्जितमुपस्थान्त्या द्रष्टुर्योऽस्याशिरेव वा।
एके तु प्रातरित्यस्यां भगमेव प्रचक्षते ॥ १७० ॥

यहाँ पाँचवीं ऋचा के तृतीय पाद (ऋग्वेद ७. ३८, ५) का देवता अहि है। जिस प्रकार 'भगम् उग्रः' (ऋग्वेद ७. ३८, ६) अर्ध-ऋचा है उसी प्रकार 'नूनं भगः' (ऋग्वेद ७. ३८, १) भी है; 'स हि रत्नानि सविता' (ऋग्वेद ५. ८२, ३) ऋचा के अनुसार उसे ही (सवितृ को) भग माना जा सकता है।

'ऊर्ध्वः' (ऋग्वेद ७. ३९, १) से आरम्भ सूक्त विश्वेदेवों को सम्बोधित पाँच सूक्तों (ऋग्वेद ७. ३९–४३) में से प्रथम है। 'प्रातर्जितम्' (ऋग्वेद ७. ४१, २–६) से आरम्भ पाँच ऋचाओं के देवता भग हैं। इसकी अन्तिम

ऋचा (ऋग्वेद ७. ८१, ७) उषस् को सम्बोधित है, अथवा इसमें स्त्रियों की स्तुति है। फिर भी स्त्री का कथन है कि 'प्रात' (ऋग्वेद ७. ४१, १) न केवल भग ही देवता है।

आदावन्ते तु ऋषयः कीर्तयन्ति प्रसङ्गतः।
सूक्तेऽस्मिन्देवतास्त्वन्या अन्यास्तत्र भवन्ति च॥

ऋषिगण किसी सूक्त के आदि और अन्त में किसी देवता का प्रसङ्गतः वर्णन करते हैं; अतः इस सूक्त में इन स्थानों पर कुछ देवता यहाँ और कुछ वहाँ हैं।

सालोक्यात्साहचर्याद्वा सांस्तवादथवा पुनः।
गणस्थानाद्भक्तितो वा कीर्त्यन्तेऽन्यास्तु देवताः॥

अन्य देवताओं का इसलिये उल्लेख है कि वे एक ही लोक के अथवा सहचर हैं, अथवा पुनः, इसलिये कि अपने स्थान, गण, अथवा समान भक्ति (गुण) के कारण उनकी सम्मिलित स्तुति होती है।

२५–ऋग्वेद ७. ४४–४९. के देवता

दाधिक्रमथ सावित्रं रौद्रमित्यनुपूर्वशः।
दाधिक्रे प्रथमायास्तु देवताः परिकीर्तिताः॥१७३॥
ता ज्ञेया आप आप्यं स्याद् आर्भवः प्रथमस्तृचः।
उत्तमा वैश्वदेवी वा आर्भवी वा निगद्यते॥१७४॥

इसके बाद क्रम से एक सूक्त (ऋग्वेद ७. ४४) दधिक्रा को, एक (ऋग्वेद ७. ४५) सवितृ को, और एक (ऋग्वेद ७. ४६) रुद्र को सम्बोधित हैं। किन्तु दधिक्रा को सम्बोधित सूक्त (७. ४४) की प्रथम ऋचा में सम्बोधित देवताओं को जाना जा सकता है। 'आप' (ऋग्वेद ७. ४७) को जलों को सम्बोधित जानना चाहिये। बाद के सूक्त की प्रथम तीन ऋचायें (ऋग्वेद ७. ४८, १–३) ऋभुओं को सम्बोधित हैं। अन्तिम ऋचा (ऋग्वेद ७. ४८, ४) को या तो विश्वेदेवों को अथवा ऋभुओं को सम्बोधित कहा गया है।

वैश्वदेवे तथा शास्त्रे आर्भवं शस्यते हि तत्।
दशमेऽहि समस्तं समुद्रज्येष्ठा अपां स्तुतिः॥१७५॥

इसी कारण ऋभुओं को सम्बोधित इस सम्पूर्ण सूक्त का विश्वेदेवों[1] स्तवन के दसवें दिन स्तवन किया जाता है। 'समुद्रज्येष्ठाः' (ऋग्वेद ७. ४ में जलों की स्तुति है।

[1] देखिये ऋग्वेद ७ ४८, ४ पर सायण द्वारा उद्धृत आश्वलायन श्रौतसूत्रः 'दशमे वैश्वदेवशस्त्र आर्भवनिविधानं, सूत्र्यते हि ऋभुक्षण इत्यार्भवम् इति।'

॥ इति बृहद्देवतायां पञ्चमोऽध्यायः ॥



आ मामिति तु सूक्तेन प्रत्यृचं देवता स्तुताः।
मित्रावरुणावग्निश्च देवा नद्यस्तथैव च ॥ १ ॥

'आ माम्' (ऋग्वेद ७ ५०) सूक्त की प्रत्येक ऋचा में इन देवों की स्तुति की गई है मित्र वरुण (१), और अग्नि (२) देव गण (३), था साथ ही साथ नदियाँ (४)।

तृचावादित्यदेवत्यौ रोदस्योः प्रेति यस्तृचः।
वास्तोष्पत्याश्चतस्रस्तु सप्त प्रस्वापिन्यः स्मृताः ॥ २ ॥

ऋचाओं के दो त्रिकों (ऋग्वेद ७ ५१–५२) के देवता आदित्य हैं। 'प्र' (ऋग्वेद ७–५३, १) से आरम्भ तीन ऋचाएं (ऋग्वेद ७ ५३ १–३) रोदसी को सम्बोधित हैं। इसके बाद चार ऋचाएं (ऋग्वेद ७ ५४ १–३ ५५, १) वास्तोष्पति को सम्बोधित हैं, और बाद की सात ऋचाओं (ऋग्वेद ७ ५५, २–८) को प्रसुप्त करनेवाली कहा गया है।[1]

[1] द्र० का० ऋग्वेद ७ ५५ पर सर्वानुक्रमणी।

परं चत्वारि सूक्तानि मारुतानि क ईमिति।
तेषां तु पितरं देवं त्र्यम्बकं स्तौत्यृगुत्तमा ॥ ३ ॥

इसके बाद 'क ईम्' (ऋग्वेद ७ ५६–५९) से आरम्भ चार सूक्त मरुतों को सम्बोधित हैं, इनकी अन्तिम ऋचा (ऋग्वेद ७ ५९, १२) में दिव्य पितर त्र्यम्बक की स्तुति है।

स्तुतौ तु मित्रावरुणौ सूक्तैर्यदिति सप्तभिः।
अश्विनौ तु परैर्देवाव् अष्टभिः प्रति वामिति ॥ ४ ॥

'यत्' (ऋग्वेद ७ ६०, १) से आरम्भ सात सूक्तों (ऋग्वेद ७ ६०–६६) में मित्र-वरुण की स्तुति है। किन्तु इसके बाद 'प्रति वाम्' (ऋग्वेद ७ ६७, १) से आरम्भ आठ (ऋग्वेद ७ ६७–७४) में दिव्य अश्विनों की स्तुति है।

यदद्यैकोत्सूर्यस्तिस्र उद्वेतीत्यर्धपञ्चमाः।
सौर्यस्तच्चक्षुरिति तु गीयते चक्षुर्देवता ॥ ५ ॥

'यद् अद्य' (ऋग्वेद ७. ६०) में एक (प्रथम ऋचा), 'उद् सूर्यः' (ऋग्वेद ७. ६२) में तीन (१–३), और 'उद् वु एति' (ऋग्वेद ७. ६३) में साढ़े चार (१–५) सूर्य को सम्बोधित हैं, जब कि 'तच् चक्षुः' (ऋग्वेद ७. ६६, १६) में चक्षु-देवता का गायन है।

२–ऋग्वेद ७. ६६–८५ के देवता

आदित्यानां तद्वो अद्य द्वे ऋचौ शौनकोऽब्रवीत्।
अन्याः सर्वा ऋचः सौर्या यदद्याद्याः प्रकीर्तिताः॥ ६॥

शौनक ने कहा है कि 'तद् वो अद्य' (ऋग्वेद ७. ६६, १२) से आरम्भ दो ऋचायें (१२–१३) आदित्यों की हैं, जब कि अन्य सब ऋचाओं, ('यद् अद्य' : ऋग्वेद ७. ६६, ४–११) तथा शेष को सूर्य को सम्बोधित कहा गया है।

इमे चेतार इत्याद्याः सत्र मित्रो मितः स्तुतः।
अर्यम्णो वरुणस्यापि मित्रस्यैता नव स्मृताः॥ ७॥

'इमे चेतारः' (ऋग्वेद ७. ६०, ५), तथा अन्य नौ में अर्यमन्, वरुण और मित्र की स्तुतियाँ हैं।

यदद्य सूर इत्याद्या दशादित्या ऋचः स्मृताः।
सविता वादितिर्मित्रो वरुणश्चार्यमा भगः॥ ८॥
स्तुता उदु त्यदित्येतास् तिस्रः सौर्यस्ततः पराः।
आशीस्तच्चक्षुरित्येताम् आचार्यः शौनकोऽब्रवीत्॥ ९॥

'यद् अद्य सूरः' से आरम्भ दस ऋचाओं (ऋग्वेद ७. ६६, ४–१३) को आदित्यों को सम्बोधित माना गया है; अथवा इनमें सवितृ, अदिति, मित्र, वरुण, अर्यमन्, और भग की स्तुति है। 'उद् उ त्यत्' से आरम्भ बाद की तीन ऋचायें (ऋग्वेद ७. ६६, १४–१६) सूर्य को सम्बोधित हैं। आचार्य शौनक ने 'तच् चक्षुः' (ऋग्वेद ७. ६६, १६) को आशीस बताया है।

उपास्तु सप्तभिर्व्युषाः सूक्तान्येभ्यः पराणि तु।
चत्वारीन्द्रावरुणेति इन्द्रावरुणयो स्तुतिः॥ १०॥

इसके बाद 'व्यु उषाः' से आरम्भ सात सूक्तों (ऋग्वेद ७. ७५–८१) में

उषस् की, किन्तु इसके बाद 'इन्द्रावरुणा' से आरम्भ चार सूक्तों (ऋग्वेद ७ ८२-८५) में इन्द्र वरुण की स्तुति है।

३—वसिष्ठ और वरुण का कुत्ता ऋग्वेद ७ ८६-८९

उदु ज्योतिरिति त्वस्मिन्न् अर्धर्चे मध्यम स्तुतः।
वरुणस्य गृहानात्रौ वसिष्ठः स्वप्न आचरत् ॥ ११ ॥

'उद् उ ज्योति' से आरम्भ अर्ध ऋचा (ऋग्वेद ७ ७७, १) में मध्यम अग्नि की स्तुति है।

रात्रि के समय स्वप्न में वसिष्ठ, वरुण[1] के घर पर आये।

[1] तु० का० ऋग्वेद ७ ८९ ६ और ७ ८८ ५।

प्राविवेशाथ तं तत्र श्वा नदन्नभ्यधावत।
क्रन्दन्तं सारमेयं स धावन्तं दष्टुमुद्यतम् ॥ १२ ॥
यदर्जुनेति च द्वाभ्यां सान्त्वयित्वा व्यसुष्वपत्।
स तं प्रस्वापयामास जनमन्यं च वारुणम् ॥ १३ ॥

तब उन्होंने अन्दर प्रवेश किया। वहाँ एक कुत्ता भौंकता हुआ उन पर दौड़ा। काटने के लिये दौड़ते और भौंकते हुए उस कुत्ते को शान्त करके उन्होंने 'यद् अर्जुन' (ऋग्वेद ७ ५५, २-३) से आरम्भ दो ऋचाओं द्वारा सुला दिया।

उन्होंने उसे तथा वरुण के अन्य सेवकों को भी सुला दिया।

ततस्तु वरुणो राजा स्वैः पाशैः प्रत्यबध्यत।
स बद्धः पितरं सूक्तैश् चतुर्भिरित उत्तरैः ॥ १४ ॥
अभितुष्टाव धीरेति मुमोचैनं ततः पिता।
ध्रुवासु त्वेति चोक्तायां पाशा अस्मात्प्रमोचिरे ॥ १५ ॥

तब राजा वरुण ने उन्हें अपने पाश से आबद्ध कर दिया। इस प्रकार आबद्ध हो जाने पर उन्होंने (वसिष्ठ ने) अपने पिता (वरुण) की 'धीरा' से आरम्भ बाद के चार सूक्तों (ऋग्वेद ७ ८६-८९) में स्तुति की। तब उनके पिता ने उन्हें मुक्त कर दिया।

'ध्रुवासु त्वा' (ऋग्वेद ७ ८८, ७) ऋचा का ज्यों ही उच्चारण किया गया, त्यों ही उनके पाश गिर पड़े।

४– ऋग्वेद ७. ९०–९६ के देवता।

पराणि त्रीणि सूक्तानि वायव्यानि प्र वीरया।
अत्र तास्त्वैन्द्रवायव्या स्तुतौ यासु द्विवत्स्तुतिः॥ १६॥

'प्र वीरया' से आरम्भ बाद के तीन सूक्त (ऋग्वेद ७. ९०–९२) वायु को सम्बोधित हैं। इस स्तुति में जिन ऋचाओं में द्विवत्[1] स्तुति है वे इन्द्र-वायु को सम्बोधित हैं।

[1] देखिये ऋग्वेद ७ ९० पर सर्वानुक्रमणी, तु० की० षड्गुरुशिष्य भी।

प्र वीरयोक्ता वायव्या प्राउगीत्यैतरेयके।
पदस्य व्यत्ययं कृत्वा वायोः प्राधान्यमुच्यते॥ १७॥

'प्र वीरया' (ऋग्वेद ७. ९०, १) को ऐतरेय (ब्राह्मण)[1] में वायु को सम्बोधित एक 'प्राउगी' ऋचा कहा गया है: यहाँ वायु की प्रधानता को इसके एक पाद के व्यतिक्रम द्वारा व्यक्त किया गया है।

[1] अर्थात् ऐतरेय ब्राह्मण ५. २०, ९।

ते सत्येन तृचो यावत् तरश्चतुर्ऋचः पुनः।
उशान्तैका प्र सोता चर्ग् द्व्योरेता नव स्मृताः॥ १८॥

'ते सत्येन' (ऋग्वेद ७. ९०, ५–७) से आरम्भ ऋचाओं का एक त्रिक् है, 'यावत् तरः' (ऋग्वेद ७. ९१, ४–७) पुन चार ऋचाओं का समूह है, 'उशान्ता' (ऋग्वेद ७. ९१, २) और 'प्र सोता' (ऋग्वेद ७. ९२, २) एक-एक ऋचायें हैं। इन नौ ऋचाओं को दो (इन्द्र-वायु) को सम्बोधित माना गया है।

ऐन्द्राग्ने शुचिमित्येते प्रेति सारस्वते परे।
ऋचा सरस्वान् स इति जनीयन्तश्च तिसृभिः॥ १९॥

'शुचिम्' (ऋग्वेद ७. ९३, १) से आरम्भ दो सूक्त (९३–९४) इन्द्र-अग्नि को सम्बोधित हैं; इसके बाद 'प्र' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद ७. ९५–९६) सरस्वती को सम्बोधित हैं। सरस्वत् को 'सः' (ऋग्वेद ७. ९५, ३) ऋचा द्वारा और 'जनीयन्तः' (ऋग्वेद ७. ९६, ४–६) से आरम्भ तीन ऋचाओं में स्तुति की गई है।

५–नाहुष और सरस्वती की कथा : ऋग्वेद ७. ९५–९६

राजा वर्षसहस्राय दीक्षिष्यन्नाहुषः पुरा।
चचारैकरथेनेमां ब्रुवन् सर्वाः समुद्रगाः॥ २०॥

यक्ष्ये वहत भागान्मे द्वन्द्वशो वाथवैकशः ।
प्रत्यूचुस्तं नृपं नद्यः स्वल्पवीर्याः कथं वयम् ॥ २१ ॥
वहेम भागान्सर्वांस्ते सत्रे वार्षसहस्रिके ।
सरस्वतीं प्रपद्यस्व सा ते वक्ष्यति नाहुष ॥ २२ ॥

प्राचीन काल में अपने को एक सहस्र वर्ष तक के लिये दीक्षित कराने की इच्छा से राजा नाहुष इस पृथिवी पर सभी नदियों से इस प्रकार कहते हुये यहां (पृथिवी पर) एक रथ पर चढ़कर भ्रमण करने लगे : 'मैं यज्ञ करने वाला हूँ, इसके लिये या तो पृथक् पृथक् अथवा द्वन्द्व रूप से अपना भाग दो । नदियों ने राजा को उत्तर दिया : 'अत्यन्त अल्प शक्ति वाले हमलोग किस प्रकार आपके एक सहस्र वर्ष के यज्ञ-सत्र के लिये सभी भाग ला सकते हैं ? हे नाहुष ! तुम सरस्वती के पास जाओ : वही तुम्हारे लिये उसे लाने में समर्थ हो सकती हैं ।'

तथेत्युक्त्वा जगामाशु आपगां स सरस्वतीम् ।
सा चैनं प्रतिजग्राह दुदुहे च पयो घृतम् ॥२३॥

'ऐसा ही होगा', यह कहकर वह शीघ्रतापूर्वक सरस्वती नदी के पास गये, जहाँ उसने (सरस्वती नदी ने) उनका स्वागत किया और उन्हें दुग्ध और घृत दिया ।

एतदत्यद्भुतं कर्म सरस्वत्या नृपं प्रति ।
वारुणिः कीर्तयामास प्रथमस्य द्वितीयया ॥ २४ ॥

राजा के प्रति सरस्वती के इस अद्भुत कार्य की वरुण के पुत्र (वसिष्ठ) ने (उक्त दो सूक्तों, अर्थात् ऋग्वेद ७. ९५–९६) में से प्रथम की द्वितीय ऋचा में स्तुति की है ।

६–ऋग्वेद ७. ९७–१०४ के देवता ।

यज्ञे बार्हस्पत्यमैन्द्रं वैष्णवे तु परे ततः ।
उरुमैन्द्रयश्च तिस्रः स्युः पार्जन्ये तिस्र उत्तरे ॥ २५ ॥

'यज्ञे' (ऋग्वेद ७. ९७) बृहस्पति को सम्बोधित है, इसके बाद इन्द्र को सम्बोधित एक सूक्त (ऋग्वेद ७. ९८) आता है, किन्तु इसके बाद दो सूक्त (ऋग्वेद ७. ९९–१००) विष्णु को सम्बोधित हैं, 'उरुम्' से आरम्भ

तीन ऋचाओं (ऋग्वेद ७. ९९, ४–६) को इन्द्र को भी सम्बोधित मानना चाहिये। 'तिस्रः' से आरम्भ बाद के दो सूक्त (ऋग्वेद ७. १०१–१०२) पर्जन्य को सम्बोधित हैं।

स्तौतीन्द्रं प्रथमा त्वत्र द्वितीयाद्या बृहस्पतिम्।
यज्ञ आद्येन्द्रमेवास्तौद् अन्त्या त्विन्द्राबृहस्पती ॥२६॥

यहाँ प्रथम ऋचा (ऋग्वेद ७. ९७, १) इन्द्र की, तथा द्वितीय और शेष ऋचायें (ऋग्वेद ७. ९७, २. ४–८) बृहस्पति की स्तुति करती हैं।

'यज्ञे' (ऋग्वेद ७. ९७) की प्रथम ऋचा में केवल इन्द्र की, किन्तु अन्तिम में इन्द्र और बृहस्पति दोनों की स्तुति है।

तृतीया नवमी चैव स्तौतीन्द्राब्रह्मणस्पती।
संवत्सरं तु मण्डूकान् ऐन्द्रासोमं परं तु यत् ॥ २७ ॥

तीसरी और नवीं ऋचायें (ऋग्वेद ७. ९७, ३. ९) इन्द्र और ब्रह्मणस्पति की स्तुति करती हैं। 'संवत्सरम्' (ऋग्वेद ७. १०३) में मण्डूकों की स्तुति है, किन्तु जो इसके बाद (ऋग्वेद ७. १०४) आता है वह इन्द्र-सोम को सम्बोधित है।

ऋषिर्ददर्श रक्षोघ्नं पुत्रशोकपरिप्लुतः।
हते पुत्रशते तस्मिन् सौदासैर्दुःखितस्तदा ॥ २८ ॥

जब सुदास द्वारा उसके सौ पुत्रों का वध कर दिया गया, तब अपने पुत्रों के शोक से पूर्ण और सन्तप्त होकर ऋषि ने राक्षसों का विनाश करने के लिये इस सूक्त का दर्शन किया।

७–ऋग्वेद ७. १०४ का विस्तृत विवरण।

ये पाकशंसमृक्सौम्या आग्नेयी तत उत्तरा।
एकादशी वैश्वदेवी सौम्यस्तस्याः परो तृचः ॥ २९ ॥

'ये पाकशंसम्' (ऋग्वेद ७. १०४, ९) ऋचा सोम को सम्बोधित है; उसके बाद की (१०वीं ऋचा) अग्नि को सम्बोधित है; ग्यारहवीं विश्वेदेवों को सम्बोधित है; इसके बाद जो दो ऋचायें (१२–१३वीं) आती हैं वह सोम को सम्बोधित हैं।

यदि वाहमृगाग्नेयी ऐन्द्री यो मेति तु स्मृता।
ग्राव्णी प्र या जिगातीति वि तिष्ठध्वं तु मारुती ॥ ३० ॥

'यदि वाहम्' (ऋग्वेद ७ १०४, १४) अग्नि को सम्बोधित है, जब कि 'यो मा' (ऋग्वेद ७ १०४, १६) को इन्द्र को सम्बोधित माना गया है, 'प्र या जिगाति' (ऋग्वेद ७ १०४, १७) पत्थरों को सम्बोधित है, जब कि 'वि तिष्ठध्वम्' (ऋग्वेद ७ १०४, १८) मरुतों को सम्बोधित है।

■ वर्तयेति पञ्चैन्द्र्य ऐन्द्रासोमी त्वृगुत्तमा।
ऋषिस्त्वाशिषमाशास्ते मा नो रक्ष इति त्वृचि ॥ ३१ ॥
दिवि चैव पृथिव्यां च तथा पालनमात्मनः।
उलूकयातुं जह्येतान् नानारूपान्निशाचरान् ॥ ३२ ॥

'प्र वर्तय' से आरम्भ पाँच ऋचायें (ऋग्वेद ७ १०४, १९–२२ २४) इन्द्र को सम्बोधित है, जब कि अन्तिम ऋचा इन्द्र सोम को सम्बोधित है। 'मा नो रक्षः' (ऋग्वेद ७ १०४, २३) ऋचा में ऋषि ने अपनी ओर से आकाश और पृथिवी पर रक्षित रहने का आशिष् दिया है। 'उलूकयातुम्' (ऋग्वेद ७ १०४, २२) में 'नानारूपी निशाचरों का वध करो' ऐसी स्तुति है।

पञ्चदश्यां तु सूक्तस्य अष्टम्यां चैव वारुणिः।
दुःखशोकपरीतात्मा शपते विलपन्निव ॥ ३३ ॥

इस सूक्त की पन्द्रहवीं और आठवीं ऋचा में वरुण के पुत्र (वसिष्ठ) ने उस समय शोक और दुःख से पूर्ण होकर विलाप करते हुये शाप का उच्चारण किया है।

हृते पुत्रशते तस्मिन् वसिष्ठो दुःखितस्तदा।
रक्षोभूतेन शापात्तु सुदासेनेति वै श्रुतिः ॥ ३४ ॥

उस समय वसिष्ठ अपने उन सौ पुत्रों के सुदास द्वारा वध कर दिये जाने पर दुःखित थे जो एक शाप के कारण राक्षस बन गये थे—ऐसी श्रुति है।

अष्टम मण्डल

८–कण्व और प्रगाथ की कथा

कण्वश्चैव प्रगाथश्च घोरपुत्रौ बभूवतुः।
गुरुणा तावनुज्ञाताव् ऊपतुः सहितौ वने ॥ ३५ ॥

कण्व और प्रगाथ, घोर के दो पुत्र थे। जब इनके गुरु ने आज्ञा दे दी तब से एक साथ वन में रहने लगे।

वसतोस्तु तयोस्तत्र कण्वपत्न्याः शिरः स्वपत्।
कृत्वा कनीयान्कण्वस्य उत्सङ्गे नान्वबुध्यत ॥३६॥

जब यह दोनों वहाँ रह रहे थे, तब कण्व के कनिष्ठ भ्राता (प्रगाथ) कण्व की पत्नी की गोद में सर रखकर सो रहे थे, और उठे नहीं।

शप्तुकामस्तु तं कण्वः क्रुद्धः पापाभिशङ्कया।
बोधयामास पादेन दिधक्षन्निव तेजसा ॥ ३७ ॥

पाप की शङ्का से क्रुद्ध हो कर और शाप देने की इच्छा से कण्व ने उन्हें अपने पैर से इस प्रकार जगाया मानो वह उसे अपने तेज से भस्म कर देंगे।

विदित्वा तस्य तं भावं प्रगाथः प्राञ्जलि स्थितः।
मातृत्वे च पितृत्वे च वरयामास तावुभौ ॥३८॥

उनके भाव[1] को जानकर प्रगाथ ने करबद्ध खड़े होकर उन दोनों का अपनी माता और पिता के रूप में वरण किया।

[1] तु० की० ऊपर ४ ५०, ५९।

स घौरो वाथ काण्वो वा वंशजैर्बहुभिः सह।
दशर्शान्यैश्च सहित ऋषिर्मण्डलमष्टमम् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार, घोर अथवा कण्व[1] के पुत्र के रूप में ऋषि ने अपने परिवार के अनेक सदस्यों तथा अन्य के साथ अष्टम मण्डल का दर्शन किया।

[1] तु० की० ऋग्वेद ८. १ पर सर्वानुक्रमणीः 'स घौरः सन् भ्रातुः कण्वस्य पुत्रताम् अगात्'; आर्षानुक्रमणी ८ ३ : 'प्रगाथो घौरजो मुनिः, स हि घोरस्य कण्वस्य भ्राता सन् पुत्रतां गतः।'

९—ऋग्वेद ८. १–२१ के देवता

माचिदैन्द्राणि चत्वारि अन्वस्य स्थूरमित्यृचि।
तुष्टावाङ्गिरसी नारी वसन्ती शश्वती पतिम् ॥ ४० ॥

'मा चित्' से आरम्भ चार सूक्त (ऋग्वेद ८. १–४) इन्द्र को सम्बोधित हैं : 'अन्वस्य स्थूरम्' (ऋग्वेद ८. १, ३४) ऋचा में अङ्गिरस की पुत्री शश्वती ने स्त्री के रूप में रहते हुये अपने पति की स्तुति की है।[1]

¹ तु० की० सर्वानुक्रमणी 'पत्नी चास्याङ्गिरसी शश्वती पुंस्त्वम् उपलभ्यैनं प्रीता अन्त्यया तुष्टाव।'

स्त्रियं सन्तं पुमांसं तम् आसङ्गं कृतवानृषिः ।
स्वस्य दानं स्तुहीत्यृग्भिश् चतुर्भिः परिकीर्तितम्॥४१॥

ऋषि ने उस आसङ्ग को पुनः पुरुष बना दिया¹ जो स्त्री हो गया था। 'स्तुहि' से आरम्भ चार ऋचाओं (ऋग्वेद ८. १, ३०-३३) में आसङ्ग ने स्वयं अपने ही दान का कीर्तन किया है।

¹ तु० की० ऋग्वेद ८. १ पर सर्वानुक्रमणी 'आसङ्गो यः स्त्री भूत्वा पुमान् अभूत् स मेध्यातिथये दानं दत्त्वा स्तुहि स्तुहीति चतसृभिर् आत्मानं तुष्टाव।' सायण ने ऋग्वेद ८. १, २ और ३४ पर भाष्य करते हुए आसङ्ग की कथा का वर्णन किया है।

शिक्षेत्यृग्भ्यां तु काश्यस्य विभिन्दोः परिकीर्तितम् ।
पाकस्थाम्नस्तु भौजस्य चतुर्भिर्यमिति स्तुतम् ॥

किन्तु 'शिक्ष' से आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद ८. २, ४१-४२) में काशि¹ के राजा विभिन्दु का कीर्तन है, जब कि 'यम्' से आरम्भ चार ऋचाओं (ऋग्वेद ८. ३, २१-२४) में उदार पाकस्थामन् (के दान) की स्तुति है।

¹ तु० की० ऋग्वेद ८. २ पर सर्वानुक्रमणी 'अन्त्याभ्यां मेधातिथिर् विभिन्दोर् दानं तुष्टाव।'

पौष्णौ प्रेति प्रगाथौ द्वौ मन्यते शाकटायनः ।
ऐन्द्रमेवाथ पूर्वं तु गालवः पौष्णमुत्तरम् ॥ ४३ ॥

'प्र' से आरम्भ चार प्रगाथ ऋचायें (ऋग्वेद ८. ४, १५-१८) शाकटायन के विचार से पूषन् को सम्बोधित हैं, फिर भी गालव के विचार से प्रथम दो (१५-१६) केवल इन्द्र को और बाद की दो (१७-१८) पूषन् को सम्बोधित हैं।

ऐन्द्राणामिह सूक्तानाम् उत्तमस्योत्तमे तृचे ।
दानं राज्ञः कुरुङ्गस्य स्थूरं राध इति स्तुतम् ॥ ४४ ॥

यहाँ इन्द्र सूक्तों में से अन्तिम की 'स्थूर राध' (ऋग्वेद ८. ४, १९) से आरम्भ अन्त की तीन ऋचाओं (१९-२१) में राजा कुरुङ्ग के दान की स्तुति है।

१०-ऋग्वेद ८. ५-१८ के देवता

दूरादित्याश्विने सूक्ते सप्तत्रिंशत्तमी यथा।
इत्यर्धर्चौ द्वृचश्चान्त्यः कशोर्दानस्तुतिः स्मृता ॥ ४५ ॥

'दूरात्' (ऋग्वेद ८. ५) से आरम्भ अश्विनों को सम्बोधित सूक्त में सैंतीसवीं ऋचा है 'यथा' से आरम्भ अर्ध-ऋचा और अन्तिम दो ऋचाओं (८. ५, ३८–३९) को कशु[1] की दानस्तुति माना गया है।

[1] तु० की० ऋग्वेद ८. ५ पर सर्वानुक्रमणी, 'अन्त्या' पश्चार्धर्चाश् चैद्यस्य कशोर् दानस्तुतिः।'

महानैन्द्रं प्रव्रवत्याम् अग्निं वैश्वानरं स्तुतम्।
मन्यते शाकपूणिस्तु भार्म्यश्वश्चैव मुद्गलः ॥ ४६ ॥

'महान्' (ऋग्वेद ८. ६) इन्द्र को सम्बोधित है : जिस ऋचा में 'प्रव्र' (ऋग्वेद ८. ६, ३०) आता है उसमें शाकपूणि तथा भृम्यश्व के पुत्र मुद्गल के विचार से वैश्वानर की स्तुति है।

तृचे तु शतमित्यस्मिन् दानं तैरिन्दिरं स्मृतम्।
परं तु मारुतं प्रेति आ नस्त्रीण्याश्विनानि च ॥ ४७ ॥

किन्तु 'शतम्' से आरम्भ तीन ऋचाओं (ऋग्वेद ८. ६. ४६–४८) में तिरिन्दिर के दान की स्तुति है। 'प्र' (ऋग्वेद ८. ७) से आरम्भ बाद का सूक्त मरुतों को सम्बोधित है, और 'आ नः' से आरम्भ तीन सूक्त (ऋग्वेद ८. ८–१०) अश्विनों को सम्बोधित हैं।

त्वमाग्नेयं य इन्द्रेति षळैन्द्राण्युत्तमस्य तु।
उपोत्तमायामर्धर्चे देवो वास्तोष्पति स्तुतः ॥ ४८ ॥

'त्वम्' (ऋग्वेद ८. ११) अग्नि को सम्बोधित है। 'य इन्द्र' (ऋग्वेद ८. १२, १) से आरम्भ छः सूक्त (ऋग्वेद ८ १२–१७) इन्द्र को सम्बोधित हैं, किन्तु इस अन्तिम की अन्तिम से पहले की एक अर्ध-ऋचा (ऋग्वेद ८. १७, १४) में वास्तोष्पति देवता की स्तुति है।

इदमादित्यदेवत्यं तिसृभिस्त्वदिति स्तुता।
पथ्या चतुर्थ्यां सप्तम्या उतेत्याश्विन्यृगष्टमी ॥ ४९ ॥

'इदम्' (ऋग्वेद ८ १८) के देवता आदित्य हैं इसकी छठीं, चौथी, और सातवीं, इन तीन ऋचाओं में अदिति की स्तुति है, 'उत' से आरम्भ आठवीं ऋचा आश्विनों को सम्बोधित है।

११-ऋग्वेद ८ १९ त्रसदस्यु के दानों की स्तुति

स्तुताः शमिति पच्छस्तु अग्निसूर्यानिलास्त्रयः ।
वरुणार्यममित्राणां प्रगाथो यमिति स्तुतिः ॥ ५० ॥
आग्नेये स्तुतो राजर्षिस् त्रसदस्योरदादिति ।
पञ्चाशतं वधूनां च गवां तिस्रश्च सप्ततीः ॥ ५१ ॥
अश्वोष्ट्राणां तथैवासौ वासांसि विविधानि च ।
रत्नानि वृषभं श्यावं तासामग्रेसरं पतिम् ॥ ५२ ॥

'शम्' (ऋग्वेद ८ १८, ९) में प्रत्येक पाद में क्रमश अग्नि, सूर्य, और अनिल, इन तीन की स्तुति है। 'यम' से आरम्भ दो प्रगाथ ऋचाओं (ऋग्वेद ८. १९, ३४–३५) में वरुण, अर्यमन् और मित्र की, अग्नि को सम्बोधित सूक्त में स्तुति है। 'अदात्' से आरम्भ दो ऋचायें (ऋग्वेद ८ १९, ३६–३७) राजर्षि त्रसदस्यु की स्तुति करती है।

इन्होंने पचास वधुयें[1], और सत्तर गायों, अश्वों, तथा ऊँटों के तीन यूथ, और विभिन्न प्रकार के वस्त्र, रत्न भूरे बैल और इन यूथों को अग्रसर करने वाला एक अधिपति भी दिया।[2]

[1] तु० की० ऋग्वेद ८ १९ ३६ 'अदान् पञ्चाशत त्रसदस्युर् वधूनाम्।'

[2] देखिये ऋग्वेद ८ १९ ३७ 'तिसृणां सप्ततीनां श्याव प्रणेता दियाना पति', तु० की० ऋग्वेद ८ ४६, २२–२३ में दानों की गणना।

कृत्वा दारानृषिर्गच्छन् इन्द्रायैतच्छशंस च ।
वयं सूक्तेन शक्रं च प्रीतस्तेन शचीपतिः ॥ ५३ ॥
ऋषे वरं वृणीष्वेति प्रहस्तमृषिरब्रवीत् ।
काकुत्स्थकन्याः पञ्चाशद् युगपद्रमये प्रभो ॥ ५४ ॥
कामतो बहुरूपत्वं यौवनं चाक्षयां रतिम् ।
शङ्खनिधिं पद्मनिधिं मद्गृहेष्वनपायिनम् ॥ ५५ ॥

विवाह करने के पश्चात् जाते हुये मार्ग में ऋषि ने इसका इन्द्र से वर्णन, और 'वयम्' (ऋग्वेद ८ २१) से शक्र की स्तुति की।

इससे प्रसन्न होकर शचीपति ने कहा : 'हे ऋषि ! वर माँगो ।' तब विनम्रतापूर्वक ऋषि ने उन्हें उत्तर दिया : 'प्रभो ! मैं ककुत्स्थ जातीय पचास कन्याओं का एक साथ ही रमण करूँ और इच्छापूर्वक अनेक रूप धारण कर सकूँ, और यौवन, अक्षय रति, शङ्खनिधि तथा पद्मनिधि, मेरे गृह मे सदैव वर्तमान रहें ।

१२–ऋषि द्वारा मांगे गये वर । सोभरि और चित्र की कथा ।

प्रासादान् विश्वकर्मासौ सौवर्णांस्त्वत्प्रसादतः ।
कुर्वीत पुष्पवाटीं च पृथक्तासां सुरद्रुमैः ॥ ५६ ॥
मा भूत्सपत्नीस्पर्धासां सर्वमस्त्विति चाब्रवीत् ।
आ गन्त मारुतं सूक्तं वयमित्यैन्द्रमुत्तरम् ॥ ५७ ॥

आपकी कृपा से प्रसिद्ध विश्वकर्मा मेरे लिये सुवर्ण के प्रासादों का, और उनमें से प्रत्येक में पृथक्-पृथक् देव-वृक्षों की पुष्प-वाटिकाओं का निर्माण करें; और इन सहपत्नियों के बीच परस्पर कोई स्पर्धा न रहे ।' और उन्होंने (इन्द्र ने) कहा : 'यह सब पूर्ण होगा ।'

'आ गन्त' (ऋग्वेद ८. २०) मरुतों को सम्बोधित एक सूक्त है । दूसरा 'वयम्' (ऋग्वेद ८. २१) इन्द्र को सम्बोधित है ।

काण्वस्य सोभरेश्चैव यजतो वंशजैः सह ।
कुरुक्षेत्रे यवाञ्चक्रुर् हवींषि विविधानि च ॥ ५८ ॥
आखवः सोऽभितुष्टाव इन्द्रं चित्रं सरस्वतीम् ।
इन्द्रो वेत्यनयर्चा स दानशक्तिं प्रकाशयन् ॥ ५९ ॥

जब कण्व-पुत्र सोभरि अपने वंश के लोगों के साथ कुरुक्षेत्र में यज्ञ कर रहे थे तब चूहों ने उनके अन्न और विविध हविष्यों का भक्षण कर लिया ।

तब 'इन्द्रो वा' (ऋग्वेद ८. २१, १७) ऋचा से सोभरि ने दान-शक्ति का प्रकाशन करते हुये इन्द्र, चित्र, और सरस्वती की स्तुति की ।

१३–सोभरि और चित्र की कथा (क्रमशः) । ऋग्वेद ८. २२–२५

आखुराजोऽभिमानाच्च प्रहर्षितमनाः स्वयम् ।
संस्तुतो देववच्चित्र ऋषये तु गवां ददौ ॥ ६० ॥

अयुतानां सहस्रं वै निजग्राह स्तुवन्नृषिः ।
ऋषिं चोवाच हृष्टात्मा नाहमर्हाम्यृषे स्तुतिम् ॥ ६१ ॥
तिर्यग्योनौ समुत्पन्नो देवता स्तोतुमर्हसि ।
तमन्त्यया पुनश्चास्तौद् ओ त्यं सूक्तेन चाश्विनौ ॥६२॥

और सब चूहों के राजा (चित्र) ने आत्मसंतुष्टि से प्रसन्न होकर स्वयं—चित्र की यहाँ देववत् स्तुति की गई है—ऋषि को अनेक प्रकार की सहस्रों गायें दीं। उनकी स्तुति करके ऋषि ने दान को ग्रहण किया। हृदय से प्रसन्न होकर उसने (चित्र ने) ऋषि को सम्बोधित किया: 'मैं पशु-योनि में उत्पन्न होने के कारण ऋषि द्वारा स्तुति के योग्य नहीं हूँ। अत आप देवताओं की स्तुति करें।' किन्तु, फिर भी, ऋषि ने अन्तिम ऋचा (ऋग्वेद ८ २१, १८) से पुनः उसकी स्तुति की। और 'ओ त्यम्' (ऋग्वेद ८. २२) से उन्होंने अश्विनों की स्तुति की।

ईळिष्वेत्येनदाग्नेयं सखाय श्चैन्द्रमुत्तरम् ।
यथा वरो सुषाम्ण इत्यू उत्तमस्त्वौषसस्तृचः ॥ ६३ ॥

'ईळिष्व' (ऋग्वेद ८ २३) अग्नि को सम्बोधित है, और 'सखाय' (ऋग्वेद ८ २४) से आरम्भ दूसरा इन्द्र को, किन्तु 'यथा वरो सुषाम्णे' से आरम्भ तीन ऋचायें (ऋग्वेद ८ २४, २८–३०) उषस् को सम्बोधित हैं।

अष्टौ तु सहितास्त्वेता देवता बिभिदुर्वलम् ।
उषाश्चेन्द्रश्च सोमश्च अग्निः सूर्यो बृहस्पतिः ॥ ६४ ॥
अङ्गिराः सरमा चैव ता वामित्युत्तरस्य तु ।
आदौ मैत्रावरुण्यस्तु नव द्वादश तूत्तराः ॥ ६५ ॥
वैश्वदेव्यो वरू राजा यच्चादादृषये वसु ।
कीर्तितं तत्तृचे त्वस्मिन्न् ऋक्षमुक्षण्यायने ॥ ६६ ॥

जिन्होंने एक साथ मिलकर वल को विदीर्ण किया था वह आठ देवता यह हैं : उषस् और इन्द्र और सोम, अग्नि, सूर्य, बृहस्पति, अङ्गिरस् और सरमा। 'ता वाम्' (ऋग्वेद ८. २५) से आरम्भ बाद के सूक्त के आरम्भ की नौ ऋचायें मित्र-वरुण को सम्बोधित हैं, किन्तु इनके बाद बारह विश्वेदेवों को सम्बोधित हैं, और राजा वरु द्वारा ऋषि को दी गई सम्पत्ति का 'ऋक्षम्

उत्तण्यायने' से आरम्भ तीन ऋचाओं (ऋग्वेद ८. २५, २२-२४) में कीर्तन है।

१४–ऋग्वेद ८. २६–३१ के देवता। ८. २९ पृथक्-कर्म-स्तुति है।

अश्विनौ ददतुः प्रीतौ तदिहोक्तं सुषामणि।
आश्विनं तु युवोर्युक्ष्व वायव्या उत्तरास्तु याः॥ ६७॥

प्रसन्न होकर अश्विनों ने सुषामन् को जो कुछ दिया उसका यहाँ वर्णन है: 'युवोः' (ऋग्वेद ८. २६) अश्विनों को सम्बोधित है। 'युक्ष्व' (ऋग्वेद ८. २६, २०–२५) तथा इसके बाद की ऋचायें वायु को सम्बोधित हैं।

यं सवर्णा मनुर्नाम लेभे पुत्रं विवस्वतः।
वैश्वदेवानि पञ्चैतान्य् अग्निरुक्थे जगाद सः॥ ६८॥

उस मनु ने, जिसे सवर्णा ने पुत्र के रूप में विवस्वत से प्राप्त किया था, अपने नामकरण के समय 'अग्निर् उक्थे' (ऋग्वेद ८. २७) से आरम्भ विश्वेदेवों को सम्बोधित पाँच सूक्तों (ऋग्वेद ८. २७–३१) का उच्चारण किया।

बभ्रुरेक इति त्वेता लिङ्गतो द्विपदा दश।
स्तूयन्ते देवता ह्यासु कर्मभिः स्वैः पृथक्पृथक्॥ ६९॥

'बभ्रुर् एकः' (ऋग्वेद ८. २९) दस लिङ्ग-युक्त द्विपद हैं, क्योंकि इनमें देवताओं की पृथक्-पृथक् उनके अपने-अपने कर्मों के आधार पर स्तुति की गई है।[1]

[1] तु० की० ऊपर ३. ४०–४२।

स्तुताः कर्मगुणैः स्वैः स्वैर् देवता यत्र तत्र तु।
पृथक्कर्मस्तुतिर्नाम वैश्वदेवं तदेव तु॥ ७०॥

जहाँ देवताओं की अपने-अपने कर्मों और गुणों के आधार पर स्तुति होती है, उसे 'पृथक्कर्म-स्तुति' कहते हैं। ऐसा सूक्त विश्वेदेवों को सम्बोधित होता है।

१५–ऋग्वेद ८. २९ और ३१ का विस्तृत विवरण।
ऋग्वेद ८. ३२–३४ के देवता।

तासां बभ्रुरिति त्वाद्या सौम्याग्नेयी त्वृगुत्तरा।
त्वाष्ट्री चैन्द्री च रौद्री च पौष्णी वैष्णव्यृगाश्विनी॥७१॥

नवमी मैत्रावरुणी ऋग्दशम्यत्रिसंस्तवः ।
यजमानप्रसङ्गाच्च य इज्यात्र प्रकीर्तिता ॥७२॥

इन द्विपदों में से 'प्रभु.' (ऋग्वेद ८ २९, १) से आरम्भ प्रथम सोम को सम्बोधित है, किन्तु इसके बाद की ऋचा (२) अग्नि को सम्बोधित है, इसके बाद एक त्वष्टा को (३), और इन्द्र को (४), और रुद्र को (५), पूषन् को (६), विष्णु को (७), और एक (८) अश्विनों को सम्बोधित है, नवीं ऋचा मित्र वरुण को (९) सम्बोधित है, और दसवीं में अत्रियों की स्तुति है। और 'य.' (ऋग्वेद ८. ३१) द्वारा यहाँ यजमान के सन्दर्भ में यज्ञ की स्तुति है।

यो यजाति द्वचे शक्रो यजतां पतिरीळितः ।
तस्य द्युमान् द्वचे यज्वा चतसृष्वपि मक्षितिं ॥ ७३ ॥

'यो यजाति' से आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद ८ ३१, १ २) में यज्ञ के अधिपति शक्र की स्तुति है। 'तस्य द्युमान्' से आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद ८ ३१, ३. ४), तथा 'मक्षु' से आरम्भ चार ऋचाओं (ऋग्वेद ८. ३१, १५-१८) में भी यज्ञ-कर्ता की स्तुति है।

यज्वनोरेव दंपत्योः पञ्च या दंपती ऋचः ।
आ शर्माशीरैतु पौष्ण्यौ परे मित्रोऽर्यमा यथा ॥ ७४ ॥

वरुणश्च स्तुतास्त्वत्र आदित्या अग्निमग्नये ।
सूक्तानि प्र कृतानीति त्रीण्यैन्द्राणि पराण्यतः ॥ ७५ ॥

'या दंपती' से आरम्भ पाँच ऋचाओं (ऋग्वेद ८. ३१, ५-९) में यज्ञ-कर्ता के रूप में पति और पत्नी की स्तुति है। 'आ शर्म' (ऋग्वेद ८. ३१, १०) आशीस है। 'ऐतु' से आरम्भ बाद की दो ऋचायें (ऋग्वेद ८. ३८, ११-१२) पूषन् को सम्बोधित हैं, जब कि 'यथा' (ऋग्वेद ८. ३१, १३) में मित्र, अर्यमन्, और वरुण, तथा आदित्यों की स्तुति है। 'अग्निम्' (ऋग्वेद ८. ३१, १४) अग्नि को सम्बोधित है।

इसके बाद 'प्र कृतानि' से आरम्भ बाद के तीन सूक्त (ऋग्वेद ८. ३२-३४) इन्द्र को सम्बोधित हैं।

१६–इन्द्र और व्यंस की बहन। ऋग्वेद ८. ३५–४६ के देवता

अध इत्यत्र कन्या तं स्त्रीलिङ्गेनेन्द्रमब्रवीत्।
स हि तां कामयामास दानवीं पाकशासनः ॥ ७६ ॥
ज्येष्ठां स्वसारं व्यंसस्य तस्यैव युवकाम्यया।
अग्निरेत्याश्विनं सूक्तम् ऐन्द्रसूक्ते परे ततः ॥ ७७ ॥

'अधः' (ऋग्वेद ८. ३३, १९) में एक कन्या ने स्त्रीलिङ्ग से युक्त इन्द्र को सम्बोधित किया है; क्योंकि पाकशासन (इन्द्र) ने अपने युवा-काम के कारण व्यंस की ज्येष्ठ बहन, उस दानव कन्या के साथ प्रेम किया था। 'अग्निना' (ऋग्वेद ८. ३५) अश्विनों को सम्बोधित सूक्त है। इसके बाद इन्द्र को सम्बोधित दो सूक्त (ऋग्वेद ८. ३६–३७) आते हैं।

ऐन्द्राग्नं परमाग्नेयम् ऐन्द्राग्नं वारुणे परे।
उत्तरे वारुणे त्वन्त्य आ वामित्याश्विनस्तृचः ॥ ७८ ॥

इसके बाद का सूक्त (ऋग्वेद ८. ३८) इन्द्र-अग्नि को, फिर एक (ऋग्वेद ८. ३९) अग्नि को, एक (ऋग्वेद ८. ४०) इन्द्र-अग्नि को सम्बोधित है; बाद के दो (ऋग्वेद ८. ४१–४२) वरुण को सम्बोधित हैं; किन्तु बाद के वरुण सूक्त (ऋग्वेद ८. ४२) की 'आ वाम्' से आरम्भ अन्तिम तीन ऋचायें अश्विनों को सम्बोधित हैं।

सूक्ते इमे समाग्नेये ताभ्यामैन्द्रे ततः परे।
वशायाश्व्याय यत्प्रादात् कानीतस्तु पृथुश्रवाः ॥ ७९ ॥
तदत्र संस्तुतं दानम् आ स इत्येवमादिभिः।
आ नः प्रगाथौ वायव्यौ सूक्तस्योपोत्तमा च या ॥ ८० ॥

'इमे' (ऋग्वेद ८. ४३), और 'सम्–' (ऋग्वेद ८. ४४), यह दो सूक्त अग्नि को सम्बोधित हैं; इनके बाद जो दो सूक्त (ऋग्वेद ८. ४५–४६) आते हैं वह इन्द्र को सम्बोधित हैं।

अब, कानीत पृथुश्रवस् ने वश अश्व्य को जो कुछ दान में दिया था उसकी 'आ स' (ऋग्वेद ८. ४६, २१–२४) से आरम्भ ऋचाओं में स्तुति की गई है। 'आ नः' से आरम्भ प्रगाथ ऋचायें (ऋग्वेद ८. ४६, २५–२८), तथा इस सूक्त की अन्तिम के पूर्व की एक ऋचा (ऋग्वेद ८. ४६, ३२) भी वायु को सम्बोधित है।

१७–ऋग्वेद ८ ४७–५६ के देवता

मित्रार्यमाणौ मरुतः सुनीथो घ इत्ये स्तुताः ।
द्विचत्वारिंशकात्प्रीतस् त्रिशोकाय पुरंदरः ॥ ८१ ॥
गिरिं निकृत्य वज्रेण गा ददावसुरैर्हृताः ।
यः कृन्तदिति चैतस्याम् ऋषिस्तु स्वयमब्रवीत् ॥ ८२ ॥

'सुनीथो घ' से आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद ८. ४६, ४–५) में मित्र अर्यमन् और मरुतों की स्तुति है।

बयालीस ऋचाओं से युक्त सूक्त (ऋग्वेद ८ ४५) से प्रसन्न होकर पुरंदर (इन्द्र) ने अपने वज्र से पर्वत को तोड़ते हुये असुरों द्वारा अपहृत गायें त्रिशोक को दे दीं। स्वयं इस ऋषि ने ही इसका 'य कृन्तत्' (ऋग्वेद ८ ४५ ३०) ऋचा में वर्णन किया है।

स्तुता नवम्या त्वदितिर् महीत्यादित्यदैवते ।
अन्त्याः पञ्चोपसेऽपि स्युः सौम्यं स्वादोरिति स्मृतम् ॥

'महि' सूक्त (ऋग्वेद ८ ४७) के जिसके देवता आदित्य हैं, नवीं ऋचा में अदिति की स्तुति है। अन्तिम पाँच ऋचाओं (ऋग्वेद ८ ४७, १४–१८) को उषस को भी सम्बोधित मानना चाहिये। 'स्वादो' (ऋग्वेद ८ ४८) को सोम को सम्बोधित माना गया है।

पराण्यष्टौ तु सूक्तानि ऋषीणां तिग्मतेजसाम् ।
ऐन्द्राण्यत्र तु षड्विंशः प्रगाथो बहुदैवतः ॥ ८४ ॥

अब बाद के अति तेजस्वी ऋषियों के आठ सूक्त (ऋग्वेद ८ ४९–५६) इन्द्र को सम्बोधित हैं, किन्तु यहाँ छब्बीसवाँ प्रगाथ द्विऋचायें (ऋग्वेद ८ ५४, ३–४) अनेक देवताओं को सम्बोधित हैं।

१८–ऋग्वेद ८ ६०–६७ के देवता।

ऋगन्त्याग्नेरचेत्यग्निः सूर्यमन्त्यं पदं जगौ ।
प्रस्कण्वश्च पृषध्रस्य मादायद्वसु किंचन ॥८५॥
तद्भूरीदिति सूक्ताभ्याम् अखिलं त्विह संस्तुतम् ।
ऐन्द्राण्युभयमित्यत्र पञ्चाग्नेयात्पराणि तु ॥

निपातमाह देवानां दाता म इति भागुरिः ॥८६॥
ऋचं यास्कस्तृचं त्वेतं मन्यते वैश्वदेवतम् ।
आदित्यदैवतं सूक्तं त्यान्न्वित्यत्र परं तु यत् ॥८७॥

अन्तिम 'अचेत्य् अग्निः' (ऋग्वेद ८. ५६, ५) ऋचा अग्नि को सम्बोधित है, जिसके अन्तिम पाद में सूर्य का गायन है। प्रस्कण्व ने जो कुछ भी धन पृषध्र को दिया उस सब की 'भूरीत्' से आरम्भ दो सूक्तों (ऋग्वेद ८. ५५-५६) में स्तुति है।

अब अग्नि को सम्बोधित एक सूक्त (ऋग्वेद ८. ६०) के बाद यहाँ 'उभयम्' से आरम्भ इन्द्र को सम्बोधित छः सूक्त (ऋग्वेद ८. ६१-६६) आते हैं।

भागुरि का कथन है कि 'दाता मे' (ऋग्वेद ८. ६५, १०) में देवताओं का नैपातिक उल्लेख है; फिर भी, यास्क ने इन तीन ऋचाओं (ऋग्वेद ८. ६५, १०-१२) को विश्वदेवों को सम्बोधित माना है। किन्तु यहाँ अब जो 'त्यान् नु' (ऋग्वेद ८. ६७) से आरम्भ सूक्त आता है उसके देवता आदित्य-गण हैं।

धीवराः सहसा मीनान् दृष्ट्वा सारस्वते जले ।
जालं प्रक्षिप्य तान्बद्ध्वा अक्षिपन्सलिलात्स्थलम् ॥८८॥

धीवरों ने सरस्वती के जल में मछलियाँ देखकर उसमें जाल डाला और मछलियों को पकड़कर उन्हें जल के बाहर सूखी भूमि पर फेंक दिया।

शरीरपातभीतास्ते तुष्टुवुश्चादितेः सुतान् ।
मुमुचुस्तांस्ततस्ते च प्रसन्नास्तान् समूदिरे ॥ ८९ ॥
धीवराः क्षुद्भयं मा वो भूत् स्वर्गं प्राप्स्यथेति च ।
उतेति माता तत्रैषां तृचेनाभिष्टुतादितिः ॥ ९० ॥

और उन्होंने (मछलियों ने) शरीर के गिरने से भयभीत होकर अदिति के पुत्रों की स्तुति की। तब आदित्यों ने उन्हें मुक्त कर दिया और धीवरों से प्रसन्नतापूर्वक यह कहते हुये वार्तालाप किया कि 'हे धीवरों ! क्षुधा से भयभीत मत होओ, तुम लोग स्वर्ग प्राप्त करोगे'।

'तत्र' से आरम्भ सूक्त (ऋग्वेद ८. ६७) में 'उत' से आरम्भ तीन ऋचाओं (ऋग्वेद ८. ६७, १०-१२) में इन आदित्यों की माता अदिति की स्तुति है।

१९-ऋग्वेद ८. ६८-७५ के देवता

मातृत्वादभिसंबन्धात् स्तूयेतैषां स्तुतौ स्तुतौ ।
ऐन्द्राण्या त्वा रथं त्रीणि स्तौत्यृतूनुप मेति पट् ॥९१॥

यतः यह उनकी माता है अतः इस सम्बन्ध के कारण उनसे (आदित्यों से) सम्बद्ध प्रत्येक स्तुति में इनकी (अदिति की) भी स्तुति हो सकती है। 'आ त्वा रथम्' से आरम्भ तीन सूक्त (ऋग्वेद ८. ६८-७०) इन्द्र को सम्बोधित हैं; 'उप मा पट्' ऋचा (ऋग्वेद ८. ६८, १४) में ऋतुओं की स्तुति है।

ऋक्षाश्वमेधयोरत्र पञ्च दानस्तुतिः पराः ।
अपादिन्द्रस्य चाग्नेश्च विश्वेषां चैव संस्तवः ॥ ९२ ॥
द्वृचस्य प्रथमोऽर्धर्चः शेषो वरुणदैवतः ।
त्वमाग्नेयेऽथवा सूक्तम् उत्तरं हविषां स्तुतिः ॥ ९३ ॥
पयः पश्वोषधीनां च तथारूपं हि दृश्यते ।
उदित्याश्विनमाग्नेये परे सूक्ते चिशोविशः ॥ ९४ ॥

इस सूक्त की पाँच बाद की ऋचायें (ऋग्वेद ८ ६८, १५-१९) ऋक्ष और अश्वमेध की दान-स्तुतियाँ हैं। 'अपात्' से आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद ८. ६९, ११-१२) की प्रथम अर्ध-ऋचा में इन्द्र, अग्नि, और विश्वेदेवों की स्तुति है; इन ऋचाओं के शेषांश के देवता वरुण हैं। 'त्वम्' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद ८ ७१-७२) अग्नि को सम्बोधित हैं; अथवा यह बाद का सूक्त (७२ वाँ) हवि, दुग्ध, पशु और ओषधि की स्तुति करता है; क्योंकि इसकी ऐसी ही प्रकृति दृष्टिगत होती है। 'उत्' (ऋग्वेद ८. ७३) अश्विनों को सम्बोधित है। 'विशो-विशः' से आरम्भ दो बाद के सूक्त (ऋग्वेद ८. ७४-७५) अग्नि को सम्बोधित है।

ऋग्भ्यामहमिति द्वाभ्यां स्तौत्यात्मानमृषिः स्वयम् ।
आत्मानमात्मना स्तुत्वा स्तौति दानं श्रुतर्वणः ॥९५॥
आत्मादानाभिसंबन्धात् परुष्णीं च महानदीम् ।
परया परुष्णीमिन्द्रं त्रिभिः सूक्तैरिमं न्विति ॥९६॥

'अहम्' से आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद ८. ७४, १३-१४) में ऋषि ने अपनी स्तुति की है।

अपनी स्तुति करके वह श्रुतर्वन् के दान की, और उसने जो कुछ पाया है उसके सन्दर्भ में महान नदी परुष्णी की स्तुति करता है।

बाद की ऋचा (ऋग्वेद ८. ७४, १५) से परुष्णी की स्तुति करता है और 'इमं नु' से आरम्भ तीन सूक्तों (ऋग्वेद ८. ७६–७८) में इन्द्र की स्तुति है।

अयं कृत्नुरिदं सौम्यं त्रीण्यैन्द्राणि पराण्यतः ।
नहीनि तेषां प्रथमे वैश्वदेव्यृगवीवृधत् ॥ ९७ ॥

'अयं कृत्नुः' (ऋग्वेद ८. ७९) सोम को सम्बोधित है। इसके बाद 'नहि' से आरम्भ तीन सूक्त (ऋग्वेद ८. ८०–८२) इन्द्र को सम्बोधित हैं। इनमें से प्रथम की 'अवीवृधत्' से आरम्भ ऋचा (१०वीं) विश्वेदेवों को सम्बोधित है।

देवानामिति देवानां प्रेष्ठमाग्नेयमुत्तरम् ।
त्रीण्याश्विनान्या म इति ऐन्द्राणि तमितीति च ॥ ९८ ॥

'देवानाम्' (ऋग्वेद ८. ८३) देवों को समर्पित है, इसके बाद 'प्रेष्ठम्' (ऋग्वेद ८. ८४) अग्नि को सम्बोधित है। 'आ मे' से आरम्भ तीन सूक्त (ऋग्वेद ८. ८५–८७) अश्विनों को सम्बोधित हैं, और इसी प्रकार 'तम्' से आरम्भ तीन (ऋग्वेद ८. ८८–९०) इन्द्र को सम्बोधित हैं।

२१–अपाला की कथा

अपालात्रिसुता त्वासीत् कन्या त्वग्दोषिणी पुरा ।
तामिन्द्रश्चकमे दृष्ट्वा विजने पितुराश्रमे ॥९९॥

एक समय अत्रि की पुत्री अपाला नामक कन्या हुई जो चर्मरोग से ग्रस्त थी। उसके पिता के निर्जन आश्रम में उसे देखकर इन्द्र उस पर आसक्त हो गये।

तपसा बुबुधे सा तु सर्वमिन्द्रचिकीर्षितम् ।
उदकुम्भं समादाय अपामर्थे जगाम सा ॥ १०० ॥

वह तप के द्वारा इन्द्र की समस्त इच्छाओं को जान गई। जलकुम्भ लेकर वह पानी लाने के लिये गई।

दृष्ट्वा सोममपामन्ते तुष्टावर्चा वने तु तम् ।
कन्या वारिति चैतस्याम् एषोऽर्थः कथितस्ततः ॥१०१॥

जल के किनारे सोम को देखकर उसने वन में एक ऋचा से उनकी स्तुति की। 'कन्या वा' (ऋग्वेद ८ ९१, १) में इस विषय का वर्णन है।

सा सुषाव मुखे सोमं सुत्वेन्द्रं चाजुहाव तम्।
असौ य एषीत्यनया पपाविन्द्रश्च तन्मुखात् ॥१०२॥
अपूपांश्चैव सक्तूंश्च भक्षयित्वा स तद्गृहात्।
ऋग्भिस्तुष्टाव सा चैनं जगादैनं तृचेन तु ॥१०३॥
सुलोमामनवद्याङ्गीं कुरु मां शक्र सुत्वचम्।
तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा प्रीतस्तेन पुरन्दरः ॥१०४॥

उसने सोम को अपने मुख में दबाया, और उसे दबाकर 'असौ य एषि' (ऋग्वेद ८ ९१, २) ऋचा से इन्द्र का आवाहन किया, और इन्द्र ने उसके गृह पर अपूप और सत्तु खाने के बाद उसके मुख से उसका (सोम का) पान कर लिया। और उसने (अपाला ने) उनकी एक ऋचा से स्तुति की, किन्तु तीन ऋचाओं (ऋग्वेद ८ ९१, ४–६) द्वारा उन्हें सम्बोधित करते हुये इस प्रकार कहा 'हे शक्र ! मुझे सुलोम और दोषरहित अङ्गों तथा श्रेष्ठ त्वचा वाला बनाओ।' उसके इस वचन को सुनकर पुरन्दर उससे प्रसन्न हुये।

२२–अपाला की कथा (शेषांश)। ऋग्वेद ८ ९२–९३ के देवता

रथच्छिद्रेण तामिन्द्रः शकटस्य युगस्य च।
प्रक्षिप्य निश्चकर्ष त्रिः सुत्वक् सा तु ततोऽभवत् ॥१०५॥

गाड़ी और जूये के बीच के छिद्र से उसे प्रक्षिप्त करते हुये इन्द्र ने उसे तीन बार बाहर खींचा जिससे वह सुन्दर त्वचावाली हो गई।

तस्यास्त्वगपहृता या पूर्वा सा शल्यकोऽभवत्।
उत्तरा त्वभवद्गोधा कृकलासस्त्वगुत्तमा ॥१०६॥

उसकी प्रथम अपहृत त्वचा शल्यक बन गई, किन्तु दूसरी गोधा (घड़ियाल) और अन्तिम कृकलास (नेवला)।

इतिहासमिदं सूक्तम् आहतुर्यास्कभागुरी।
कन्येति शौनकस्त्वैन्द्रं पान्तमित्युत्तरे च ये ॥१०७॥

यास्क और भागुरी इस सूक्त को एक इतिहास कहते हैं, जब कि शौनक

'कन्या' (ऋग्वेद ८. ९१) सूक्त को तथा 'पान्तम्' से आरम्भ बाद में आने वाले दो सूक्तों (ऋग्वेद ८. ९२–९३) को इन्द्र को सम्बोधित मानते हैं।

उत्तमा त्वार्भवी प्रोक्ता उत्तरस्यैतरेयके।
छान्दोमिके तृतीये तद् आर्भवं शस्यते यतः ॥१०८॥

किन्तु बाद वाले सूक्त की अन्तिम ऋचा (ऋग्वेद ८. ९३, ३४) को ऐतरेय (ब्राह्मण)[1] में ऋभुओं को सम्बोधित कहा गया है; क्योंकि छन्दोम के तृतीय दिन इस ऋचा का ऋभुओं को सम्बोधित होने के रूप में गायन किया जाता है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ५. २१, १२; तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'अन्त्यैन्द्रार्भवी'।

२३–देवों के पास से सोम के पलायन की कथा।

मारुतं गौः परं सूक्तम् आ त्वैन्द्राणि पराणि षट्।
सूक्ते द्वितीय एतेषाम् इतिहासं प्रचक्षते।
अपक्रम्य तु देवेभ्यः सोमो वृत्रभयार्दितः ॥१०९॥
नदीमंशुमतीं नाम्ना अभ्यतिष्ठत्कुरून्प्रति।
तं बृहस्पतिनैकेन अभ्ययाद्वृत्रहा सह ॥११०॥
योत्स्यमानः सुसंहृष्टैर् मरुद्भिर्विविधायुधैः।
दृष्ट्वा तानायतः सोमः स्वबलेन व्यवस्थितः ॥१११॥
मन्वानो वृत्रमायान्तं जिघांसुमरिसेनया।
व्यवस्थितं धनुष्मन्तं तमुवाच बृहस्पतिः ॥११२॥
मरुत्पतिरयं सोम एहि देवान्पुनर्विभो।
श्रुत्वा देवगुरोर्वाक्यम् अनर्थं वृत्रशङ्कया ॥११३॥
सोऽब्रवीन्नेति तं शक्रः स्वर्ग एव बलाद्बली।
इयाय देवानादाय तं पपुर्विधिवत्सुराः ॥११४॥

('गौः' से आरम्भ बाद का सूक्त (ऋग्वेद ८. ९४) मरुतों को संबोधित है; इसके बाद 'आ त्वा' से आरम्भ छः (ऋग्वेद ८. ९५–१००) इन्द्र को सम्बोधित हैं। इनमें से द्वितीय सूक्त (ऋग्वेद ८. ९६) में इन लोगों के कथनानुसार एक इतिहास (कथा) है :

'अयम्' से आरम्भ तीन ऋचाओं (ऋग्वेद ८ १००, १–३) में भृगु के पुत्र नेम ने बिना देखे ही इन्द्र की स्तुति की है।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण ६ ३६, १२।

तुष्टावेन्द्रो द्वृचेनायम् अहं पश्य च मामृषे।
स हि स्तुवन्नेम एको नेन्द्री अस्तीति चाब्रवीत् ॥११८॥

और इन्द्र ने तब ऋचाओं (ऋग्वेद ८. १००, ४–५) में कहा 'मैं यहाँ हूँ, हे ऋषि[1], मुझे देखो।'

क्योंकि (इन्द्र की) स्तुति करते समय अकेले होने के कारण नेम ने यह भी कहा था कि 'इन्द्र नहीं हैं।'

[1] तु० की० ऋग्वेद ८ १००, ४ 'अयम् अस्मि जरित पश्य माह'।

२५–ऋग्वेद ८ १०० संबन्धी विवरण। विष्णु द्वारा इन्द्र की सहायता

तदाकर्ण्येन्द्र आत्मानम् ऋग्भ्यां तुष्टाव दर्शयन्।
ऋषिस्तं दृष्ट्वा सुप्रीतो विश्वेत्ता त इति द्वृचे ॥११९॥
विविधानि च कर्माणि दानमैन्द्रं च शंसति।
मनोजवास्तु सौपर्णी समुद्रे वज्रसंस्तवः ॥१२०॥

उसे सुनकर इन्द्र ने अपने को प्रकट करते हुए दो ऋचाओं (ऋग्वेद ८ १००, ४–५) द्वारा स्वयं अपनी स्तुति की।

उनको देखकर ऋषि अत्यन्त प्रसन्न हुए और 'विश्वेत् ता ते' से आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद ८ १००, ६–७) में इन्द्र के दान और उनके विविध कर्मों की प्रशस्ति की। किन्तु 'मनोजवा' (ऋग्वेद ८ १००, ८) सुपर्ण को सम्बोधित है, जब कि 'समुद्रे' (ऋग्वेद ८ १००, ९) में वज्र की स्तुति है।

वाचं सर्वगतां देवीं स्तौति यद्वागिति द्वृचे।
त्रींल्लोकानभितप्येमान् वृत्रस्तस्थौ स्वया त्विषा ॥१२१॥

'यद् वाक् से' आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद ८ १००, १०–११) में उन्होंने दिव्य और सर्वव्यापी वाच् की स्तुति की है।

इन तीनों लोकों को त्रस्त करते हुये अपने क्रोध के कारण वृत्र अविजित रहा।

तं नाशकद्धन्तुमिन्द्रो विष्णुमभ्येत्य सोऽब्रवीत्।
वृत्रं हनिष्ये तिष्ठस्व विक्रम्याद्य ममान्तिके ॥१२२॥

इन्द्र उसका वध करने में समर्थ नहीं हो सके। विष्णु के पास जाकर उन्होंने कहा, 'मैं वृत्र का वध करना चाहता हूँ; पराक्रम से युक्त होकर आप समीप खड़े हों।

उद्यतस्यैव वज्रस्य द्यौर्ददातु ममान्तरम्।
तथेति विष्णुस्तच्चक्रे द्यौश्चास्य विवरं ददौ ॥ १२३ ॥

'द्यौस् (आकाश) मेरे उद्यत हुये वज्र को स्थान दे।' तब 'हाँ' कहते हुए विष्णु ने वैसा ही किया और द्यौस् ने उन्हें स्थान दिया।

२६—ऋग्वेद ७. १०१ के देवताओं से संबन्धित विवरण

तदेतदखिलं प्रोक्तं सखे विष्णविति त्वृचि।
मैत्रावरुण्यः सूक्ताद्याश् चतस्रस्त्वृधगित्यृचः ॥ १२४ ॥
प्रेति मित्राय पादाश्च अर्यम्णो वरुणस्य च।
यश्चतुर्थः सर्वेषाम् आदित्यानामिति स्तुतिः ॥ १२५ ॥

इन सबका 'सखे विष्णो' (ऋग्वेद ८. १००, १२) ऋचा में वर्णन है। किन्तु 'ऋधक्' से आरम्भ सूक्त की प्रथम चार ऋचायें (ऋग्वेद ८. १०१, १-४) मित्र-वरुण को सम्बोधित हैं, और 'प्र' से आरम्भ ऋचा (ऋग्वेद ८. १०१, ५) के तीन पाद मित्र, अर्यमन्, और वरुण[1] को, तथा चतुर्थ पाद समस्त आदित्यों को सम्बोधित है: यहाँ ऐसी स्तुति है।

[1] सर्वानुक्रमणी के अनुसार केवल मित्र और वरुण को सम्बोधित।

परा त्वादित्यदेवत्या आ म इत्यश्विनो द्वृचः।
वायव्ये सौर्ये उषस्या प्रभा या चन्द्रसूर्ययोः ॥ १२६ ॥

किन्तु बाद की ऋचा (ऋग्वेद ८. १०१, ६) के देवता आदित्यगण हैं। 'आ मे' से आरम्भ दो ऋचायें (ऋग्वेद ८. १०१, ७-८) अश्विनों को सम्बोधित हैं, इसके बाद दो (९-१०) वायु को, दो (११-१२) सूर्य को, एक (१३) उषस् को सम्बोधित है, अथवा ऋषि यहाँ सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश की स्तुति करता है।

पावमानी प्रजा हेति मातेत्यृग्भ्यां तु गौ स्तुता।
त्वमग्ने बृहदाग्नेये परोऽग्निस्त्वृचि संस्तुतः ॥१२७॥

मरुद्भिः सह रुद्रैश्च आग्ने याहीति मध्यमः।
प्रजा हेत्यपि वार्धर्चे प्रथमेऽग्निरिहोच्यते ॥१२८॥
पादे तृतीय आदित्यस् तुरीये मध्यम स्तुतः।
रहस्ये ब्राह्मणेऽप्येवं व्याख्यतं ह्यैतरेयके ॥१२९॥

'प्रजा ह' (ऋग्वेद ८. १०१, १४) पवमान को सम्बोधित है, जब कि 'माता' से आरम्भ दो ऋचाओं (१५–१६) में गाय की स्तुति है। 'त्वम् अग्ने बृहत्' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद ८ १०२–१०३) अग्नि को सम्बोधित हैं। किन्तु इन बाद के सूक्त की एक ऋचा, 'अग्ने याहि' (ऋग्वेद ८ १०३, १४) मे मरुतों और रुद्रों के साथ मध्यम अग्नि की स्तुति है।

अथवा 'प्रजा ह' (ऋग्वेद ८ १०१, १४) की प्रथम अर्ध ऋचा में यहाँ अग्नि का नाम है, तथा तृतीय पाद में सूर्य और चतुर्थ में मध्यम अग्नि की स्तुति है क्योंकि ऐतरेय[1] में इसकी ऐसी ही व्याख्या है।

[1] अर्थात् ऐतरेय आरण्यक २ १।

नवम मण्डल

२७–ऋग्वेद ९. १–८६ के देवता

पवमान स्तुतः सोमो नवमे त्विह मण्डले।
पवमानवदाप्र्यस्तु समिद्ध इति संस्तुताः ॥१३०॥

अब यहाँ नवम मण्डल[1] मे सोम पवमान की स्तुति है। 'समिद्ध' (ऋग्वेद ९ ५) मे पवमान की ही भाँति आप्री देवों की स्तुति है।

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी 'नवम मण्डल पवमान सौम्यम्।'

अग्न आयूंषीति चासु तिसृष्वग्निर्निपातभाक्।
अविता न इति त्वस्मिन्स् तृचे पूष्णा सह स्तुतः ॥१३१॥

और 'अग्न आयूंषि' से आरम्भ तीन ऋचाओं (ऋग्वेद ९. ६६, १९–२१) मे अग्नि निपातभाज् हैं, जब कि 'अविता न' से आरम्भ तीन ऋचाओं (ऋग्वेद ९ ६७, १०–१२) में उनकी (पवमान की) पूषन् के साथ स्तुति है।

आग्नेय्यौ द्वे ऋचावत्र यत्त इत्युत्तरे ततः।
उभाभ्यामिति सावित्री आग्निसावित्र्युत्तरा ॥१३२॥

फिर इस सूक्त में 'यत् ते' से आरम्भ दो बाद की ऋचायें (ऋग्वेद ९

६७, २३-२४) अग्नि को सम्बोधित हैं; 'उभाभ्याम्' (ऋग्वेद ९. ६७, २५) सवितृ को सम्बोधित है और इसके बाद की ऋचा (२६) अग्नि तथा सवितृ को।[1]

[1] सर्वानुक्रमणी के अनुसार २५ वीं ऋचा के देवता अग्नि अथवा सवितृ, और २६ वीं के अग्नि अथवा अग्नि और सवितृ हैं।

पुनन्तु मां वैश्वदेवी आग्नेयी त्वृगुप प्रियम्।
उत्तरे च य इत्येते स्वाध्यायाध्येतृसंस्तवः ॥१२३॥

'पुनन्तु मा' (ऋग्वेद ९. ६७, २७) विश्वेदेवों को सम्बोधित है, जब कि 'उप प्रियम्' (ऋग्वेद ९. ६७, २९) अग्नि को सम्बोधित है, और 'यः' से आरम्भ दो बाद की ऋचाओं (ऋग्वेद ९. ६७, ३१-३२) में स्वाध्यायाध्येतृ[1] की स्तुति है।

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी 'द्वे पावमान्य्-अध्येतृ स्तुती।'

सूक्ते निरुक्ते स्रक्वेऽग्नी रक्षोहा धर्मसंस्तवः।
सूर्यवच्चात्मवच्चापि पवित्रमिति चोच्यते ॥१२४॥

'स्रक्वे' (ऋग्वेद ९. ७३) सूक्त को निरुक्त में रक्षोहन्[1] अग्नि को सम्बोधित बताया गया है; और 'पवित्रम्' (ऋग्वेद ९. ८३) को सूर्य तथा आत्मा को व्यक्त करने वाले के रूप में धर्म की स्तुति करनेवाला कहा गया है।

[1] ऋग्वेद ९. ७३, ५ पर भाष्य करते हुये सायण ने 'अप धमन्ति'''दहन्त अस्त्रिक्नीम्' को 'राक्षसम्'''अपघ्नन्ति' के रूप में व्याख्या की है।

२८—ऋग्वेद ९. ८७. ९६. ११२, के देवता

आर्भवस्तु भवेत्पाद ऋभुर्धीर् इति स्मृतः।
निपातैस्तु त्रिभिः पादैस् त्रयो देवा इहोदिताः ॥१२५॥
ब्रह्मा देवानां तिस्रोक्तास् त्रिभिस्त्वेतैर्द्वृचैर्द्वृचैः।
सूर्यवच्चात्मवच्चापि स्तूयते सोम एव वा ॥१२६॥

ऋभुर् धीर.' (ऋग्वेद ९. ८७, ३) पाद को ऋभुओं को सम्बोधित मानना चाहिये। यहाँ[1] तीन पादों में तीन देवताओं का नैपातिक उल्लेख है। 'ब्रह्मा देवानाम्' (ऋग्वेद ९. ९६, ६) से आरम्भ दो-दो (शब्दों)[1] के तीन पादों में तीन देवताओं का उल्लेख है; अथवा यहाँ सूर्य और आत्मा को व्यक्त करने वाले के रूप में सोम की ही स्तुति है।

[1] अर्थात् ऋग्वेद ९. ९६, ६।

[२] ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ प्रत्येक पाद में दो-दो शब्दों से तात्पर्य है, जैसे 'ब्रह्मा देवानाम्', 'पदवी कवीनाम्', ऋषिर् विप्राणाम्', 'महिषो मृगाणाम्', 'श्येनो गृध्राणाम्', 'स्वधितिर् वनानाम्'।

अनावृष्ट्यां तु वर्तन्त्यां पप्रच्छर्षीञ्छचीपतिः ।
काले दुर्गे महत्यस्मिन् कर्मणा केन जीवथ ॥ १३७ ॥

अनावृष्टि के समय शचीपति ने ऋषियों से पूछा, 'इस महान संकट के समय तुम किस कर्म से जीवित हो ?'[१]

[१] तु० की० निरुक्त ६. ५ 'इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ, दुर्भिक्षे केन जीवतीति, ऐसा एक प्रत्युत्तर।

शकटं शाकिनी गावः कृषिरस्यन्दनं वनम् ।
समुद्रः पर्वतो राजा एवं जीवामहे वयम् ॥१३८॥

'गाड़ी, खेत, पशु, कृषि, न बहनेवाले जल, वन, समुद्र, पर्वत, राजा,—इन माध्यमों से हम जीवित हैं।'

स्तुवन्नेव शशांसास्य ऋषिराङ्गिरसः शिशुः ।
नानानीयेन सूक्तेन ऋषीणामेव संनिधौ ॥१३९॥

इन्द्र की स्तुति करते हुये अङ्गिरस् के पुत्र शिशु ने अन्य ऋषियों की उपस्थिति में 'नानानम्' (ऋग्वेद ९. ११२) सूक्त द्वारा उनसे यह बताया।

२९–इन्द्र और ऋषि-गण। तप का माहात्म्य।

तानिन्द्रस्त्वाह सर्वांस्तु तपध्वं सुमहत्तपः ।
न ह्यृते तपसः शक्यम् इदं कृच्छ्रं व्यपोहितुम् ॥१४०॥

उन सबसे इन्द्र ने कहा : 'आप सब महान तप करें क्योंकि बिना तप के इस कष्ट का निवारण नहीं किया जा सकता।'

अथ ते वै तपस्तेपुः सर्वे स्वर्गजिगीषवः ।
ततस्ते तपसोग्रेण पावमानीर्ऋचोऽब्रुवन् ॥१४१॥

स्वर्ग की आकांक्षा रखनेवाले उन सब ने तप किया। तब उग्र तप के परिणाम स्वरूप उन लोगों ने (सोम) पवमान से सम्बन्धित ऋचाओं का उच्चारण किया।

अनसूयुरधीयानः शुश्रूषुस्तपसान्वितः ।
दश पूर्वापरान् वंश्यान् पुनात्यात्मानमेव च ॥१४२॥

जो ईर्ष्यालु नहीं है, जो अध्यवसायी, सेवी और तप करनेवाला है वह अपने दस पूर्वजों और वंशजों को तथा अपने को भी पवित्र कर देता है ।

पापं यच्चाकरोत्किंचिन् मनोवाग्देहभोजनैः ।
पूतः स तस्मात्सर्वस्मात् स्वाध्यायफलमश्नुते ॥१४३॥

और मन, वाणी, शरीर, और भोजन से उसने जो भी किया होता है—उस सबसे पवित्र होकर वह स्वाध्याय का फल प्राप्त करता है ।

पावमान्यः परं ब्रह्म शुक्रं ज्योतिः सनातनम् ।
गायत्र्योऽन्तेऽत्र यश्चासां प्राणानायम्य तन्मनाः ॥१४४॥
पावमानं पितॄन्देवान् ध्यायेद्यश्च सरस्वतीम् ।
पितॄंस्तस्योपवर्तेत क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥१४५॥

पावमानी गायत्रियाँ[1] ही उज्ज्वल और सनातन ज्योतिरूप[2] परमब्रह्म हैं । जो अपने अन्त समय में प्राणायाम[3] करते हुये इनका ध्यान करता है और जो पावमान, पितरों, देवताओं और सरस्वती[4] का ध्यान करता है—उसके पितरों के समीप दूध, घृत, मधु, और जल की धारा बहती है ।

[1] तु० की० ऋग्विधान ३. १, १ : 'स्नादिष्ठयेति गायत्रीः पावमानीर् जपेद् द्विजः'; तु० की० निरुक्त ५ २, ३ ।

[2] तु० की० ऋग्वेद ९. ११३. ६-७ : 'यत्र ब्रह्मा'''यत्र ज्योतिर् अजस्रम्' ।

[3] तु० की० ऋग्विधान ३. ३, ५ : 'प्राणान् आयम्य च ध्यायेद् अन्ते देवान् पितॄन् ऋषीन्'; तु० की० ३. ४, २-३ भी ।

[4] तु० की० ऋग्विधान ३ ३, ६ : 'सरस्वतीं चार्चयीत पयोऽम्बुमधुसर्पिषा'; और ३. ४. ३ : 'अधुर्य्यं च जपेद् दत्त पितृभ्यः परम मधु ।'

एतत्सूक्तशतं सौम्यं मण्डलं सचतुर्दशम् ।
पावमानमिति ख्यातम् अनुवाकास्तु सप्त वै ॥१४६॥

सोम को सम्बोधित एक सौ चौदह सूक्तों वाले इस मण्डल को पवमान कहा गया है, और इसमें सात अनुवाक हैं ।

दशम मण्डल

३०—ऋग्वेद १०. १-८ के देवता। त्रिशिरस् और इन्द्र।

सप्ताग्नेयानि सूक्तानि ददर्शाग्र इति त्रितः।
प्र केतुनेति त्वाष्ट्रस्तु त्रिशिराः सूक्तमुत्तरम् ॥१४७॥

त्रित ने 'अग्ने' से आरम्भ अग्नि को सम्बोधित सात सूक्तों (ऋग्वेद १०. १–७) का दर्शन किया, किन्तु त्वष्टा के पुत्र त्रिशिरस् ने 'प्र केतुना' (ऋग्वेद १० ८) से आरम्भ बाद के सूक्त का।

ऋचस्त्वस्य षळाग्नेय्यस् तृचस्त्वस्येति यः परः।
तेनेन्द्रमभितुष्टाव स्वप्नान्त इति नः श्रुतिः ॥१४८॥

इस सूक्त की छ ऋचायें (ऋग्वेद १० ८, १–६) अग्नि को सम्बोधित हैं, जब कि 'अस्य' से आरम्भ बाद की तीन ऋचाओं (७–९) से इन्होंने एक स्वप्न के अन्त में इन्द्र की स्तुति की है—ऐसी हमारी श्रुति है।

अभवत्स हि देवानां पुरोधाः प्रियकाम्यया।
असुराणां स्वसुः पुत्रस् त्रिशिरा विश्वरूपधृक् ॥१४९॥

असुरों की एक बहन के पुत्र होने के कारण विश्वरूप धारण कर सकने वाले त्रिशिरस् असुरों का लाभ चाहने की इच्छा से देवों के पुरोहित बन गये।

तमृषिं प्रहितं त्विन्द्रो देवेषु बुबुधेऽसुरैः।
सोऽस्य वज्रेण तान्याशु शिरांसि त्रीण्यथाछिदत् ॥

इन्द्र यह जान गये कि ऋषि (त्रिशिरस्) को असुरों ने ही देवों के बीच भेजा है। तब उन्होंने शीघ्रतापूर्वक उसके तीन शिरों को अपने वज्र से काट कर गिरा दिया।

तस्य यत्सोमपानं तु मुखं सोऽभूत्कपिञ्जलः।
कलविङ्कः सुरापाणम् अन्नादं तित्तिरिस्त्वभूत् ॥ १५१ ॥

जिस मुख से उसने सोमपान किया था वह कपिञ्जल बन गया, जिससे सुरापान किया था वह कलविङ्क बन गया, जब कि वह जिससे उसने भोजन किया था तित्तिरि बन गया।

३१—ऋग्वेद १०. ९–१४ के देवता

तं वागभ्यवदद्ब्राह्मी ब्रह्महासि शतक्रतो।
प्रपन्नं हतवान्यस्माद् विश्वरूपं पराङ्मुखम् ॥ १५२ ॥

उन्हें (इन्द्र को) ब्राह्मी वाक् ने सम्बोधित किया : 'तुम ब्रह्म-हत्यारे हो, हे शतक्रतु ! क्योंकि तुमने उस विश्वरूप का वध किया है जो पराङ्मुख होकर शरणागत था।

तमभ्यषिञ्चत्सूक्तेन ऋषिराप इति स्वयम्।
सिन्धुद्वीपोऽपनुत्त्यर्थं तस्याश्लीलस्य पाप्मनः ॥ १५३ ॥

उन्हें (इन्द्र को) स्वयं ऋषि सिन्धुद्वीप[1] ने 'आपः' (ऋग्वेद १०. ९) के साथ, उनके अश्लील पाप का निवारण करने के लिये, जल से अभिषिञ्चित किया।

[1] ऋग्वेद १०. ९ के दूसरे ऋषि का नाम; देखिये आर्षानुक्रमणी १०. ३; ऋग्वेद १०. ९, पर सर्वानुक्रमणी।

मैथुनार्थमभीप्सन्तीं प्रत्याचष्टे यमीं यमः।
तयो चिदिति संवादो विवस्वत्सुतयोस्तयोः ॥ १५४ ॥

मैथुनार्थ निवेदन करनेवाली यमी को यम ने अस्वीकृत कर दिया। 'ओ चित्' (ऋग्वेद १०. १०) में निहित विवस्वत् के उन दो पुत्रों के बीच संवाद् इसका वर्णन करता है।

वृषाग्नेये हविर्धाने युजे वामत्र संस्तुते।
परेयिवांसमित्यत्र स्तूयते मध्यमो यमः ॥ १५५ ॥

'वृषा' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १०. ११–१२) अग्नि को सम्बोधित हैं। 'युजे वाम्' (ऋग्वेद १०. १३) सूक्त में दो हविर्धानों की साथ-साथ स्तुति है। 'परेयिवांसम्' (ऋग्वेद १०. १४) में मध्यम यम[1] की स्तुति है।

[1] तु० की० निरुक्त ११. १८ जहाँ ऋग्वेद १०. १५. १ के 'मध्यमाः पितरः' शब्दों पर टिप्पणी करते हुये यास्क इस प्रकार मत व्यक्त करते हैं : माध्यमिको यम इत्याहुः, तस्मान् माध्यमिकान् पितॄन् मन्यन्ते।

अथर्वाणोऽथ भृगवोऽङ्गिरसः पितरः सह।
पथ्यां देवगणास्तत्र संस्तूयन्ते शुभक्रयः ॥ १५६ ॥

इसके बाद वहाँ (ऋग्वेद १० १४, ६) छठवीं ऋचा में अथर्वनों, भृगुओं, अङ्गिरसों और पितरों की स्वर्गलोक से सम्बद्ध देवों के रूप म स्तुति है।

३२–ऋग्वेद १० १४ के देवता (क्रमश), और १५ और १६। तीन अग्नि

पितृभिश्चाङ्गिरोभिश्च संस्तुतो दृश्यते यमः।
मन्त्रेषु बहुशः पादे विवस्वन्तं पिता हि सः ॥ १५७ ॥

मन्त्रों में यम की अक्सर पितरों और अङ्गिरसों के साथ स्तुति दिखाई देती है, क्योंकि विवस्वन्तम्' (ऋग्वेद १० १४, ५) से आरम्भ पाद में यह स्वय एक पिता हैं।

संस्कार्यप्रेतसंयुक्तैः पितृभि स्तूयते यमः।
प्रेहि प्रेहीति तिसृषु प्रेताशिष उदाहृताः ॥ १५८ ॥

यम की सस्कार्य प्रेता मा के साथ सयुक्त पितरों के साथ स्तुति होती है। प्रेहि प्रेहि' से आरम्भ तीन ऋचाओं (ऋग्वेद १० १४, ७–९) में प्रेतों की स्तुतियाँ उद्धृत हैं।

पितॄणां हि पतिर्देवो यमस्तस्मात्स सूक्तभाक्।
अति द्रव तृचे श्वानौ परं पिब्यमुदीरताम् ॥१५९॥

यम देवता पितरों क अधिपति हैं, अत यह सूक्तभाज् है।

'अति द्रव' से आरम्भ तीन ऋचाओं (ऋग्वेद १० १४, १०–१२) म दो कुत्तों की स्तुति है। 'उद् ईरताम' (ऋग्वेद १० १५) सूक्त पितरों को सम्बोधित है।

उत्तरेण तु सूक्तेन श्मशाने कर्म शंसति।
पितृदेवासुराणां च अभवन्नग्नयस्त्रयः ।
हव्यकव्यवहौ चोभौ सहरक्षाश्च नाम यः ॥ १६० ॥

किन्तु बाद के सूक्त में ऋषि ने श्मशान कर्म की प्रशस्ति की है।

पितरों, देवों और असुरों से सम्बद्ध तीन अग्नि थे दो वह जो हव्य और कव्य के वाहक हैं और एक वह जिसे सहरक्षस कहते हैं।

तत्र मैनमिति त्वेतत् कव्यवाहनसंस्तुति।
इतराणि तु दैवस्य स्तुतिर्नास्यामरस्य च ॥ १६१ ॥

इनके सम्बन्ध में 'मैनम्' (ऋग्वेद १०. १६) सूक्त कव्यवाहक की स्तुति करता है। फिर भी, अन्य सूक्त इस (पितरों से सम्बद्ध) अथवा आसुर अग्नि की नहीं वरन् दिव्य अग्नि की स्तुति करते हैं।

३३-सरण्यू की कथा : ऋग्वेद १०. १७

अभवन्मिथुनं त्वष्टुः सरण्यूस्त्रिशिराः सह।
स वै सरण्यूं प्रायच्छत् स्वयमेव विवस्वते ॥१६२॥

त्वष्टा के दो यमज, सरण्यू तथा त्रिशिरस्, नामक सन्ताने थीं। स्वयं उन्होंने (त्वष्टा ने) ही सरण्यू को विवाह में विवस्वत् को दे दिया था।

ततः सरण्व्यां जज्ञाते यमयम्यौ विवस्वतः।
तौ चाप्युभौ यमावेव ज्यायांस्ताभ्यां तु वै यमः ॥१६३॥

तब सरण्यू से विवस्वत् द्वारा यम और यमी का जन्म हुआ। यह दोनों भी यमज थे, किन्तु इन दोनों में यम ज्येष्ठ थे।

॥ इति बृहद्देवतायां षष्ठोऽध्यायः ॥



१–सरण्यू की कथा (क्रमशः)

सृष्ट्वा भर्तुः परोक्षं तु सरण्यूः सदृशीं स्त्रियम् ।
निक्षिप्य मिथुनं तस्याम् अश्वा भूत्वापचक्रमे ॥ १ ॥

अब, अपने पति की अनुपस्थिति में सरण्यू ने अपने समान ही एक स्त्री की सृष्टि करके तथा उसे ही यमजों को दे कर अपने को अश्वी बना-लिया और चली गई ।

अविज्ञानाद्विवस्वांस्तु तस्यामजनयन्मनुम् ।
राजर्षिरभवत्सोऽपि विवस्वानिव तेजसा ॥ २ ॥

किन्तु, अनभिज्ञतावश विवस्वन् ने इसी (स्थानापन्न) से मनु को उत्पन्न किया । (मनु) भी विवस्वत् के समान तेजवाले एक राजर्षि बने ।

स विज्ञाय त्वपक्रान्तां सरण्यूमश्वरूपिणीम् ।
त्वाष्ट्रीं प्रति जगामाशु वाजी भूत्वा सलक्षणः ॥ ३ ॥

फिर भी, जब वह (विवस्वत्) यह जान गये कि सरण्यू एक अश्वी के रूप में चली गई है, तब वह भी अपने को सलक्षण अश्व के रूप में परिणत करके शीघ्रतापूर्वक त्वष्टा की पुत्री के पीछे चले ।

सरण्यूश्च विवस्वन्तं विदित्वा हयरूपिणम् ।
मैथुनायोपचक्राम तां च तत्रारुरोह सः ॥ ४ ॥

और अश्व के रूप में विवस्वत् को पहचान कर सरण्यू ने उनसे मैथुन का आग्रह किया, और उन्होंने (विवस्वन् ने) उस पर वहीं आरोहण किया ।

ततस्तयोस्तु वेगेन शुक्रं तदपतद्भुवि ।
उपाजिघ्रच्च सा त्वश्वा तच्छुक्रं गर्भकाम्यया ॥ ५ ॥

तब उन लोगों के उद्दीपन के कारण शुक्र भूमि पर गिर पड़ा, और सन्तान की इच्छा के कारण उस अश्वी ने शुक्र को सूँघा ।

२–सरण्यू की कथा (शेषांश) । ऋग्वेद १०. १७ के देवता

आघ्रातमात्राच्छुक्रात्तु कुमारौ संबभूवतुः ।
नासत्यश्चैव दस्रश्च यौ स्तुतावश्विनाविति ॥ ६ ॥

तब उस शुक्र से, जिसे उसी समय सूँघा गया था, दो कुमार, नासत्य और दस्र, प्रकट हुये जिनकी 'अश्विनों' के रूप में स्तुति की जाती है।

इतिहासमिमं यास्कः सरण्यूदेवते तृचे।
विवस्वतश्च त्वष्टुश्च त्वष्टेति सह मन्यते ॥ ७ ॥

यास्क ने 'त्वष्टा' से आरम्भ उन दो ऋचाओं (ऋग्वेद १०. १७, १–२) में इसे विवस्वत् और त्वष्टृ की कथा[1] माना है जिनकी देवता सरण्यू है।

[1] तु० की० यास्क : निरुक्त १२. १० : 'तत्रेतिहासम् आचक्षते'।

पूषेति पादौ पौष्णौ द्वाव् आग्नेयावुत्तरौ तु यौ।
स्यात्तृतीयोऽपि वा पौष्णस् तिस्रश्चान्याः परास्तु याः ॥ ८ ॥

'पूषा' (ऋग्वेद १०. १७, ३) से आरम्भ दो पाद पूषन् को सम्बोधित हैं, किन्तु इसके बाद के दो अग्नि को; तृतीय पाद को भी वैकल्पिक रूप से पूषन् को सम्बोधित किया जा सकता है, और जो तीन ऋचायें (ऋग्वेद १०. १७, ४–६) बाद में आती है वह भी इन्हें ही सम्बोधित हैं।

अपां स्तुतिस्त्वृगत्रैका तृचात्सारस्वतात्परा।
स्तुतः परोक्षः सोमस्तु द्रप्स इत्युत्तरे तृचे ॥ ९ ॥

किन्तु सरस्वती को सम्बोधित तीन ऋचाओं (ऋग्वेद १०. १७, ७–९) के बाद इस सूक्त में जो ऋचा आती है उसमें जलों की स्तुति है, जब कि 'द्रप्सः' से आरम्भ तीन ऋचाओं (ऋग्वेद १०. १७, ११–१३) में सोम की परोक्ष स्तुति है।

अब्देवताशीर्वादो वा पयस्वत्युत्तरा तु या।
चतस्रस्ता स्तुतिर्मृत्योर् अन्त्ये चैताश्च कर्मणि ॥ १० ॥

किन्तु 'पयस्वती' से आरम्भ बाद की ऋचा (ऋग्वेद १०. १७, १४) के देवता जल हैं, अथवा यह आशीर्वाद है। बाद की चार[1] ऋचाओं (ऋग्वेद १०. १८, १–४) में मृत्यु की स्तुति है, और ये अन्त्येष्टि कर्म में व्यवहृत हो सकती हैं।

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'चतस्रो मृत्युदेवताः'; आश्वलायन गृह्यसूत्र ४. ६, १०।

२–ऋग्वेद के १०. १८, अन्त्येष्टि सूक्त का विस्तृत विवरण

मृतशिष्टेभ्य आशास्ते इमे ज्योग्जीवनं पुनः।
इमं जीवेभ्य आशास्ते तेभ्यः परिधिकर्मणि ॥ ११ ॥

'इमे' (ऋग्वेद १०. १८, ३) ऋचा ऐसों के लिये दीर्घायुष्य का आशीस है जो मृत्यु से बच गये हों, 'इम जीवेभ्य' (ऋग्वेद १०. १८, ४) पुन इन्हीं लोगों को परिधि कर्म में आशीस देता है।[1]

[1] ऋग्वेद १० १८, ४ 'इम जीवेभ्य परिधिं दधामि', तु० की० सायण, आश्वला यन गृह्यसूत्र ४ ६, ९।

यथा धात्र्युत्तरा त्वाष्ट्री ततो यान्या इमास्त्विति।
स्त्रीणामाशिषमाशास्ते तथैवाञ्जनकर्मणि ॥ १२ ॥

'यथा' (ऋग्वेद १० १८, ५) धातृ को सम्बोधित है, इसके बाद की ऋचा (६ ठी) त्वष्टा को, इसके बाद 'इमा' (ऋग्वेद १०. १८, ७) द्वारा ऋषि अञ्जनकर्म[1] में स्त्रियों को आशीस देता है।

[1] तु० म्रा० ऋग्वेद १० १८, ७ 'इमा नारीर् आञ्जनेन सर्पिषा ■ विशन्तु', आश्वलायन गृह्यसूत्र ४ ६ ११ १२।

उदीर्ष्वं नारीत्यनया मृतं पत्न्यनुरोहति।
भ्राता कनीयान्प्रेतस्य निगद्य प्रतिषेधति ॥ १३ ॥

'उद् ईर्ष्व नारि' (ऋग्वेद १०. १८, ८) ऋचा के साथ अपने पति की मृत्यु के बाद पत्नी (चिता पर) आरोहण करती है। मृत व्यक्ति का कनिष्ठ भ्राता (ऋचा को) दुहराते हुये उसको (स्त्री को) रोकता है।[1]

[1] तु० की० ऋग्विधान ३ ८, ४ 'देवरोऽन्यारुरुक्षन्तीम् उद् ईर्ष्वेति निवर्तयेत्', आश्वलायन गृह्यसूत्र ४. २, १८। देखिये नीचे ७ १३० भा।

कुर्यादेतत्कर्म होता देवरो न भवेद्यदि।
प्रेतानुगमनं न स्याद् इति ब्राह्मणशासनात् ॥ १४ ॥

यदि देवर न हो तो इस कर्म को होता को करना चाहिये, क्योंकि एक ब्राह्मण का कहना है कि (विधवा द्वारा) प्रेतानुगमन नहीं होना चाहिये।

वर्णानामितरेषां च स्त्रीधर्मोऽयं भवेन्न वा।
शान्त्यर्थं धनुरादाने प्रेतस्यर्चं धनुर्जपेत्।
यस्मादेताः प्रयुज्यन्ते श्मशाने चान्त्यकर्मणि ॥ १५ ॥
तस्माद्धदेत्तृचस्यास्य देवतां मृत्युमेव तु।
मन्त्रेषु ह्यनिरुक्तेषु देवतां कर्मतो वदेत् ॥ १६ ॥

स्त्रियों से सम्बद्ध यह नियम अन्य वर्णों के लिये व्यवहृत हो भी सकता है और नहीं भी।

मृत व्यक्ति से चतुष्प होते समय शान्ति के लिये 'परं मृत्यो'[1] (ऋग्वेद १०. १८, १) ऋचा द्वारा अर्चना करनी चाहिये। और यतः इन ऋचाओं का इस भाव पर अन्त्येष्टिकर्म में प्रयोग होता है, अतः इन तीन ऋचाओं (ऋग्वेद १०. १८, ७-९) का मृत्यु को ही देवता मानना चाहिये, क्योंकि जिन मन्त्रों में स्पष्ट न कहा गया हो वहाँ कर्म के आधार पर ही देवता को बताना चाहिये।

[1] तु० की० आश्वलायन गृह्यसूत्र ४. २, ३०।

४—ऐसे मंत्र जिनमें किसी देवता का उल्लेख नहीं होता

मन्त्रतः कर्मतश्चैव प्रजापतिरसंभवे।
पराश्चतस्रो यास्त्वत्र उप सर्पन्ति पार्थिवी ॥ १७ ॥

मन्त्र और कर्म दोनों के आधार पर देवता के न होने पर उनका देवता प्रजापति होता है।[2]

अब यहाँ 'उप सर्प' (ऋग्वेद १०. १८, १०) से आरम्भ बाद की चार ऋचायें (१०-१३) पृथिवी को सम्बोधित हैं।

[2] तु० की० ऋग्वेद १०. १८ की अन्तिम ऋचा पर सर्वानुक्रमणी 'अनस्था……प्राजा० पत्या वा साऽनिरुक्ता'; जिस पर षड्गुरुशिष्य यह टिप्पणी करते हैं: 'न च अनिरुक्ता अप्रजापतिदेवताभिधाना'।

तासां प्रयोगः प्रेतस्य अस्थिसंचयकर्मणि।
प्रतीचीने यथाहानि अपहृत्येतराणि तु ॥ १८ ॥
अहःसु पितरो दधुर् इत्याशास्तेऽन्त्ययाशिषः।
अहः स्वागामिषु च मां प्रयन्तं समजीवयन् ॥ १९ ॥

इनका व्यवहार प्रेत की अस्थियों[3] के संचय में होता है। 'प्रतीचीने' (ऋग्वेद १०. १८, १४) से आरम्भ अन्तिम ऋचा में ऋषि यह आशीष व्यक्त करता है: 'जिस प्रकार मेरे अन्य दिनों को अपहृत करके पितरों ने (हमें अर्पित) दिन प्रदान किये हैं, उसी प्रकार, मरने के निकट हमें जीवन के आगामी दिन भी प्रदान किये हैं।'

[3] तु० की० आश्वलायन गृह्यसूत्र ४. ५, ७।

नि वर्तध्वमितीदं तु गवां केचिदपां विदुः ।
अर्धर्चः प्रथमायास्तु अग्नीषोमीय उत्तरः ॥ २० ॥

अब 'नि वर्तध्वम्' (ऋग्वेद १०. १९) में गायों की स्तुति है, कुछ लोग इसमें जलों की स्तुति मानते हैं। फिर भी, प्रथम ऋचा की बाद की अर्ध ऋचा अग्नि-सोम को सम्बोधित हैं।[१]

[१] तु० की० सर्वानुक्रमणी 'आपो गव्य वा ....अग्नीषोमायो द्वितीयोऽर्धर्चः ।'

५–ऋग्वेद १०. १९–२७ के देवता

ऐन्द्री षष्ठी द्वितीयायाम् उभौ देवौ निपातितौ ।
दशाक्षरं तु शान्त्यर्थं मानसं सूक्तमुच्यते ॥ २१ ॥

छठवीं ऋचा (ऋग्वेद १०. १९, ६) इन्द्र को सम्बोधित है, जब कि दूसरे में उभय देवताओं का नैपातिक उल्लेख है। अब जिस सूक्त में दस अक्षर हैं (ऋग्वेद १०. २०, १) उसे मानसिक शान्ति से सम्बन्धित सूक्त कहते हैं।

त्रीण्यैन्द्राणि कुहेत्यत्र आग्नेयाभ्यां पराणि तु ।
तृचोऽत्रास्त्याश्विनस्त्वेक ऐन्द्राणामुत्तमे युवम् ॥ २२ ॥

अब यहाँ अग्नि को सम्बोधित दो सूक्तों (ऋग्वेद १०. २०–२१) के बाद 'कुह' से आरम्भ तीन इन्द्र को सम्बोधित सूक्त (ऋग्वेद १०. २२–२४) आते हैं। इन सूक्तों में से अन्तिम में 'युवम्' से आरम्भ तीन ऋचायें (ऋग्वेद १०. २४, ४–६) अश्विनों को सम्बोधित हैं।

भद्रं सौम्यं प्र हि पौष्णं त्रीण्यैन्द्राणि पराण्यसत् ।
तेषामाद्येन मत्तः सन् स्वानि कर्माणि शंसति ॥ २३ ॥
यथा चरति भूतेषु यथा वर्षति पाति च ।
सूक्ते तदस्मिन्नष्टाभिर् ऋग्भिरुक्तमभूर्विति ॥ २४ ॥

'भद्रम्' (ऋग्वेद १०. २५) सोम को सम्बोधित है, 'प्र हि' (ऋग्वेद १०. २६) पूषन् को सम्बोधित है। 'असत्' से आरम्भ तीन बाद के सूक्त (ऋग्वेद १०. २७–२९) इन्द्र को सम्बोधित हैं, इनमें से प्रथम (२७वें) में आह्लादित होकर इन्द्र ने अपने कर्मों की प्रशस्ति की है, वह भूतों के बीच

में कैसे चलते हैं, कैसे वर्षा और रक्षा करते हैं, इसका 'अभूर् उ' से आरम्भ इसी सूक्त की आठ ऋचाओं (ऋग्वेद १०. २७, ७–१४) में वर्णन है।

६–ऋग्वेद १०. २७ (क्रमशः) । ऋग्वेद १०. २८ : इन्द्र और वसुक्र का संवाद

ससेति मरुत स्तौति स्तौति वज्रमथोत्तरा ।
अग्निमिन्द्रं च सोमं च पीवानं मेषमर्चति ॥ २५ ॥
पूर्वोऽर्धर्चोऽपरस्तस्याः पर्जन्यं वायुना सह ।
वि क्रोशनास इत्यग्निम् उत्तरा सूर्यमेव तु ॥ २६ ॥

'सस' (ऋग्वेद १०. २७, १५) मरुतों की स्तुति करता है; बाद की ऋचा (१६) वज्र की स्तुति करती है; 'पीवानं मेषम्' (ऋग्वेद १०, २७, १७) ऋचा, अग्नि, इन्द्र और सोम को प्रशंसा करती है : अर्थात् प्रथम अर्ध-ऋचा (१७ वीं ऋचा की) में ऐसा ही है, जब कि इसकी द्वितीय अर्ध-ऋचा में पर्जन्य और वायु की स्तुति है। 'वि क्रोशनासः' (ऋग्वेद १०. २७, १८) अग्नि की, किन्तु बाद की ऋचा (१९ वीं) सूर्य की स्तुति करती है।

एतौ मेऽयं च इत्येते स्तुतिश्चैवेन्द्रवज्रयोः ।
वृक्षेवृक्षे धनुश्चैन्द्रं देवानामिति तु त्र्यृचः ॥ २७ ॥
शीतोष्णवर्षदातारः पर्जन्यानिलभास्कराः ।
अन्त्ये सूर्यानिलौ चोभौ स्तूयेते च पदे सह ॥ २८ ॥

'एतौ मे' (ऋग्वेद १०. २७, २०) और 'अयं यः' (ऋग्वेद १०. २७, २१) में इन्द्र और वज्र की, और 'वृक्षे-वृक्षे' (ऋग्वेद १०. २७, २२) में इन्द्र के धनुष की स्तुति है। किन्तु 'देवानाम्' (ऋग्वेद १०. २७, २३) में शीत, उष्णता, और वर्षा के दाता, पर्जन्य, वायु, और सूर्य की स्तुति है, और इसके अन्तिम पाद में सूर्य और वायु की साथ-साथ स्तुति है।

सा ते जीवातुरित्यस्याम् इन्द्रो वा सूर्य एव वा ।
विश्वो ह्यन्यस्तु संवाद ऋषेः शक्रस्य चैव हि ॥ २९ ॥

'सा ते जीवातुः' (ऋग्वेद १०. २७, २४) ऋचा में इन्द्र अथवा सूर्य की स्तुति है। किन्तु 'विश्वो ह्य् अन्यः' (ऋग्वेद १०. २८) शक्र और ऋषि का संवाद है।

युग्माः शक्रस्य विज्ञेया वसुक्रस्येतरा ऋचः ॥
स्नुषेन्द्रस्यागतान्देवान् दृष्ट्वा शक्रमनागतम् ॥ ३० ॥
यज्ञं परोक्षवत्प्राह श्वशुरो नागतो मम ।
यद्यागच्छेद् भक्षयेत्स धानाः सोमं पिबेदपि ॥ ३१ ॥

युग्म ऋचाओं को शक्र को जानना चाहिये और अन्य को वसुक[1] की। इन्द्र की पुत्र-वधू ने देवताओं को आया हुआ देखकर, किन्तु यह देखकर कि यज्ञ के लिये शक्र नहीं आये, उन्हें (शक्र को) परोक्ष रूप से सम्बोधित किया : 'मेरे श्वसुर नहीं आये हैं, यदि आयें तो अन्न का भक्षण और सोम का पान भी करें।'[2]

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी 'इन्द्रस्य स्नुषा परोक्षवद् इन्द्रम् आह।'

[2] तु० की० ऋग्वेद १० २८, १ : 'मम ''श्वशुरो ना जगाम जक्षीयाद् धाना उत सोमं पपीयात्।'

७-ऋग्वेद १०. ३०-३३ के देवता

इति तस्या वचः श्रुत्वा तत्क्षणादेत्य वज्रभृत् ।
तिष्ठन्वेद्यामुत्तरस्याम् उच्चैराह स रोरुवत् ॥ ३२ ॥

उसके इस वचन को सुनकर वज्रधर उसी क्षण आये और उत्तरा वेदि पर खड़े होकर उच्च स्वर से 'स रोरुवत्' (ऋग्वेद १०. २८, २) कहा।

तृतीयया चतुर्थ्यां च प्र देवत्रेत्यपां स्तुतौ ।
अपांनपादित्यनेन नाम्नाग्निर्मध्यम स्तुतः ॥ ३३ ॥

'प्र देवत्रा' (ऋग्वेद १० ३०) से आरम्भ वालों की स्तुति में, तृतीय ऋचा में मध्यम अग्नि की अपां नपात् के रूप में स्तुति है।

एति यद्वैश्वदेवं तु तस्य प्रेत्यैन्द्रमुत्तरम् ।
वैश्वदेवी प्र मेत्येका सं मेत्यैन्द्रो द्वृचः परः ॥ ३४ ॥

अब जो सूक्त 'आ' (ऋग्वेद १०. ३१) से आरम्भ होता है वह विश्वेदेवों को सम्बोधित है, इसके बाद 'प्र' (ऋग्वेद १० ३२) इन्द्र को सम्बोधित है। एक 'प्र मा' (ऋग्वेद १०. ३३, १) ऋचा विश्वेदेवों को सम्बोधित है, 'सं मा' (ऋग्वेद १०. ३३, २. ३) से आरम्भ दो बाद की ऋचायें इन्द्र को सम्बोधित हैं।

८-अक्ष-सूक्त : १०. ३४।

कुरुश्रवणमर्चतः परे द्वे त्रासदस्यवम् ।
मृते मित्रातिथौ राज्ञि तन्नपातमृषिः परैः ॥ ३५ ॥
उपमश्रवसं यस्य चतुर्भिः स व्यशोकयत् ।
प्रावेपा इति सूक्तं यत् तदक्षस्तुतिरुच्यते ॥ ३६ ॥

बाद की दो ऋचायें (ऋग्वेद १०. ३३, ४-५) कुरुश्रवण त्रासदस्यव की अर्चना करती हैं। राजा मित्रातिथि की मृत्यु पर ऋषि ने 'यस्य' से आरम्भ चार ऋचाओं (ऋग्वेद १०. ३३, ६-९) द्वारा (मित्रातिथि के) पौत्र उपमश्रवस् को सान्त्वना दी है। 'प्रावेपाः' (ऋग्वेद १०. ३४) से आरम्भ सूक्त को अक्षस्तुति कहा गया है।

अथाक्षान्द्वादशी स्तौति नवम्याद्या च सप्तमी ।
त्रयोदशी कृषिं स्तौति कितवं चानुशासति ।
अक्षांस्तु शेषा निन्दन्ति अबुध्रं वैश्वदेवते ॥ ३७ ॥

यहाँ बारहवीं, नवीं, प्रथम और सातवीं ऋचायें अक्ष की स्तुति करती हैं (ऋग्वेद १०. ३४, १. ७. ९. १२)। तेरहवीं ऋचा में कृषि की स्तुति और अक्ष क्रीडक का अनुशासन है। किन्तु शेष ऋचायें अक्ष की निन्दा करती हैं। 'अबुध्रम्' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १०. ३५-३६) विश्वेदेवों को सम्बोधित हैं।

सावित्रमेके मन्यन्ते महो अग्ने स्तवं परम् ।
आचार्याः शौनको यास्को गालवश्चोत्तमामृचम् ॥३८॥

कोई यह मानता है कि अन्त की 'महो अग्नेः' (ऋग्वेद १०. ३६, १२-१४) से आरम्भ स्तुति सवितृ को सम्बोधित है। शौनक, यास्क, और गालव आदि आचार्य केवल अन्तिम (१४ वीं) को ही ऐसा मानते हैं।

नमः सौर्यमैन्द्रमस्मिन् सौर्ये षष्ठ्या तु या स्तुताः ।
निपातिन्यस्ताः सूक्तान्ते वैश्वदेवोऽत्र तु तृचः ॥ ३९ ॥

'नमः' (ऋग्वेद १०. ३७) सूर्य को और 'अस्मिन्' (ऋग्वेद १०. ३८) इन्द्र को सम्बोधित है। किन्तु सूर्य को सम्बोधित सूक्त की छठवीं ऋचा (ऋग्वेद १०. ३७, ६) में जिन देवताओं की स्तुति है वह नैपातिक हैं;

इस सूक्त के अन्त में दो ऋचायें (ऋग्वेद १०. ३७, ११-१२) विश्वेदेवों को सम्बोधित हैं।

आश्विनानि तु यस्त्रीणि ऐन्द्राण्यस्तेव सु प्र च।
ऐन्द्राणामुत्तमायास्तु स्तुतोऽर्धर्चे बृहस्पतिः ॥४०॥

अब, 'य' से आरम्भ तीन सूक्त (ऋग्वेद १०. ३९-४१) अश्विनों को सम्बोधित है, और 'आस्तेव सु प्र' से आरम्भ तीन (ऋग्वेद १०. ४२-४४) इन्द्र को, किन्तु इन्द्र सूक्तों (४२-४४) की अन्तिम ऋचा की एक अर्ध ऋचा (११ वीं ऋचा को) में बृहस्पति की स्तुति है।

९-ऋग्वेद १०. ४५-४६ के देवता। घोषा की कथा।

परे दिवस्पर्यग्नेये प्रथमस्योत्तमेन तु।
द्यावापृथिव्यौ विश्वे च पच्छोऽर्धर्चेन संस्तुताः ॥४१॥

'दिवस् परि' (ऋग्वेद १० ४५, ४६) से आरम्भ बाद के सूक्त अग्नि को सम्बोधित हैं। किन्तु प्रथम की अन्तिम अर्ध ऋचा (ऋग्वेद १० ४५, १२) में दो पादों में पृथिवी और आकाश, और विश्वेदेवों की स्तुति है।

आसीत्काक्षीवती घोषा पापरोगेण दुर्भगा।
उवास षष्टिं वर्षाणि पितुरेव गृहे पुरा ॥४२॥

कक्षीवत् की पुत्री घोषा एक पाप रोग से अपङ्ग हो गई। प्राचीनकाल में वह साठ वर्षों तक अपने पिता के गृह में रही।

आतस्थे महतीं चिन्तां न पुत्रो न पतिर्मम।
जरां प्राप्ता मुधा तस्मात् प्रपद्येऽहं शुभस्पती ॥४३॥

उसे अत्यन्त चिन्ता हुई कि 'बिना पुत्र अथवा पति के मैं वृथा ही जरा अवस्था को प्राप्त हो गई, अत मैं शुभस्पती की शरण में जाऊँगी।

यथैतौ मामकस्तात आराध्यावाप यौवनम्।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं सर्वभूतहने विषम् ॥४४॥
रूपवत्तां च सौभाग्यम् अहं तस्य सुता यदि।
ममापि मन्त्राः प्रादुःस्युर् यै स्तोष्येते मयाश्विनौ ॥४५॥

यथ, मेरे पिता ने उनकी आराधना करके यौवन, आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य

और सर्वभूतहन् विष प्राप्त किया था, अतः मैं, उनकी पुत्री भी, रूप और सौभाग्य प्राप्त कर सकती हूँ यदि मुझे अश्विनों को सन्तुष्ट करनेवाले मन्त्र प्राप्त हो जाँय।'

१०–घोषा की कथा (शेषांश)।

चिन्तयन्तीति सूक्ते द्वे यो वां परि ददर्श सा।
स्तुतौ तावश्विनौ देवौ प्रीतौ तस्या भगान्तरम् ॥४६॥
प्रविश्य विजरारोगां सुभगां चक्रतुश्च तौ।
भर्तारं ददतुस्तस्यै सुहस्त्यं च सुतं मुनिम् ॥४७॥

जब वह इस प्रकार चिन्तन कर रही थी, तब उसने 'यो वां परि-' से आरम्भ दो सूक्तों (ऋग्वेद १०. ३९–४०) का दर्शन किया। स्तुति की जाने के कारण दिव्य अश्विनद्वय प्रसन्न हुये। उसके अङ्गों में प्रवेश करके उन्होंने उसे जरा-विहीन, रोगरहित, और सुन्दर बना दिया। उन लोगों ने उसे एक पति, और पुत्र के रूप में ऋषि सुहस्त्य, प्रदान किया।

ददतुस्तत्सुपर्णाभ्यां यन्नासत्येति कीर्त्यते।
काक्षीवत्यै च घोषायै न तस्यामाजुरोऽन्यया ॥४८॥

'नासत्यों' ने अपने सुपर्ण अश्वों के माध्यम से कक्षीवत् की पुत्री घोषा को जो कुछ दिया उसका 'न तस्य' (ऋग्वेद १०. ४०, ११) और 'अमाजुरः' (ऋग्वेद १०. ३९, ३) ऋचाओं द्वारा वर्णन किया गया है।

प्राजापत्यासुरी त्वासीद् विकुण्ठा नाम नामतः।
सेच्छन्तीन्द्रसमं पुत्रं तेपेऽथ सुमहत्तपः ॥४९॥

प्रजापति की विकुण्ठा नामक एक असुरी पुत्री थी। इन्द्र के समान पुत्र की इच्छा से उसने महान तप किया।[1]

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'विकुण्ठा नामासुरीन्द्रतुल्यं पुत्रम् इच्छन्ती महत् तपस् तेपे।'

११–इन्द्र वैकुण्ठ की कथा।

सा प्रजापतितः कामांल्लेभेऽथ विविधान् वरान्।
तस्यां चेन्द्रः स्वयं जज्ञे जिघांसुर्दैत्यदानवान् ॥५०॥

तब उसने विभिन्न वरदानों के रूप में प्रजापति से सभी इच्छाओं को प्रा.

किया, और दैत्यों तथा दानवों का वध करने की इच्छा से स्वय इन्द्र ने उससे जन्म लिया।[1]

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी 'तस्या स्वय एवेन्द्र पुत्रो जज्ञे।'

एकदा दानवैः सार्धं समरे समसज्यत।
जघान तेषां नवतीर् नव सप्त च सप्तकान् ॥५१॥

एक वार वह दानवों के साथ समर भूमि में युद्ध कर रहे थे। उनमें से उन्होंने नौ नब्बे और सात सात के सात का वध किया।[1]

[1] 'जघान तेषां नवतीर् नव', के साथ ऋग्वेद १ ८४, १३ के 'जघान नवतीर् नव' की तुलना कीजिये। देखिये महाभारत २ २४, १९ भी, और तु० की० ऊपर ६ ५१ ११५।

भित्त्वा स्वबाहुवीर्येण हैमरौप्यायसीः पुरीः।
हत्वा सर्वान् यथास्थानं पृथिव्यादिष्ववस्थितान् ॥५२॥

अपने बाहुबल से उनके स्वर्ण, रजत, और लौह दुर्गों को ध्वस्त करके, और पृथिवी तथा अन्य दो लोकों में व्यवस्थित उन सबका यथास्थान वध करके,

पृथिव्यां कालकेयांश्च पौलोमांश्चैव धन्विनः।
तांश्च व्युत्सादयामास प्रह्लादतनयान्दिवि ॥ ५३ ॥

पृथिवी पर उन्होंने कालकेय और पुलोम जाति के लोगों, धनुर्धरों, और स्वर्ग में प्रह्लाद की दुष्ट सन्तानों का सम्मूलन कर दिया।

१२–इन्द्र वैकुण्ठ की कथा (क्रमशः)।

राज्यं प्राप्य स दैत्येषु स्वेन वीर्येण दर्पितः।
देवान्बाधितुमारेभे मोहितोऽसुरमायया ॥५४॥

दैत्यों का साम्राज्य प्राप्त करके और अपनी वीरता के दर्प में उन्होंने असुरों की माया से मोहित होकर देवों को त्रस्त करना आरम्भ किया।

बाध्यमानास्तु तेनापि असुरेणामितौजसा।
उपाधावन्नृषिश्रेष्ठं तत्प्रबोधाय सप्तगुम् ॥५५॥

जब उस असीम शक्तिवाले असुर से वह लोग त्रस्त हो रहे थे तब उससे मुक्ति के लिये वह लोग ऋषि श्रेष्ठ सप्तगु के पास इसलिये भागकर गये कि वह (सप्तगु) उसे (इन्द्र को) रोकें।

ऋषिस्तु सप्तगुर्नाम तस्यासीत्सुप्रियः सखा।
स चैनमभितुष्टाव जगृभ्मेति करे स्पृशन् ॥५६॥

अब वह ऋषि सप्तगु उनके प्रिय सखा थे, और इसलिये उनके हाथ से स्पर्श करते हुये उन्होंने 'जागृम्म' (ऋग्वेद १०. ४७) सूक्त से उनको सन्तुष्ट किया।[1]

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'जगृभ्म'…सप्तगुर् वैकुण्ठम् इन्द्र तुष्टाव।'

१३-इन्द्र वैकुण्ठ की कथा (शेषांश)। अग्नि तथा उनके भ्राताओं की कथा : ऋग्वेद १०. ५१-५३।

ततः स बुद्ध्वा चात्मानं सप्तगुस्तुतिहर्षितः।
आत्मानमेव तुष्टाव अहं भुवमिति त्रिभिः ॥५७॥
कीर्तयन्स्वानि कर्माणि यानि स्म कृतवान्पुरा।
यथाकरोच्च वैदेहं व्यंसं सोमपतिं नृपम् ॥५८॥
वसिष्ठशापादभवद् वैदेहो नृपतिः पुरा।
इन्द्रप्रसादादीजे च सत्रैः सारस्वतादिभिः ॥५९॥
प्रभूतां शक्तिमत्तां च शत्रूणामप्यपाक्रियाम्।
नृषु सर्वेषु चैश्वर्यं प्रभुत्वं भुवनेषु च।
प्र वो मह इति त्वस्याम् आत्मनो वीर्यमक्षयम् ॥६०॥

तब आत्मबोध करके और सप्तगु की स्तुति से प्रसन्न होकर उन्होंने 'अहं भुवम्' से आरम्भ तीन सूक्तों (ऋग्वेद १०. ४८-५०) में अपनी स्तुति की; अपने उन कर्मों का वर्णन करते हुये जो उन्होंने प्राचीन काल में किये थे, उन्होंने किस प्रकार विदेह के राजा व्यंस को सोमपति बनाया था—प्राचीन काल में वसिष्ठ के शाप से वह (व्यंस) विदेह के राजा बन गये थे और इन्द्र की कृपा से इन्होंने सरस्वती तथा अन्य नदियों के तट पर यज्ञ-सत्र आयोजित किये थे—और अपनी महान शक्ति तथा शत्रुओं को पहुँचाई गई क्षति, और सम्पूर्ण मनुष्यों के बीच अपने ऐश्वर्य तथा भुवनों पर अपने प्रभुत्व का वर्णन किया; किन्तु 'प्र वो महे' (ऋग्वेद १०. ५०, १) से अपनी अक्षय शक्ति की स्तुति की।

वैश्वानरे गृहपतौ यविष्ठेऽग्नौ च पावके।
वषट्कारेण वृक्णेषु भ्रातृष्वग्नौ सहःसुते ॥६१॥

अपचक्राम देवेभ्यः सौचीकोऽग्निरिति श्रुतिः ।
स प्राविशदपक्रम्य ऋतूनपो वनस्पतीन् ॥६२॥

वैश्वानर, अग्नि गृहपति और यविष्ठ, पावक, और अग्नि सह-सुत आदि भ्राताओं के वषट्कार द्वारा छिन्न-भिन्न होने पर अग्नि सौचीक देवों के पास से चले गये, ऐसी एक श्रुति है। इस प्रकार चले जाने के बाद वह ऋतुओं, जलों, और वनस्पतियों में प्रवेश कर गये।

ततोऽसुराः प्रादुरासन् नष्टेऽग्नौ हव्यवाहने ।
तेऽग्निमेवान्ववैक्षन्त देवा हत्वासुरान्युधि ॥६३॥

जब हव्यवाहन अग्नि नष्ट हो गये तब असुर-गण प्रगट हुये। असुरों का युद्ध में वध करके देव-गण अग्नि की खोज में इधर-उधर देखने लगे।

१४–अग्नि के पलायन की कथा (क्रमशः)

तं तु दूराद्यमश्चैव वरुणश्चान्वपश्यताम् ।
उभावेनं समादाय देवानेवाभिजग्मतुः ॥ ६४ ॥

तब यम और वरुण ने उन्हें दूर से देख लिया। वह दोनों उन्हें अपने साथ लेकर देवों के पास गये।

दृष्ट्वा देवास्त्वेनमूचुर् अग्ने हव्यानि नो वह ।
वरान् गृहाण चास्मत्तश् चित्रभानो भजस्व नः ।
देवयानान् सुगान् पथः कुरुष्व सुमनाः स्वयम् ॥६५॥

उन्हें देखकर देवों ने कहा : 'हे अग्नि हमारी हवियों को वहन करो, हमसे वर ग्रहण करो; हे चित्रभानु ! हमारी सेवा करो; जिस पथ से देव-गण गये हैं उस पथ को तुम श्रेष्ठ भाव से स्वयं सुगम करो।'

प्रत्युवाचाथ तानग्निर् विश्वे देवा यदूच माम् ।
तत्करिष्ये जुषन्तां तु होत्रं पञ्च जना मम ॥६६॥
शालामुख्यः प्रणीतश्च पुत्रो गृहपतेश्च यः !
उत्तरो दक्षिणाश्चाग्निर् एते पञ्च जनाः स्मृताः ॥६७॥

तब अग्नि ने उत्तर दिया : 'आप सब देवों ने मुझसे जो कुछ कहा है

उसे मैं करूँगा; किन्तु मुझे पञ्चजनों का होता बनायें—अब शालामुख्य, प्रणीत, गृहपति के पुत्र, उत्तर और दक्षिणाग्नि, इनको पञ्चजन माना गया है।

१५—'पञ्च जनाः' का अर्थ

मनुष्याः पितरो देवा गन्धर्वोरगराक्षसाः।
गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा यक्षराक्षसाः ॥६८॥
यास्कौपमन्यवावेतान् आहतुः पञ्च वै जनान्।
निषादपञ्चमान् वर्णान् मन्यते शाकटायनः ॥६९॥

मनुष्य-गण, पितृगण, देवगण, गन्धर्वगण, सर्पगण, राक्षसगण; अथवा गन्धर्वगण, पितृगण, देवगण, असुरगण, यक्ष और राक्षसगण : यास्क और औपमन्यव ने इन्हें ही पञ्चजन माना है। शाकटायन के विचार से यह चार वर्ण और पाँचवें निषादगण हैं।

ऋत्विजो यजमानं च शाकपूणिस्तु मन्यते।
होताध्वर्युस्तथोद्गाता ब्रह्मा चेति वदन्ति तान् ॥७०॥

फिर भी शाकपूणि का विचार है कि यह (चार) ऋत्विज् और यजमान हैं। इन्हें (ऋत्विजों को) होतृ, अध्वर्यु, उद्गातृ, और ब्रह्मन् कहते हैं।

चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् च प्राणश्चेत्यात्मवादिनः।
गन्धर्वाप्सरसो देवा मनुष्याः पितरस्तथा ॥ ७१ ॥
सर्पाश्च ब्राह्मणे चैव श्रूयन्ते ह्यैतरेयके।
ये चान्ये पृथिवीजाता देवाश्चान्येऽथ यज्ञियाः ॥ ७२ ॥

आत्मवादियों के कथनानुसार यह चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक् और प्राण हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में इन्हें गन्धर्व और अप्सरायें, देवता, मनुष्य और पितर, और सर्प, कहा गया है, और ऐसे अन्य पार्थिव जीवों तथा अन्य देवों को भी (इनके अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है) जो यज्ञ-भाग प्राप्त करते हैं।

१६—अग्नि के पलायन की कथा (क्रमशः)

आयुरस्तु च मे दीर्घं हवींषि विविधानि च।
अरिष्टिः पूर्वजानां च भ्रातृणामध्वरेऽध्वरे ॥ ७३ ॥

प्रयाजाश्चानुयाजाश्च घृतं सोमे च यः पशुः ।
मद्दैवत्यानि वै सन्तु यज्ञो मद्देवतोऽस्तु च ॥ ७४ ॥

और मुझे दीर्घायु और विविध हवियाँ प्राप्त हों, तथा मेरे ज्येष्ठ भ्रातागण प्रत्येक यज्ञ म सुरक्षित रहें, और प्रयाज तथा अनुयाज, घृत, और सोम-यज्ञ के बलि पशु के देवता हम ही हों, और यज्ञ के देवता [redacted] ही हों ।

तवाग्ने यज्ञ इत्येतत् प्रत्यार्धि स्विष्टकृच्च सः ।
यस्य त्रीणि सहस्राणि नव त्रीणि शतानि च ॥ ७५ ॥
त्रिंशच्चैव तु देवानां सर्वानेव वरान्ददुः ।
ततोऽग्निः सुमनाः प्रीतो विश्वैर्देवैः पुरस्कृतः ॥ ७६ ॥
विधूयाङ्गानि यज्ञेषु चक्रे होत्रमतन्द्रितः ।
भ्रातृभिः सहितः प्रीतो दिव्यात्मा हव्यवाहनः ॥ ७७ ॥

'तवाग्ने यज्ञ' (ऋग्वेद १० ५१, ९) शब्दों द्वारा इसकी स्वीकृति दी गई, और वह स्विष्टकृत् बन गये, जिनको तीन सहस्र, तीन सौ उनतालीस देवों ने यह सब वर दिये । तब प्रकृतस्थ, प्रसन्न, और विश्वेदेवों द्वारा पुरस्कृत, दिव्यात्मा हव्यवाहन अग्नि अपने अङ्गों को हिलाते हुये भ्राताओं सहित प्रसन्न हुये और अतन्द्रित होकर यज्ञों में होतृ का कार्य सम्पन्न करने लगे ।

१७-अग्नि के पलायन की कथा (शेषांश) । ऋग्वेद १०. ५४-५७

तस्यास्थि देवदार्वासीन् मेदो मांसं च गुग्गुलुः ।
सुगन्धितेजनं स्नायु शुक्रं रजतकाञ्चने ॥ ७८ ॥
रोमाणि काशाः केशास्तु कुशाः कूर्मा नखानि च ।
अन्त्राणि चैवाप्यवका मज्जा सिकतशर्कराः ॥ ७९ ॥
असृक् पित्तं च विविधा धातवो गैरिकादयः ।
एवमग्निश्च देवाश्च सूक्तैर्महदिति त्रिभिः ॥ ८० ॥
सस्तुदिरे परे त्वस्माद् ऐन्द्रे सूक्ते तु तां स्तु ते ।
विधुं दद्राणमित्यस्यां सूर्याचन्द्रमसौ स्तुतौ ॥ ८१ ॥

उनकी अस्थियाँ देवदारुवृक्ष बन गईं, उनका मेदा और मास गुग्गुल, उनके स्नायु सुगन्धित तेजन, और उनका शुक्र रजत और कञ्चन । उनके शरीर के रोम काश, उनके केश कुश, उनके नख कूर्म, उनकी अंतड़ियाँ अवका, उनकी

मज्जा वालू और शर्करा; तथा उनके रक्त और पित्त गेरू आदि जैसी विविध धातुयें बन गये। इस प्रकार 'महत्' से आरम्भ तीन सूक्तों (ऋग्वेद १०. ५१–५३) में अग्नि और देवताओं ने वार्तालाप किया। अब इसके बाद 'तां सु ते' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १०. ५४–५५) इन्द्र को सम्बोधित हैं।

'विधुं दद्राणम्' (ऋग्वेद १०. ५५, ५) ऋचा में सूर्य और चन्द्रमा की स्तुति है।

प्राणवच्चात्मवच्चापि स्तुतिरप्यत्र दृश्यते।
इदं द्वे वैश्वदेवे च द्वितीये मनसस्तृचः॥ ८२॥

यहाँ प्राण और आत्मा की भी स्तुति दृष्टिगत होती है।

'इदम्' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १०. ५६–५७) विश्वेदेवों को सम्बोधित हैं। द्वितीय सूक्त (५७) में तीन ऋचायें मनस् को सम्बोधित हैं।

१८–सुबन्धु की कथा : ऋग्वेद १०. ५७–५९।

प्रथमैन्द्री द्वितीयाग्नेय्य् अन्त्या तत्सोमदेवता।
अपि स्तौति पितॄनेतद् आर्त्विजं यत्तदुत्तरम्॥८३॥
सूक्तमाख्यानसंयुक्तं वक्तुकामस्य मे शृणु।
संमोहान्नष्टसंज्ञस्य शत्रुणाभिहतस्य तु॥८४॥
जीवावृत्तिः सुबन्धोर्वा यदि वा मनस स्तवः।
राजासमातिरैक्ष्वाकू रथप्रोष्ठः पुरोहितान्॥८५॥
व्युदस्य बन्धुप्रभृतीन् द्वैपदा येऽग्निमण्डले।
द्वौ किराताकुली नाम ततो मायाविनौ द्विजौ॥८६॥
असमातिः पुरोऽधत्त वरिष्ठौ तौ हि मन्यते।
तौ कपोतौ द्विजौ भूत्वा गत्वा गौपायनानभि॥८७॥
मायाबलाच्च योगाच्च सुबन्धुमभिपेततुः।
स दुःखादभिघाताच्च मुमोह च पपात च॥८८॥

प्रथम ऋचा (ऋग्वेद १०. ५७, १) इन्द्र को, और द्वितीय (२) अग्नि को सम्बोधित है, अन्तिम (६) में उसके देवता के रूप में सोम का उल्लेख है। यह सूक्त पितरों की स्तुति करता है अतः ऋत्विजों द्वारा इसका इस आशय में भी स्तवन करना चाहिये। इसके बाद आनेवाला 'यत्' (ऋग्वेद १०. ५८) से आरम्भ सूक्त एक इतिहास से सम्बन्धित है : वर्णन

करने की इच्छावाले मुझसे उसे सुनो यहाँ शत्रु द्वारा अभिहत होने के कारण जब सम्मोहन के परिणामस्वरूप उसकी सञ्ज्ञा नष्ट हो गई तब उस समय के सुबन्धु के जीवन के आवृत्ति की, अथवा मनस् की स्तुति है।

इक्ष्वाकुवंशी, रथप्रोष्ठ, राजा असमाति ने बन्धु तथा अन्य उन पुरोहितों को निकाल[1] दिया जो अग्नियों (ऋग्वेद ५. २४) के मण्डल में द्विपदों[2] के ऋषि हैं। असमाति ने किरात और आकुलि[3] नामक दो मायावियों को अपना पुरोहित बना लिया, क्योंकि इसने इन्हें ही सर्वश्रेष्ठ[4] समझा। कपोत बनकर और गौपायनों के विरुद्ध गानेवाले यह दोनों पुरोहित अपने माया और योगबल से सुबन्धु पर गिर पड़े। उनके आघात के कष्ट से वह (सुबन्धु) मोहित होकर गिर पड़े।

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी 'पुरोहितास् त्यक्त्वा।'
[2] तु० की० सर्वानुक्रमणी 'उक्ता ऋषयो द्वैपदे त्व अग्निमण्डले'।
[3] इन दो नामों के लिये तु० की० शतपथ ब्राह्मण १. १, ४, १४।
[4] तु० की० सर्वानुक्रमणी 'मायाविनो श्रेष्ठतमौ मत्वा पुरोदधे', तु० की० षड्गुरुशिष्य।

१९-सुबन्धु की कथा (क्रमशः)।

तौ ततोऽस्यासुमालुप्य राजानमभिजग्मतुः।
ततः सुबन्धौ पतिते गतासौ भ्रातरस्त्रयः ॥८९॥
जेपुः स्वस्त्ययनं सर्वे मेति गौपायनाः सह।
मनआवर्तनं तस्य सूक्तं यदिति तेऽभ्ययुः ॥९०॥

जब उन्होंने उसके प्राण को खींच लिया तब वे राजा के पास गये। जब प्राण विहीन होकर सुबन्धु भूमि पर गिर पड़े, तब तीन, भ्राताओं, गौपायनों ने एक साथ कल्याण के लिये 'मा' (ऋग्वेद १०. ५७) का जप किया, उनकी आत्मा को पुनः लौटा लाने के लिये इन लोगों ने 'यत्'[1] (ऋग्वेद १०. ५८) से आरम्भ सूक्त का आश्रय लिया।

[1] तु० रा० सर्वानुक्रमणी 'सुबन्धो प्राणान् आचिक्षिपतुः'।
[2] तु० की० सर्वानुक्रमणी 'मा स्वस्त्ययनं जप्त्वा यत् मन आवर्तनं जेपुः।'

जेपुश्च भेषजार्थं यं प्र तारीति परं ततः।
सूक्तस्याद्यस्तृचस्तत्र निर्ऋतेरपनोदनः ॥९१॥

और 'प्र तारि' (ऋग्वेद १०. ५९) से आरम्भ जिन तीन ऋचाओं का इन लोगों ने उनके उपचार के लिये जप किया, वही इस सूक्त की प्रथम तीन ऋचायें (१-३) हैं यहाँ इनसे निर्ऋति[1] को दूर भगाने से तात्पर्य है।

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणीः 'प्र तारि'''निर्ऋतेर् अपनोदनार्थं जेपुः'।

त्रयः पादा मो ष्विति तु सौम्या नैर्ऋत उत्तमः ।
ऋक् सौम्या नैर्ऋती चैषा असुनीते स्तुतिः परे ॥९२॥

अब 'मो षु' (ऋग्वेद १०. ५९, ४) से आरम्भ तीन पाद सोम को, और अन्तिम निर्ऋति को सम्बोधित हैं : यह सम्पूर्ण ऋचा सोम और निर्ऋति को सम्बोधित है। बाद की दो ऋचाओं (ऋग्वेद १०. ५९, ५–६) में असुनीति की स्तुति है।

द्वृचे त्वानुमतं पादम् अन्त्यं यास्कस्तु मन्यते ।
भूद्यौः सोमश्च पूषा च खं पथ्या स्वस्तिरेव च ॥९३॥

अब यास्क का विचार है कि इन दो ऋचाओं में से अन्तिम पाद (ऋग्वेद १०. ५९, ६) अनुमति को सम्बोधित है।

पृथिवी, आकाश, सोम और पूषन, वायु, पथ्या और स्वस्ति—

२०–ऋग्वेद १०. ५९. ६० का विस्तृत विवरण

सुबन्धोरेव शान्त्यर्थं पुनर्न ऋचि तु स्मृताः ।
तृचः शमिति रोदस्योर् ऐन्द्रोऽर्धर्चः समित्यृचि ॥ ९४ ॥

इन सबको 'पुनर् नः' (ऋग्वेद १०. ५९, ७) ऋचा में सुबन्धु की शान्ति करनेवाला माना गया है। 'शम्' से आरम्भ तीन ऋचाएँ (ऋग्वेद १०. ५९, ८–१०) दो लोकों को सम्बोधित हैं, जब कि 'सम्' (ऋग्वेद (१०. ५९, १०) ऋचा की प्रथम अर्ध-ऋचा इन्द्र को सम्बोधित है।

रपसो नाशनार्थं वै तुष्टुवुस्त्वथ रोदसी ।
रप इत्यभिधानं तु गदितं पापकृच्छ्रयोः ॥ ९५ ॥

उन लोगों ने दुर्बलता के नाश के लिये रोदसी की स्तुति की : 'दुर्बलता' को शारीरिक कष्ट अथवा पाप की अभिधा माना गया है।[1]

[1] तु० की० निरुक्त ४. २१ : 'रपो रिप्रम् इति पापनामानि भवतः'।

ऋग्भिरेति चतसृभिस् तत ऐक्ष्वाकुमस्तुवन् ।
इन्द्र क्षत्रेत्यृचा चास्य स्तुत्वाशंसिपुराशिषः ॥ ९६ ॥

तब 'आ' से आरम्भ चार ऋचाओं (ऋग्वेद १०. ६०, १–४) से उन्होंने

इक्ष्वाकु के वंशज की स्तुति की, और उसकी स्तुति करने के बाद उन्होंने 'इन्द्र क्षत्रा' से आरम्भ ऋचा (ऋग्वेद १०. ६०, ५) म उसके लिये आशीस कहा।

अगस्त्यस्येति माता च तेषां तुष्टाव तं नृपम् ।
स्तुतः स राजा सव्रीळस् तस्थौ गोपायनानभि ॥ ९७॥

और उनकी माता[1] ने 'अगस्त्यस्य' (ऋग्वेद १०. ६०, ६) से राजा की स्तुति की। इस प्रकार स्तुति की जाने पर वह राजा लज्जापूर्वक गौपायनों के पास गये।

[1] तु० की० आर्षानुक्रमणी १०. २४ 'स्वसाऽगस्त्यस्य माता एषाम्'।

२१-सुबन्धु की कथा (शेषांश)। ऋग्वेद १०. ६१-६६ के देवता

सूक्तेनाप्यस्तुवन्नग्निं द्वैपदेन यथात्रिपु।
अग्निरप्यब्रवीदेतान् अयमन्तः परिध्यसुः ॥ ९८ ॥
सुबन्धोरस्य चैक्ष्वाकोर् मया गुप्तो हितर्थिना।
सुबन्धवे प्रदायासुं जीवेत्युक्त्वा च पावकः ॥ ९९ ॥
स्तुतो गौपायनैः प्रीतो जगाम त्रिदिवं प्रति।
अयं मातेति हृष्टास्ते सुबन्धोरसुमाह्वयन् ॥१००॥

यत अत्रियों ने द्विपद सूक्तों से अग्नि की स्तुति की है, अत अग्नि ने अपनी ओर से उन लोगों से कहा 'सुबन्धु की आत्मा इस अन्त परिधि में है, अर्थात् हित की इच्छा रखनेवाले मेरे द्वारा इक्ष्वाकु का यह वंशज रक्षित है'। सुबन्धु को उसका प्राण लौटा देने और 'जीवित रहो' कहने के बाद गौपायनों द्वारा स्तुति की जाने पर पावक प्रसन्न होकर स्वर्ग को चले गये। प्रसन्न होकर इन लोगों ने 'अयं माता' (ऋग्वेद १० ६०, ७) ऋचा द्वारा सुबन्धु के प्राण का आह्वान किया।

शरीरमभिनिर्दिश्य सुबन्धोः पतितं भुवि।
सूक्तशेषं जगुश्चास्य चेतसो धारणाय ते ॥ १०१ ॥

भूमि पर पड़े सुबन्धु के शरीर का निर्दिष्ट करते हुये उन लोगों ने उनकी चेतना के धारणार्थ सूक्त के शेषांश का गायन किया।

लब्धासुं चायमित्यस्यां पृथक् पाणिभिरस्पृशन्।
पळिदं वैश्वदेवानि द्वितीयेऽङ्गिरसां स्तुतिः ॥१०२॥

और 'अयम्' (ऋग्वेद १०. ६०, १२) ऋचा में उन लोगों ने उसकी चेतना प्राप्त कर लेने पर अपने हाथों से उसका पृथक् पृथक् स्पर्श किया।

'इदम्' से आरम्भ छः सूक्त (ऋग्वेद १०. ६१–६६) विश्वेदेवों को सम्बोधित हैं। इनमें द्वितीय सूक्त (६२) में अङ्गिरस् की स्तुति है।

जन्म कर्म च सख्यं च इन्द्रेण सह कीर्तयन्।
स्तौति प्र नूनमित्याद्याः सावर्ण्यस्य मनो स्तुतिः॥१०३॥

जन्म, कर्म, और इन्द्र के साथ उनके सख्य को बताते हुये (ऋषियों ने) स्तुति की। 'प्र नूनम्' (ऋग्वेद १०. ६२, ८–११) तथा शेष सवर्ण के पुत्र मन की स्तुति करते हैं।

२२–ऋग्वेद १०. ६३–६६ का विवरण। ऋग्वेद १०. ६७–७२ के देवता

तस्यैव चायुषोऽर्थाय देवान्स्तौत्यभ्ययादृषिः।
सुत्रामाणं महीमू षु दक्षस्येत्यदिते स्तुतिः॥१०४॥

और उनके आयुष्य के लिये ऋषि देवों की स्तुति करता है: 'सुत्रामाणम्' (ऋग्वेद १०. ६३, १०) और 'महीम् ऊ षु'[1] द्वारा। 'दक्षस्य' (ऋग्वेद १०. ६४, ५) में अदिति की स्तुति है।

[1] अथर्ववेद ७. ६, २; वाजसनेयि संहिता २१ ५, तैत्तिरीय संहिता १०५, ११, ५; ऐतरेय ब्राह्मण १. ९, ८; आश्वलायन श्रौतसूत्र ४ ३ में उद्धृत।

पथ्यास्वस्तेः स्वस्तिरिद्धि स्वस्ति नो मरुतां स्तुतिः।
मारुतीमृचमन्वाहेत्युक्तमाध्वर्यवेषु हि॥१०५॥

'स्वस्तिर् इद् धि' (ऋग्वेद १०. ६३, १६) पथ्या स्वस्ति की स्तुति है; 'स्वस्ति नः' (ऋग्वेद १०. ६३, १५) मरुतों की स्तुति है: क्योंकि अध्वर्युओं के ग्रन्थों में यह उक्ति है कि 'वह मरुतों को सम्बोधित ऋचा का आवाहन करता है'।

या गौरिति तथैवास्यां स्तूयते मध्यमा तु वाक्।
मित्राय मैत्रावरुणी भुज्युमंहस आश्विनी॥१०६॥

इसी प्रकार 'या गौः' (ऋग्वेद १०. ६५, ६) ऋचा में मध्यम वाच् की स्तुति है; 'मित्राय' (ऋग्वेद १०. ६५, ५) मित्र-वरुण को सम्बोधित है; 'भुज्युम् अंहसः' (ऋग्वेद १०. ६५, १२) अश्विनों को सम्बोधित है।

स्तौत्यपि च मनुं स्वस्ति द्वचे वाचं च मध्यमाम् ।
अथेमां द्वे बार्हस्पत्ये भद्रा आग्नेयमाप्रियः ॥१०७॥

वह 'स्वस्ति' से आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद १०. ६६, १४-१५) में मनु और मध्यम वाच् की भी स्तुति करते हैं।

इसके बाद 'इमाम्' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १०. ६७-६८) बृहस्पति को सम्बोधित हैं, 'भद्रा' (ऋग्वेद १०. ६९) अग्नि को सम्बोधित हैं, इसके बाद एक आप्री सूक्त (ऋग्वेद १०. ७०) आता है।

प्रथमे बार्हस्पत्ये तु अर्धर्चे ब्रह्मणस्पतिः ।
वैश्वदेवेऽपि सूक्तेऽत्र स्तुतोऽर्धर्चे बृहस्पतिः ।
ब्रह्मणस्पतिरित्यस्मिन् लिङ्गवाक्यविकारतः ॥१०८॥

बृहस्पति को सम्बोधित प्रथम सूक्त (६७) में एक अर्ध ऋचा में (७ वीं ऋचा की) ब्रह्मणस्पति आते हैं। यहाँ विश्वेदेवों को सम्बोधित सूक्त (७२) में एक अर्ध-ऋचा (२ री ऋचा की) में बृहस्पति की भी स्तुति है, अर्थात् 'ब्रह्मणस्पति' (ऋग्वेद १०,७२, २) से आरम्भ अर्ध ऋचा में लिङ्ग वाक्य के विकार द्वारा।

२३–ऋग्वेद १०. ७१ का विस्तृत विवरण।

यज्ज्योतिरमृतं ब्रह्म यद्योगात्समुपाश्नुते ।
तज्ज्ञानमभितुष्टाव सूक्तेनाथ बृहस्पतिः ॥१०९॥

जो ज्ञान अमर ज्योति है और जिसके संयोग से व्यक्ति ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, उसकी बृहस्पति ने एक सूक्त द्वारा बाद में स्तुति की है।

जीवनार्थं प्रयोगस्तु मन्त्राणां प्रतिषिध्यते ।
वेदतत्त्वार्थविज्ञानं प्रायेणात्र हि दृश्यते ॥११०॥

अब जीवनार्थ मन्त्रों के प्रयोग का प्रतिषेध है। यहाँ अधिकांशतः वेदतत्व का यथार्थ ज्ञान ही दृष्टिगत होता है।

आचार्याः केचिदित्याहुर् अत्र वाग्विदुषां स्तवः ।
यथाभिर्निन्द्यतेऽत्रर्ग्भिः सूक्तेऽन्याभिरनर्थवित् ॥१११॥

कुछ आचार्यों का कथन है कि यहाँ कुछ ऋचाओं द्वारा वाग् वेत्ताओं की

स्तुति है। किन्तु इस सूक्त की अन्य ऋचाओं द्वारा उन व्यक्तियों की निन्दा की गई है जो वेदों का अर्थ नहीं जानते।

यथैतामन्वविन्दन्त विद्वांसर्षिगतां सतीम्।
यथा च व्यभजन् यज्ञे तदत्रोक्तं तृतीयया ॥११२॥

और विद्वानों ने उसे (वाच् को) किस प्रकार पाया जब कि वह ऋषियों[1] के बीच स्थित थी, और उन लोगों ने उसे यज्ञ के समय कैसे विभक्त किया—इसका यहाँ तृतीय ऋचा (ऋग्वेद १०. ७१, ३) में वर्णन है।

[1] तु० की० ऋग्वेद १०. ७१, ३ : 'ताम् अन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टा, तां आभृत्याव्य् अदधुः पुरुत्रा'।

प्रशस्यते दशम्या तु विद्वानुत्तमया त्वृचा।
यज्ञे महर्त्विजामाह विनियोगं च कर्मणाम् ॥११३॥

किन्तु दसवीं ऋचा (ऋग्वेद १०. ७१, १०) में विद्वानों की प्रशस्ति है; जब कि अन्तिम ऋचा में उसने (ऋषि ने) चार ऋत्विजों तथा यज्ञ के समय के उनके कर्मों का विनियोग बताया है।

२४-ऋग्वेद १०. ७२–८४ के देवता। खिल

परे तु स्तूयते दक्षो अष्टौ चैवादितेः सुताः।
धातेन्द्रो वरुणो मित्रो अंशः सूर्योऽर्यमा भगः ॥११४॥

अब बाद के सूक्त में (ऋग्वेद १०. ७२) में दक्ष की तथा अदिति के आठ पुत्रों, धातृ, इन्द्र, वरुण, मित्र, अंश, सूर्य, अर्यमन्, भग की भी स्तुति है।

ऐन्द्रे जनिष्ठाः सूक्ते द्वे प्र स्वित्यत्र परं तु यत्।
तत्र प्राच्यः प्रतीच्यश्च स्रवन्त्यो दक्षिणाश्च याः ॥११५॥
ताः सप्त सप्तकैर्वर्गैः संस्तूयन्ते प्रधानतः।
ग्राव्णामा वो मारुते द्वे अभ्रप्रुष इति स्मृते ॥११६॥

'जनिष्ठाः' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १०. ७३–७४) इन्द्र को सम्बोधित हैं; किन्तु 'प्र सु' से आरम्भ अब जो सूक्त आता है (ऋग्वेद १०. ७५) उसमें पूर्व, पश्चिम, और दक्षिण से बहनेवाली जलधाराओं की प्रधानता के आधार पर सात-सात के सात समूहों में एक साथ स्तुति है।[1] 'आ वः' (ऋग्वेद १०. ७६) पाषाणों को, और 'अभ्रप्रुष.' से आरम्भ दो सूक्तों (ऋग्वेद १०. ७७–७८) को मरुतों को सम्बोधित माना गया है।

[1] तु० की० ऋग्वेद १० ७१, २ प्र मप्र-सप्त त्रेधा हि चक्रमु'।

अपश्यमिति चाग्नेये य इमा वैश्वकर्मणे ।
मान्यवे यस्त इत्येते परं यत्तु मम व्रते ॥ ११७ ॥
तदाशीर्वादबहुलं स्तौति विश्वान्दिवौकसः ।
पराकदास आग्नेयं यदुदित्यष्टकं परम् ॥ ११८ ॥

'अपश्यम्' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १० ७९–८०) अग्नि को सम्बोधित हैं, 'या इमा' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १० ८१–८२) विश्वकर्मन् को सम्बोधित हैं, 'यस् ते' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १० ८३–८४) मन्यु को सम्बोधित हैं। किन्तु 'मम व्रते'[1] से आरम्भ बाद मे आनेवाला सूक्त विश्वेदेवों के आशीर्वाद और स्तुति की बहुलता से युक्त है। 'उत्'[2] से आरम्भ आठ ऋचाओं का सूक्त अग्नि को सम्बोधित एक पराकदास[3] है।

[1] यह ऋग्वेद १० ८४ और ८५ के बाद आनेवाले दो खिलों में से प्रथम है। इसमें प्रथमत अनुष्टुभ् छन्द में बत्तीस ऋचायें हैं जो 'मम व्रते' हृदय ते दधामि' से आरम्भ होती है। तु० की० अथर्ववेद ६ ९४, २, पारस्कर गृह्यसूत्र १ ८, ८, २ २, ६, शाङ्खायन श्रौत सूत्र २ ४, १।

[2] इस खिल में अग्नि को सम्बोधित आठ अनुष्टुभ् ऋचायें हैं और यह 'उद् बुदेनं गृहपते' से आरम्भ होता है।

[3] तु० की० ऋग्विधान ३ २१, ४ 'पराकदासस्य विधिम्', और ३ २२, २ 'पराकदासो देवष्यार्थम्'।

२५–सूर्या सूक्त ऋग्वेद १०. ८५। उषस् के तीन रूप

मैत्रावरुण्यृक् तत्रास्ति चतुर्थ्यैन्द्राग्न्युपोत्तमा ।
सावित्री चैव सूर्या च सैव पत्नी विवस्वतः ॥११९॥

स्तुता वृषाकपायीति उषा इति च योच्यते ।
उषा एषा त्रिधात्मानं विभज्य प्रैति गोपतिम् ॥१२०॥

वहाँ चौथी ऋचा मित्र वरुण[1] को सम्बोधित है, जब कि अन्तिम के पूर्व की एक ऋचा (ऋग्वेद १० ८५, ७) इन्द्र और अग्नि[2] को सम्बोधित है। सावित्री और सूर्या विवस्त की एक [illegible] और वही पत्नी है जिसकी वृषाकपायी के रूप में स्तुति है और जिसे ही उषस् कहा गया है। यह उषस् अपने को तीन रूपों में विभाजित करके गोपति (= सूर्य) के पास जाती है।

[1] यह 'इमा मे मित्रावरुणौ' पाद से आरम्भ होता है।

[2] यह 'अनेन ब्रह्मणाग्ने त्वम्, अयं चेन्द्रो न ईडित॰' पाद से आरम्भ होता है।

उषाः पुरोदयाद् भूत्वा सूर्या मध्यंदिने स्थिते।
भूत्वा वृषाकपायी च दिनान्तेऽववगच्छति ॥१२१॥

सूर्योदय के पूर्व उषस् बन कर, मध्याह्न के समय सूर्या, और दिनान्त के समय वृषाकपायी हो कर वह नीचे चली जाती है।

सत्यसूर्यर्तसोमानां सौर्याद्यात्र त्वृगुच्यते।
पराभिस्तिसृभिस्त्वृग्भिर् उच्यते सोम ओषधिः॥१२२॥

यहाँ सूर्या को सम्बोधित प्रथम ऋचा (ऋग्वेद १०. ८५, १) को सत्य, सूर्य, ऋत, और सोम से सम्बद्ध बताया गया है; किन्तु बाद की तीन ऋचाओं (ऋग्वेद १०. ८५, २–४) में सोम को औषधि के रूप में व्यक्त किया गया है।

विस्पष्टमुत्तरा त्वासाम् ऋक् चन्द्रमसमर्चति।
सूर्यायै भाववृत्तं तु रैभीत्यष्टाभिरुच्यते ॥१२३॥

किन्तु जो ऋचा (ऋग्वेद १०. ८५, ५) इनके बाद आती है वह स्पष्टतः चन्द्रमा की अर्चना करती है, जब कि 'रैभी' से आरम्भ आठ ऋचाओं (ऋग्वेद १०. ८५, ६–१३) में सूर्या के 'भाववृत्त' को व्यक्त किया गया है।

२६–सूर्या-सूक्त का विवरण (क्रमशः)।

यदश्विनौ द्वृच स्तौति सूर्यमेवोत्तरार्चति।
सप्तदशी वैश्वदेवी सौर्याचान्द्रमसी परा ॥१२४॥

'यत्' से आरम्भ दो ऋचायें (१०. ८५, १४–१५) अश्विनों की स्तुति करती हैं। बाद की ऋचा (१६) सूर्य की अर्चना करती है, सत्रहवीं (१७) विश्वेदेवों को सम्बोधित है, इसके बाद की ऋचा (१८) सूर्य और चन्द्रमा को सम्बोधित है।

परस्याः प्रथमौ पादौ सौर्यौ चान्द्रमसौ परौ।
और्णवाभो द्वृचे त्वस्मिन्न् अश्विनौ मन्यते स्तुतौ ॥१२५॥

बाद की ऋचा (ऋग्वेद १०. ८५, १९) के प्रथम दो पाद सूर्य को सम्बोधित हैं, जब कि इसके बाद के दो पाद चन्द्रमा को। फिर भी और्णवाभ का विचार है कि इन दो ऋचाओं में अश्विनों की स्तुति है।

सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि प्राणापानौ च तौ स्मृतौ ।
अहोरात्रौ च तावेव स्यातां तावेव रोदसी ॥१२६॥

क्योंकि इन दोनों (अश्विनों को) को सूर्य और चन्द्रमा, और प्राण तथा अपान माना गया है, और यह दोनों दिन और रात्रि भी हो सकते हैं, अथवा दोनों ही दोनों लोक (रोदसी)।[1]

[1] इनमें से प्रथम, तृतीय और चतुर्थ व्याख्यायें निरुक्त १२. १ में ही हुई हैं।

अश्नुवाते हि तौ लोकाञ् ज्योतिषा च रसेन च ।
पृथक्पृथक् च चरतो दक्षिणेनोत्तरेण च ॥१२७॥

क्योंकि यह दोनों प्रकाश तथा आर्द्रता से लोकों को व्याप्त करते हैं और यह दोनों ही पृथक्-पृथक् दक्षिण और उत्तर की ओर विचरण करते हैं।[1]

[1] यह प्रत्यक्षतः ऋग्वेद १०. ८५, १८ ('पूर्वापरं चरतो मायया...स्तौ') को ही व्यक्त करता है।

सूर्यः सरति भूतेषु सु वीरयति तानि वा ।
सु ईर्यत्वाय यात्येषु सर्वकार्याणि संदधत् ॥१२८॥

सूर्य भूतों के बीच चलते हैं, अथवा वह उन्हें भली प्रकार प्रोत्साहित करते हैं : उनके सभी कार्यों को भली प्रकार धारण करते हुये वह उन्हें भली प्रकार प्रोत्साहित करते हुये उनके बीच जाते हैं।

२७—चन्द्रमस् की व्युत्पत्ति / ऋग्वेद १०. ८५, २० ३० का विषय-वस्तु

चारु द्रमति वा चायंश् चायनीयो द्रमत्युत ।
चमेः पूर्वं समेतानि निर्मिमीतेऽथ चन्द्रमाः ॥१२९॥

चन्द्रमा सुन्दरतापूर्वक (चारु) अथवा देखते हुये (चायन्) दौड़ते (द्रमति) हैं, अथवा देखने योग्य होने के रूप में (चायनीय) दौड़ते हैं, अथवा (यौगिक शब्द का) पूर्व पद 'चम्' धातु से व्युत्पन्न है, अथवा यह (चन्द्र) समस्त जीवों का निर्माण (निर्—मा) करता है।[1]

[1] चन्द्रमस् की उपरोक्त पाँचों व्युत्पत्तियाँ निरुक्त ११. ५ पर आधारित हैं, जहाँ छः व्युत्पत्तियाँ दी हैं - (१) चायन् द्रमति, (२) चारु द्रमति, (३) चिरं द्रमति, (४) चमू द्रमति, (५) चन्द्रो माता, (६) चान्द्रं मानम् अस्य।

सुकिंशुकमिति त्वस्यां सूर्यामारोहतीं पतिम् ।
स्तौति विश्वावसुं चैव द्वृचे गन्धर्वमुत्तरे ॥१३०॥

अब 'सुकिंशुकम्' (ऋग्वेद १०. ८५, २०) ऋचा द्वारा (ऋषि ने) सूर्या के अपने पति पर आरोहण की, और बाद की दो ऋचाओं (ऋग्वेद १०. ८५, २१-२२) में गन्धर्व विश्वावसु की स्तुति की है।

अनृक्षरा इत्यनया यातौ स्तौतीह दंपती।
गृहान्प्रपद्यमानां तु पराभिः पञ्चभिर्वधूम् ॥१३१॥

'अनृक्षराः' (ऋग्वेद १० ८५, २३) में (ऋषि ने) यहाँ उस दंपति की स्तुति की है जो प्रस्थान कर चुके हैं; किन्तु बाद की पाँच (ऋग्वेद १०. ८५, २४-२८) से (पति के) घर पर पहुँची वधू की।

२८-ऋग्वेद १०. ८५, ३१-४३

वाससश्च वधूनां च वरदानं प्रचक्षते।
तत स्त्रिया विरागस्य विभवे सति वाससः ॥१३२॥
अन्यत्र मैथुनाद्भर्तुर् हरणं प्रतिषिध्यते।
ये यक्ष्मनाशिनीं स्तौति द्वे मा परिपन्थिनः ॥१३३॥

और उनका कथन है कि (बाद की ऋचाः ऋग्वेद १०. ८५, २९ में) वधुओं को वस्त्र और वर-दान देने को व्यक्त किया गया है।[1] इसके बाद भोग-विलास की समाप्ति पर विरागावस्था में स्त्री के वस्त्र का—अर्थात् मैथुन के समय के अतिरिक्त—पति द्वारा हरण निषेध है। 'ये' (ऋग्वेद १०. ८५, ३१) ऋचा यक्ष्म-नाशक है; 'मा' से आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद १०. ८५, ३२-३३) में (ऋषि ने) मार्गावरोधकों की स्तुति की है।

[1] तु० की० ऋग्वेद १०. ८५, २९ के यह शब्द 'परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यः'। इस पर देखिये आश्वलायन गृह्यसूत्र १. ८, १२।

तृष्टमेतदिति त्वाह याहग्वाधूयमर्हति।
आशास्ते चैव विविधं ज्ञातिभ्यश्चानुशासनम् ॥१३४॥
वद्ना स्त्री भावृत्तिश्च परया त्वत्र कथ्यते।
गृभ्णामि त ऋचा ह्युक्तं गुह्यन्त्थ धनाशिषः ॥१३५॥
आशास्ते परया तस्याः संयोगार्थास्तथाशिषः।
पराभिराशीश्चाशास्ते पृथक् ताभ्यां सहैव च ॥१३६॥

अघोरेति तृचे तस्याः समिहेति द्वयोर्द्वयोः ।
आ नः प्रजापतेर् इमाम् ऐन्द्री चान्त्या बृहस्पतेः ॥१३७॥

किन्तु 'तृष्टम् एतत्' (ऋग्वेद १०. ८५, ३४) ऋचा यह बताती है कि किस प्रकार का मनुष्य वैवाहिक वस्त्र के योग्य होता है।[1] और बद्ध स्त्री द्वारा अपने सम्बन्धियों को विविध प्रकार के अनुशासनात्मक[2] निर्देश दिये गये हैं। बाद की ऋचा (ऋग्वेद १०. ८५, ३५) में यहाँ भावबृत्ति का कथन है।

'गृभ्णामि ते' ऋचा द्वारा उस समय (पति के द्वारा) धन का आशिस् दिया गया है जब वह उसका (वधू का) हाथ पकड़ता है। बाद की ऋचा (ऋग्वेद १०. ८५, ३७) में भी संयोगार्थक आशिस् हैं।

बाद की ऋचा ने (ऋषि ने) दोनों को साथ-साथ और पृथक्-पृथक् आशिस् कहा है, 'अघोर-' से आरम्भ तीन ऋचाओं (ऋग्वेद १० ८५, ४४-४६) में केवल उसके (वधू के लिये), और 'सम्' (ऋग्वेद १०. ८५, ४७) तथा 'इह' (ऋग्वेद १० ८५, ४२) क्रमशः दोनों के लिये हैं। 'आ न.' (ऋग्वेद १०. ८५, ४३) प्रजापति को, और 'इमाम्' (ऋग्वेद १०. ८५, ४५) इन्द्र को सम्बोधित है, अन्तिम (ऋग्वेद १०. ८५, ४७) बृहस्पति को सम्बोधित है।

[1] तु० की० ऋग्वेद १० ८५, ३४ 'सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्, स इद् वाधूयम् अर्हति'।
[2] तु० की० ऋग्वेद १० ८५, ३५ 'आशसन विशसन अथो अधिविकर्तनम्'।

२९—सूर्या सूक्त पर टिप्पणी (शेषांश)।

मन्त्रा वैवाहिका ह्येते निगद्यन्ते नृणामपि ।
आर्त्विजा याजमानाश्च यथारूपं विशेषतः ॥ १३८ ॥

जब यह वैवाहिक मंत्र मनुष्यों के लिये भी उच्चरित होते हैं, क्योंकि यह अपने विशिष्ट रूप और विशेषताओं के अनुसार ऋत्विजों और यजमानों से भी सम्बद्ध हैं।

प्रत्यृचं प्रतिकीर्त्यन्ते देवताश्चेह यासु याः ।
वदेत्तां देवतां तासु नाराशंसीर्वदेत वा ॥ १३९ ॥

और यहाँ उन ऋचाओं में, जिनमें से प्रत्येक में देवताओं का उल्लेख है, हमें उसीको देवता कहना चाहिये जिसका उल्लेख है, अथवा यह कहना चाहिये कि यह (ऋचायें) नाराशंसी[1] हैं।

[1] नाराशंसी ऋचाओं के लिये तु० की० ऊपर ३. १५४; तु० की० ऋग्वेद १०. ८५. ६ : 'रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी'।

औपसीः सर्वथा चैता भाववृत्तं प्रचक्षते ।
सूर्यया सह सूक्तेऽस्मिन् पादश्चैवात्र लक्ष्यते ॥१४०॥

और उनका कहना है कि उपम् को सम्बोधित यह ऋचायें भाववृत्त से संबन्धित एक सम्पूर्ण सूक्त का निर्माण करती हैं; और इस सूक्त में एक पाद सूर्या से सम्बन्धित भी लक्षित होता है।

वि हि वार्षाकपं सूक्तम् असौ हि कपिलो वृषा ।
इन्द्रः प्रजापतिश्चैव विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥१४१॥

'वि हि' (ऋग्वेद १० ८६) वृषाकपि को सम्बोधित एक सूक्त है; क्योंकि वह कपिल वृषभ इन्द्र[1] और प्रजापति है; 'इन्द्र सबसे श्रेष्ठ हैं'।

[1] तु० की० ऊपर २. ६७, जहाँ वृषाकपि की भी 'वृषा कपिकः' के रूप में व्याख्या है और उसे सूर्य के सात नामों में से एक, अथवा दिव्य अग्नि का एक रूप बनाया गया है।

रक्षोहणादि चाग्नेयं त्रीन् स्तौत्यग्नीन् परं हविः ।
इमं च मध्यमं चैव असौ वैश्वानरं च यः ॥१४२॥

'रक्षोहणम्' (ऋग्वेद १०. ८७) से आरम्भ सूक्त अग्नि को सम्बोधित है। बाद का 'हविः' (ऋग्वेद १०. ८८) तीन अग्नियों : इस (पार्थिव), मध्यम, और जो वह वैश्वानर[1] है, की स्तुति करता है।

[1] तु० की० ऊपर १ ६७, जहाँ वैश्वानर को अग्नि का दिव्य रूप बनाया गया है।

३०–ऋग्वेद १०. ८९–९३ के देवता। पुरूरवस् और उर्वशी की कथा।

ऐन्द्रात्पुरुषसूक्तं च अन्त्यया पौरुषस्य तु ।
यथैनमभजन्साध्या यज्ञार्थं सोऽर्थ उच्यते ॥१४३॥

और इन्द्र को सम्बोधित एक सूक्त (ऋग्वेद १०. ८९) के बाद पुरुष-सूक्त (ऋग्वेद १०. ९०) आता है। पुरुष को सम्बोधित सूक्त की अन्तिम ऋचा (१६वीं) में उन स्थितियों का वर्णन है जिनमें साध्यों ने उसका यज्ञार्थ विभाजन किया था।

आपान्तमन्युरित्यैन्द्र्यां स्तुतः सोमोऽत्र दृश्यते ।
सालोक्यात्साहचर्याद्वा स्तूयते सोम एव वा ॥१४४॥

'आपान्तमन्यु' (ऋग्वेद १०. ८९, ५) से आरम्भ इन्द्र को सम्बोधित ऋचा में स्पष्टतः सोम की स्तुति है। सोम की या तो एक ही लोक के होने अथवा इन्द्र के सहचर होने के कारण ही स्तुति है।

निपातभाजं सोमं च अस्यां रथीतरोऽब्रवीत्।
ऐन्द्रेषु हि निपातोऽत्र स्तुतोऽग्निररुणेन सम् ॥१४५॥

रथीतर ने कहा है कि इस (ऋचा) में सोम निपातभाज् है, क्योंकि इन्द्र को सम्बोधित सूक्तों में यहाँ ऐसा ही नैपातिक उल्लेख है। 'सम' (ऋग्वेद १० ९१) में अरुण द्वारा अग्नि की स्तुति है।

यज्ञस्य वो वैश्वदेवे प्रैत इत्युत्तरं तु यत्।
तत्रार्बुदस्तु ग्रावाणं मूर्तिमन्तमिवार्चति ॥१४६॥
प्र तद्दुःसीम इत्यृग्भ्यां राज्ञां दानं च शंसति।
पुरूरवसि राजर्षौ अप्सरास्तूर्वशी पुरा।
न्यवसत्संविदं कृत्वा तस्मिन्धर्मं चचार च ॥१४७॥

'यज्ञस्य च' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १०. ९२–९३) विश्वेदेवों को सम्बोधित हैं, किन्तु 'प्रैत' (ऋग्वेद १०. ९४) से आरम्भ जो बाद में आता है उसमें अर्बुद ने मूर्तिमान् पाषाणों की अर्चना की है, और 'प्र तद् दुःसीमे' (ऋग्वेद १०. ९३, १४–१५) से आरम्भ दो ऋचाओं में उसने (ऋषि ने) राजाओं के दान की प्रशस्ति की है।

अब प्राचीन काल में अप्सरा उर्वशी राजर्षि पुरूरवस् के साथ रही थी, और समझौता करके उनके साथ (पत्नी-) धर्म का आचरण करने लगी।

३१–पुरूरवस् और उर्वशी की कथा (शेषांश)

तया तस्य च संवासम् असूयन् पाकशासनः।
पैतामहं चानुरागम् इन्द्रवचापि तस्य तु ॥१४८॥
स तयोस्तु वियोगार्थं पार्श्वस्थं वज्रमब्रवीत्।
प्रीतिं भिन्द्धि तयोर्वज्र मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥१४९॥

और उसके (उर्वशी के) साथ उनके सहवास पर ईर्ष्या करते हुये और उसके (उर्वशी के) लिये ब्रह्मा तथा उनके (पुरूरवस् के) ऐसे अनुराग को देखकर कि मानों वह इन्द्र हैं, पाकशासन (इन्द्र) ने उन्हें पृथक

करने के लिये अपने पार्श्वस्थ वज्र से कहा : 'हे वज्र यदि तुम मेरा प्रिय चाहते हो तो इन दोनों के प्रेम-सम्बन्ध को भंग कर दो।'

तथेत्युक्त्वा तयोः प्रीतिं वज्रोऽभिनत्स्वमायया।
ततस्तया विहीनस्तु चचारोन्मत्तवन्नृपः ॥१५०॥

'बहुत अच्छा' कहकर वज्र ने अपनी माया से उनके प्रेम को भंग कर दिया। तब उससे विहीन राजा उन्मत्त होकर फिरने लगे।

चरन्सरसि सोऽपश्यद् अभिरूपामिवोर्वशीम्।
सखीभिरभिरूपाभिः पञ्चभिः पार्श्वतो वृताम् ॥१५१॥

जब वह इस प्रकार घूम रहे थे तब उन्होंने एक तालाब में पाँच सुन्दर सखियों से घिरी हुई मानों सुन्दरी उर्वशी को देखा।

तामाह पुनरेहीति दुःखात्सा त्वब्रवीन्नृपम्।
आप्राप्याहं त्वयात्रेह स्वर्गे प्राप्स्यसि मां पुनः ॥१५२॥

उससे उन्होंने कहा, 'लौट आओ'। किन्तु उसने राजा को दुःखपूर्वक उत्तर दिया, 'अब तुम मुझे यहाँ नहीं प्राप्त कर सकते; स्वर्ग में तुम मुझे पुनः प्राप्त करोगे।

३२–ऋग्वेद १०. ९६. ९७ के देवता। देवापि की कथाः १०. ९८

आह्वानं प्रति चाख्यानम् इतरेतरयोरिदम्।
संवादं मन्यते यास्क इतिहासं तु शौनकः ॥१५३॥
हय इति परमैन्द्रं प्र ते या ओषधीस्तचः।
प्रयोगे भिषजस्त्वेतद् यक्ष्मनाशाय कल्पते ॥१५४॥

आह्वान के सन्दर्भ में उस आख्यान को यास्क[1] ने संवाद माना है, किन्तु शौनक ने एक कथा: (अर्थात्) 'हये' (ऋग्वेद १०. ९५) से आरम्भ सूक्त को। इसके बाद 'प्र ते' (ऋग्वेद १०. ९६) इन्द्र को सम्बोधित है। 'याः' (ऋग्वेद १०. ९७) में ओषधियों की स्तुति है।

भिषज्[2] का यह सूक्त प्रयोग में यक्ष्मा के नाश के लिये व्यवहृत हो सकता है।

[1] निरुक्त ५ १३, १० ४६, ४७, ११ ३६, से यह मत व्यक्त नहीं होता।
[2] तु० की० आर्षानुक्रमणी १० ४५ 'या ओषधीस् तु सूक्तस्य ऋषिर् आथर्वणो भिषक', देखिये सर्वानुक्रमणी भी।

आर्ष्टिषेणस्तु देवापिः कौरव्यश्चैव शंतनुः।
भ्रातरौ कुरुषु त्वेतौ राजपुत्रौ बभूवतुः ॥१५५॥

अब, ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि, और कुरु-वंशीय शंतनु, कुरुओं में राजा तथा दो भ्राता थे।

ज्येष्ठस्तयोस्तु देवापिः कनीयांश्चैव शंतनुः।
त्वग्दोषी राजपुत्रस्तु ऋष्टिषेणसुतोऽभवत् ॥१५६॥

इन दोनों में से देवापि ज्येष्ठ और शंतनु कनिष्ठ थे, किन्तु वह (देवापि) ऋष्टिषेण के राजपुत्र त्वचा-दोष से पीड़ित थे।

राज्येन छन्दयामासुः प्रजाः स्वर्गं गते गुरौ।
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा प्रजास्ताः प्रत्यभाषत ॥१५७॥

जब उनके पिता स्वर्ग चले गये तब उनकी प्रजा ने उन्हें राज्य दिया। किन्तु एक क्षण विचार करके उन्होंने अपनी प्रजा को उत्तर दिया

॥ इति बृहद्देवताया सप्तमोऽध्यायः ॥



१–देवापि की कथा (क्रमशः)

न राज्यमहमर्हामि नृपतिर्वोऽस्तु शंतनुः।
तथेत्युक्त्वाभ्यसिञ्चंस्ताः प्रजा राज्याय शंतनुम् ॥ १ ॥

'मैं राज्य के योग्य नहीं हूँ: शंतनु ही तुम्हारे शासक (नृप) हों।' इससे सहमत होकर उनकी प्रजा ने राजा के रूप में शंतनु का अभिषेक किया।

ततोऽभिषिक्ते कौरव्ये वनं देवापिराविशत्।
न ववर्षाथ पर्जन्यो राज्ये द्वादश वै समाः ॥ २ ॥

जब कुरु के वंशज का अभिषेक हो गया तब देवापि वन को चले गये। इसके बाद उस राज्य में पर्जन्य ने बारह वर्षों तक वर्षा नहीं की।

ततोऽभ्यगच्छद्देवापिं प्रजाभिः सह शंतनुः।
प्रसादयामास चैनं तस्मिन्धर्मव्यतिक्रमे ॥ ३ ॥

परिणाम-स्वरूप अपनी प्रजा के साथ शंतनु देवापि के पास आये और उस धर्म-व्यतिक्रम[1] के लिये उनका प्रसादन किया।

[1] अर्थात् ज्येष्ठ भ्राता देवापि के रहते हुए छोटे भ्राता का अभिषेक।

शिशिक्ष चैनं राज्येन प्रजाभिः सहितस्तदा।
तमुवाचाथ देवापिः प्रह्वं तु प्राञ्जलिस्थितम् ॥ ४ ॥
न राज्यमहमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रियः।
याजयिष्यामि ते राजन् वृष्टिकामेज्यया स्वयम् ॥ ५ ॥

तब अपनी प्रजा के सहित उन्होंने उन्हें (देवापि) को राज्य देना चाहा। जब वह (शंतनु) विनम्रतापूर्वक करबद्ध खड़े थे, तब देवापि ने उत्तर दिया: 'मैं राज्य के योग्य नहीं हूँ क्योंकि त्वचा-दोष से मेरी शक्ति क्षीण हो गई है; *हे राजा मैं स्वयं वर्षा के लिये तुम्हारे यज्ञ-पुरोहित का कार्य करूँगा।'*

२–देवापि की कथा (शेषांश)। ऋग्वेद १०.९९–१०१ के देवता

ततस्तं तु पुरोऽधत्त आर्त्विज्याय स शंतनुः।
स चास्य चक्रे कर्माणि वार्षिकाणि यथाविधि ॥ ६ ॥

तब शंतनु ने उन्हें (देवापि को) अपना पुरोहित नियुक्त करते हुये उनसे ऋत्विज् के रूप में कार्य करने के लिये कहा। तब उन्होंने (देवापि ने) यथाविधि वर्षा करानेवाले कर्म सम्पन्न किये।

बृहस्पते प्रतीत्यृग्भिर् ईजे चैव बृहस्पतिम्।
द्वितीययास्य सूक्तस्य बोधिते जातवेदसा ॥ ७ ॥
आस्ये ते द्युमतीं वाचं दधामि स्तुहि देवताः।
ततः सोऽस्मै ददौ प्रीतो वाचं देवीं तया च सः ॥८॥
ऋग्भिश्चतसृभिर्देवान् जगौ वृष्ट्यर्थमेव तु।
अग्निं च सूक्तशेषेण कमैन्द्रं सूक्तमुत्तरम् ॥९॥

और उन्होंने 'बृहस्पते प्रति' (ऋग्वेद १०. ९८, १–३) ऋचाओं से बृहस्पति का यज्ञ किया।

जब जातवेदस् ने इस सूक्त की 'दधामि ते द्युमतीं वाचम् आसन्' (ऋग्वेद १० ९८, २) ऋचा का उन्हें बोध कराया तब प्रसन्न हो कर बृहस्पति ने उन्हें (देवापि को) दिव्य वाक् प्रदान किया, इससे उन्होंने वर्षा कराने के लिये चार ऋचाओं (ऋग्वेद १० ९८, ४–७) से देवों की, और सूक्त की शेष ऋचाओं (ऋग्वेद १०. ९८, ८–१२) से अग्नि की स्तुति की। दूसरा, 'कम्' (ऋग्वेद १०, ९९) सूक्त इन्द्र को सम्बोधित है।

इन्द्र ह्वयेति विश्वेषाम् उदित्यृत्विक्स्तुतिः परम्।
शक्तिप्रकाशनेनैषां विनियोगोऽत्र कीर्त्यते ॥१०॥

'इन्द्र दृह्य' (ऋग्वेद १०. १००) विश्वेदेवों को सम्बोधित है, 'उत्' (ऋग्वेद १०. १०१) से आरम्भ बाद का सूक्त ऋत्विजों की स्तुति है। इन (ऋत्विजों) की शक्ति के प्रकाशन द्वारा यहाँ विनियोग का कीर्तन किया गया है।

३–ऋग्वेद १०. १०२. १०३ के देवता। नकुल का खिल।

प्रेतीतिहाससूक्तं तु मन्यते शाकटायनः।
यास्को द्रौघणमैन्द्रं वा वैश्वदेवं तु शौनकः ॥११॥

शाकटायन 'प्र' (ऋग्वेद १० १०२.) को एक इतिहास-सूक्त मानते

हैं : यास्क का विचार है कि यह द्रुघण अथवा इन्द्र को सम्बोधित है; किन्तु शौनक के विचार से यह विश्वेदेवों को सम्बोधित है।

आजावनेन भार्म्यश्व इन्द्रासोमौ तु मुद्गलः ।
अजयद्वृषभं युक्त्वा ऐन्द्रं च द्रुघणं रथे ॥१२॥

अपने रथ में इन्द्र के एक द्रुघण और वृषभ को संयुक्त करके मुद्गल भार्म्यश्व ने एक प्रतिस्पर्धा में इन्द्र और सोम को इसी (सूक्त) के द्वारा विजित किया था।[1]

[1] तु० की० निरुक्त ९. २३ 'मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर् वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय'; तु० की० ऋग्वेद १० १०२, ५ : 'तेन मुद्गलः प्रधने जिगाय', भी।

युध्यन् संख्ये जयं प्रेप्सुर् ऐन्द्रोऽप्रतिरथो जगौ ।
आशुरैन्द्रमप्वा देवी अमीषामित्यृचि स्तुता ॥१३॥

एक युद्ध में युद्ध करते हुये विजय की इच्छा से अप्रतिरथ ऐन्द्र ने इसी (सूक्त) का गायन किया था।

'आशुः' (ऋग्वेद १०. १०३) इन्द्र को सम्बोधित है : 'अमीषाम्' (ऋग्वेद १०. १०३, १२) ऋचा में देवी अप्वा की स्तुति है।

चतुर्थी बार्हस्पत्या स्यान् नाकुले च महानिति ।
द्वृचस्तु मारुतः प्रेतेत्य् ऐन्द्री वा ब्रह्म यत्परम् ॥१४॥

चतुर्थ ऋचा को तथा नकुल के सूक्त की 'महान्' ऋचा को भी, बृहस्पति को सम्बोधित मानना चाहिये।

अब 'प्रेत' (ऋग्वेद १०. १०३, १३) से आरम्भ दो ऋचायें मरुतों को सम्बोधित हैं, जिनमें से प्रथम वैकल्पिक रूप से इन्द्र को सम्बोधित है। जो (सूक्त) बाद में आता है वह 'ब्रह्म' से आरम्भ होता है।

तत्रानिरुक्तसूक्तादाव् ऋगेका सूर्यमर्चति ।
घर्मपराश्चतस्रस्तु सवितारमभीति या ॥ १५ ॥

इसमें, सूक्त के आरम्भ में जहाँ कोई भी देवता व्यक्त नहीं है,[1] एक ऋचा (१) सूर्य की, और जो 'अभि'[2] (४) से आरम्भ होती है वह सवितृ की अर्चना करती है; जब कि (प्रथम) चार 'घर्म' से निकट रूप से सम्बद्ध हैं।

[1] ऐतरेय ब्राह्मण १ १९, २ में इस मन्त्र के 'ब्रह्म' की बृहस्पति के रूप में व्याख्या की गई है। यह ऋचा = अथर्ववेद ४ १, १। खिल की अनुक्रमणी में द्वितीय ऋचा 'इयं वै पित्र' को 'घर्म स्तुति' बताया गया है. यह = अथर्ववेद ४. १, २। तृतीय ऋचा (महान् मही = तैत्तिरीय संहिता २ ३, १४, ६) को बृहस्पति को सम्बोधित बताया जा चुका है।

[1] यह ऋचा (अभित्य देव सवितारम्) = अथर्ववेद ७ १४, १, वाजसनेयि संहिता ४ २५, तैत्तिरीय संहिता १ २. ६, १, सामवेद १ ४६४ जिसका शतपथ ब्राह्मण १३ ५ १, २२ में भी उल्लेख है।

४—ऋग्वेद १०. १०४–१०५ के देवता। भूतांश काश्यप : ऋग्वेद १०. १०६।

सूक्तशेषस्य षळृचः सूर्याचन्द्रमसौ सह।
तुष्टावेन्द्रमसावीति अष्टकोऽस्मात्परेण तु ॥ १६ ॥

सूक्त की शेष छः ऋचायें सूर्य और चन्द्रमा की साथ-साथ अर्चना करती हैं।

अब 'असावि' (ऋग्वेद १०. १०४) से आरम्भ जो सूक्त इसके बाद आता है, उसमें अष्टक ने इन्द्र की स्तुति की है।

कौत्सः कदा वसो सूक्तं दुर्मित्रो नाम नामतः।
सुमित्रश्चैव नाम स्याद् गुणार्थमितरत्पदम् ॥१७॥

कुत्स के वंशज दुर्मित्र नामक व्यक्ति ने 'कदा वसो' (ऋग्वेद १०. १०५) सूक्त का दर्शन किया। इसका 'सुमित्र' नाम भी हो सकता है जब कि अन्य शब्द (दुर्मित्र) एक गुण[1] को व्यक्त करेगा।

[1] तु० का० सर्वानुक्रमणी - 'कौत्सो दुर्मित्रो नाम्ना सुमित्रो गुणतः, सुमित्रो वा नाम्ना दुर्मित्रो गुणतः।'

भूतांशस्तु प्रजाकामः कर्माणि कृतवान्पुरा।
न हि लेभे प्रजाः काश्चित् काश्यपो मुनिसत्तमः ॥१८॥

अब सन्तान की इच्छा से प्राचीन काल में भूतांश काश्यप ने कर्म किये; क्योंकि इस मुनियों में सर्वश्रेष्ठ ने कोई भी सन्तान नहीं पाई थी।

उवाच भार्या भूतांशं सुतानिच्छसि यावतः।
तावतो जनयिष्यामि देवता द्वन्द्वश स्तुहि ॥ १९ ॥

उसकी पत्नी ने भूतांश से कहा, 'आपकी जितनी इच्छा हो मैं उतने ही पुत्रों का प्रजनन करूँगी : केवल देवों की द्वन्द्व स्तुति करें।'

तमभ्ययुस्तु सर्वाणि द्वन्द्वानि स्तुतिकाम्यया।
तान्यवेक्ष्याथ तच्चक्रे नासत्यौ सूक्तभागिनौ ॥२०॥

अब उनके पास समस्त द्वन्द्व केवल स्तुति की इच्छा से ही आये। उन्हें देखकर उन्होंने स्तुति (ऋग्वेद १०.१०६ में) की : अश्विन् इसके सूक्तभागिन् हैं।

५–ऋग्वेद १०. १०७। सरमा और पणियों की कथा : ऋग्वेद १०. १०८।

तदेतदन्ततो भावाद् आश्विनं सूक्तमुच्यते।
न ह्यस्मिन्देवतालिङ्गं प्रागन्त्याद्दृश्यते पदात् ॥२१॥

इसी सूक्त (ऋग्वेद १०. १०६) को अश्विनों को सम्बोधित कहा गया है क्योंकि अन्त में यही आते हैं। क्योंकि इस सूक्त में अन्तिम पाद के पूर्व देवता का लिङ्ग नहीं आता।

सूक्तेन तु परेणात्र स्वयमाविरभूदिति।
आत्मानमेव तुष्टाव प्राजापत्याथ दक्षिणा ॥२२॥

अब 'आविर् अभूत्' (ऋग्वेद १०. १०७) से आरम्भ बाद में आनेवाले सूक्त से यहाँ दक्षिणा प्राजापत्या ने अपनी स्तुति की है।

दातॄनत्र स्तुतानेके दक्षिणानां ब्रुवन्ति तु।
दातृत्वाद्दक्षिणानां च भोजाश्चतसृभिः स्तुताः ॥२३॥

फिर भी किसी का कथन है कि यहाँ दक्षिणा देनेवालों की स्तुति है; और चूँकि यह दक्षिणा देनेवाले हैं, अतः उदार दाताओं की चार (ऋचाओं) से स्तुति है।[1]

[1] अर्थात् ऋग्वेद १०. १०७, ८–११ में जहाँ 'भोज' के पुरस्कारों का वर्णन है।

असुराः पणयो नाम रसापारनिवासिनः।
गास्तेऽपजह्रुरिन्द्रस्य न्यगूहंश्च प्रयत्नतः ॥ २४ ॥

पणि नाम के असुरगण थे जो रसा के उस पार निवास करते थे। इन

लोगों ने इन्द्र की गायों का अपहरण कर लिया और उन्हें सतर्कतापूर्वक छिपा दिया।

बृहस्पतिस्तथापश्यद् दृष्ट्वेन्द्राय शशंस च।
प्राहिणोत्तत्र दूत्येऽथ सरमां पाकशासनः॥ २५॥

बृहस्पति ने इसे देख लिया और देखने के बाद इन्द्र से बताया। तब पाकशासन (इन्द्र) ने सरमा[1] को वहाँ दूत के रूप में भेजा।

[1] तु० षी० सर्वानुक्रमणी 'अन्वेष्टु सरमा देवशुनाम् इन्द्रेण प्रहिताम्'।

६–सरमा और पणियों की कथा (क्रमशः)।

किमित्यग्र्यायुजाभिस्तां पप्रच्छुः पणयोऽसुराः।
कुतः कस्यासि कल्याणि किं वा कार्यमिहास्ति ते॥२६॥

'किम्' (ऋग्वेद १०. १०८) सूक्त में असुर पणियों ने अयुग्म ऋचाओं[1] द्वारा उससे (सरमा से) पूछा: 'तुम कहाँ से (आ रही हो)? हे कल्याणि तुम किसकी हो? अथवा तुम्हारा यहाँ क्या कार्य है?'

[1] तु० का० सर्वानुक्रमणी. 'अयुग्भिः पणयो मित्रायन्तः प्रोचुः'।

अथाब्रवीत्तान्सरमा दूत्यैन्द्री विचराम्यहम्।
युष्मान्व्रजं चान्विष्यन्ती गाश्चैवेन्द्रस्य पृच्छतः॥ २७॥

तब सरमा ने उनसे कहा: 'मैं इन्द्र के दूत के रूप में विचरण कर रही हूँ; तुम्हें तथा तुम्हारे गोष्ठ और इन्द्र की गायों को ढूँढ़ रही हूँ क्योंकि वह (इन्द्र) उनके (गायों के) सम्बन्ध में पूछ रहे हैं।

विदित्वेन्द्रस्य दूतीं ताम् असुराः पापचेतसः।
ऊचुर्मा सरमे गास्त्वम् इहास्माकं स्वसा भव॥२८॥

यह जानकर कि वह इन्द्र की दूती है, पापी असुरों ने कहा: 'सरमा तुम जाओ नहीं; यहीं हम लोगों की बहन के रूप में रहो।'

विभजामो गवां भागं माहिता ह ततः पुनः।
सूक्तस्यास्यान्त्यया चर्चा युग्माभिस्त्वेव सर्वशः॥२९॥
साब्रवीन्नाहमिच्छामि स्वसृत्वं वा धनानि वा।
पिबेयं तु पयस्तासां गवां यास्ता निगूहथ॥ ३०॥

'हम गायों के अपने अपने भाग का विभाजन कर लें; अब से पुनः हमारे लिये अमित्रवत् न रहो।'

और इस सूक्त की अन्तिम ऋचा (ऋग्वेद १०. १०८, ११) तथा सभी युग्म ऋचाओं से उसने (सरमा) कहा : 'मैं न तो तुम्हारी बहन बनना चाहती हूँ और न तुम्हारा धन ही चाहती हूँ; किन्तु जिन गायों को तुमने वहाँ छिपा रक्खा है उनका दुग्धपान करना चाहूँगी।'

७-सरमा और पणियों की कथा (शेषांश)

अमुरास्तां तथेत्युक्त्वा तदाजह्रुः पयस्ततः।
सा स्वभावाच्च लौल्याच्च पीत्वा तत्पय आसुरम्॥ ३१॥
परं संवननं हृद्यं बलपुष्टिकरं ततः।
शतयोजनविस्ताराम् अतरत्तां रसां पुनः॥ ३२॥
यस्याः पारे परे तेषां पुरमासीत्सुदुर्जयम्।
पप्रच्छेन्द्रश्च सरमां कच्चिद्गा दृष्टवत्यसि॥ ३३॥

उससे 'हाँ' कहते हुये असुरों ने उसे दूध लाकर दिया। और लालच से उसने उस आसुरी दूध का पान कर लिया जो श्रेष्ठ, मोहक, आनन्ददायक, तथा बल को पुष्ट करनेवाला था, और तब वह सौ योजनों के विस्तारवाली रसा को पुनः पार कर गई जिसके उस पार उनका दुर्जेय पुर स्थित था। और इन्द्र ने सरमा से पूछा 'तुमने गायों को कहीं देखा?'

सा नेति प्रत्युवाचेन्द्रं प्रभावादासुरस्य तु।
तां जघान पदा क्रुद्धः उद्गिरन्ती पयस्ततः॥ ३४॥
जगाम सा भयोद्विग्ना पुनरेव पणीन्प्रति।
पदानुसारिपद्धत्या रथेन हरिवाहनः॥ ३५॥
गत्वा जघान च पणीन् गाश्च ताः पुनराहरत्।
तेऽवदन्वैश्वदेवं तु ब्रह्मजाया जुहूर्जगौ॥ ३६॥

किन्तु आसुरी दूध के प्रभाव से उसने इन्द्र को नकारात्मक उत्तर दिया। क्रुद्ध होकर उन्होंने उसे पैर से मारा। तब दूध का वमन करती हुई भय से उद्विग्न होकर वह पुनः पणियों के पास गई। अपने रथ पर बैठ कर हरिवाहन

(इन्द्र) ने उसके पद चिह्नों का अनुसरण करते हुये जाकर पणियों को मारा और गायों को वापस लिया।

अब विश्वेदेवों को समर्पित 'तेऽवदन्' (ऋग्वेद १०. १०९) का ब्रह्मजाया जुहू ने गायन किया।

८–ऋग्वेद १०. १०९–१२० के देवता

जामदग्न्यं समिद्धोऽद्य आप्रीसूक्तमतः परम्।
युगपद्वै व्रजन्तं तं वैरूपा ऋषयस्त्रिभिः॥ ३७॥
इन्द्रं प्रतिजगुः सूक्तैः पणीन्प्रति मनीषिणः।
वैश्वदेवं परं सूक्तं धर्मेत्यकेऽत्र तु स्तुतान्॥ ३८॥
देवानिन्द्रं च मन्यन्ते छन्दांस्यग्निं च मध्यमम्।
आग्नेयं चित्र इत्येतज् जगादर्षिरुपस्तुतः॥ ३९॥

इसके बाद 'समिद्धोऽद्य' (ऋग्वेद १०. ११०) से आरम्भ जमदग्नि का आप्री सूक्त आता है।

'मनीषिण.' (ऋग्वेद १० १११, १) से आरम्भ तीन सूक्तों (ऋग्वेद १० १११–११३) में वैरूप ऋषियों ने उस समय इन्द्र का गायन किया जब वह पणियों के विरुद्ध गये। 'धर्मा' से आरम्भ बाद का सूक्त (ऋग्वेद १०. ११४) विश्वेदेवों को सम्बोधित है। फिर भी, किसी का विचार है कि यहाँ देवों और इन्द्र, छन्दों, और मध्यम अग्नि की स्तुति है। ऋषि उपस्तुत ने 'चित्र' (ऋग्वेद १० ११५) का गायन किया जो अग्नि को सम्बोधित है।

पिबेन्द्रं स्तौति नेत्यग्नं राक्षोघ्नाग्नेयमुत्तरम्।
इति वै लाघमैन्द्रं तद् आप्त्याः षष्ठ्यां निपातिताः॥४०॥

'पिब' (ऋग्वेद १० ११६) इन्द्र की स्तुति करता है और 'न' (ऋग्वेद १० ११७) अन्न की। बाद का सूक्त (ऋग्वेद १० ११८) अग्नि को सम्बोधित (और) राक्षसघ्न है। 'इति वै' (ऋग्वेद १० ११९) लघ को सम्बोधित है। 'तत्' (ऋग्वेद १० १२०) इन्द्र को सम्बोधित है इसकी छठवीं ऋचा में आप्त्यों का नैपातिक उल्लेख है।

९–ऋग्वेद १०. १२१–१२२ के देवता। तीन खिल

प्राजापत्यमथाग्नेयं वैन्यमित्यनुपूर्वशः।
वरुणेन्द्राग्निसोमानाम् इमं न इति संस्तवः॥ ४१॥

इसके बाद क्रम से एक सूक्त प्रजापति (ऋग्वेद १०. १२१) को, एक (ऋग्वेद १०.१२२) अग्नि को, और एक (ऋग्वेद १०.१२३) वेन को सम्बोधित है। 'इमं नः' (ऋग्वेद १०. १२४) में वरुण, इन्द्र, अग्नि, सोम की स्तुति है।[1]

[1] तु० को० सर्वानुक्रमणी : 'अग्निवरुण सोमानाम्'''ऐन्द्रय् उत्तमा'।

चतस्रस्त्वत्र सूक्तादाव् आग्निरात्मस्तवं जगौ।
स्तुतः सोमस्तु षष्ठ्या च नवम्या च पदैस्त्रिभिः ॥ ४२ ॥

अब इस सूक्त के आदि की चार ऋचाओं (ऋग्वेद १०. १२४, १–४) का अग्नि ने अपनी स्तुति में गायन किया; किन्तु छठवीं में तथा नवीं के तीन पादों में सोम की स्तुति है।

वारुण्यस्त्वितरास्तिस्र ऐन्द्रमेवोत्तमं पदम्।
अहं वाक्सूक्तमर्यम्णो मित्रस्य वरुणस्य च ॥ ४३ ॥
न तं रात्र्याः परं सूक्तं वैश्वदेवं ममेति यत्।
नमस्ते वैद्युतं सूक्तम् आशीर्वादः परं तु यत् ॥ ४४ ॥
यां कल्पयन्ति नोऽरयः कृत्यानाशनमात्मनः।
हिरण्यस्तुतिरायुष्यं नासद्यत्परमेष्ठिनः ॥ ४५ ॥

किन्तु शेष तीन (ऋग्वेद १०. १२४, ५. ७. ८) वरुण को, जबकि अन्तिम पाद (नवीं ऋचा का) केवल इन्द्र को सम्बोधित हैं। 'अहम्' (ऋग्वेद १०. १२५) वाच् का सूक्त है। 'न तम्' (ऋग्वेद १०. १२६) अर्यमन्, मित्र और वरुण का है। बाद का सूक्त (ऋग्वेद १०. १२७) रात्री का है। वह जो 'मम' (ऋग्वेद १०. १२८) से आरम्भ होता है, विश्वेदेवों को सम्बोधित है। 'नमम् ते' से आरम्भ विद्युत को सम्बोधित सूक्त आशीर्वाद है। किन्तु 'यां कल्पयन्ति नोऽरयः' से आरम्भ जो बाद में आता है वह अभिचार नाशक है। 'आयुष्यम्' द्वारा अपने लिये स्वर्ण की स्तुति है। 'नासत्' (ऋग्वेद १०. १२९) परमेष्ठिन् को सम्बोधित है।

१०—ऋग्वेद १०. १३०–१३७ के देवता

वदन्ति भाववृत्तं तद् यो यज्ञ इति चोत्तरम्।
अपैन्द्रमत्र त्वाश्विन्यौ चतुर्थी पञ्चमी स्मृते ॥ ४६ ॥

लोग इस (सूक्त) को तथा बाद के सूक्त 'यो यज्ञः' (ऋग्वेद १०. १३०)

को भाववृत्त कहते हैं। 'अप' (ऋग्वेद १०. १३१) इन्द्र को सम्बोधित है, फिर भी, यहाँ चौथी और पाँचवीं ऋचा को अश्विनों को सम्बोधित माना गया है।

मैत्रावरुणमीजानं प्रथमायामृचि स्तुताः।
अर्धर्चे द्यौश्च भूमिश्च अश्विनौ चोत्तरे ततः॥ ४७॥

'ईजानम्' (ऋग्वेद १० १३२) मित्र वरुण को सम्बोधित है। प्रथम ऋचा की प्रथम अर्ध ऋचा म आकाश और पृथिवी की, तथा द्वितीय अर्ध ऋचा में अश्विनों की स्तुति है।

प्रो ष्वैन्द्रे वैश्वदेव्यृक् तु नकिर्देवा मिनीमसि।
यस्मिन्वृक्ष इति त्वस्मिन् सुस्थान स्तूयते यमः॥ ४८॥

'प्रो षु' (ऋग्वद १० १३३, १) से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १० १३३-१३४) इन्द्र को सम्बोधित हैं, किन्तु 'नकिर् देवा मिनीमसि' (ऋग्वेद १० १३४, ७) ऋचा विश्वेदेवों को सम्बोधित है। 'यस्मिन् वृक्षे' (ऋग्वेद १० १३५) में सुस्थानीय यम की स्तुति है।

केश्यग्निं कैशिनं सूक्तम् उत देवाः परं तु यत्।
देवानामत्र चाद्या स्याद् वातदेवस्तृचः परः॥ ४९॥

'केश्य अग्निम्' (ऋग्वेद १० १३६) सूक्त केशिनों को सम्बोधित है, 'उत देवा' से आरम्भ बाद के सूक्त (ऋग्वेद १० १३७) म प्रथम ऋचा को देवों को सम्बोधित मानना चाहिए, बाद की तीन ऋचाओं (ऋग्वेद १० १३७, २-४) के देवता वात हैं।

त्रायन्तां वैश्वदेव्यृक् तु शेषस्त्वब्दैवतः परः।
स्यादेतद्विश्वभैषज्यं रपसो वा विनाशनम्॥ ५०॥

'त्रायन्ताम्' (ऋग्वेद १० १३७, ५) से आरम्भ ऋचा विश्वेदेवों को सम्बोधित है किन्तु इसके बाद जो ऋचायें (ऋग्वेद १० १३७, ६-७) आती हैं उनके देवता जल हैं। इस सूक्त को 'विश्व भैषज्य' अथवा असमर्थता का विनाश करनेवाला मानना चाहिए।

११-'भूमि' खिल। ऋग्वेद १०. १३८-१४२ के देवता

भूमिलक्ष्मं परं सूक्तं तवैन्द्रं सूक्तमुत्तरम्।
सूर्यरश्मिरिति त्वस्मिन् सावित्रः प्रथमस्तृचः॥ ५१॥

बाद का 'भूमिः'[1] सूक्त लाक्षा को सम्बोधित है। इसके बाद का 'तव' (ऋग्वेद १०. १३८) सूक्त इन्द्र को सम्बोधित है। 'सूर्यरश्मिः' (ऋग्वेद १०. १३९) सूक्त की प्रथम तीन ऋचायें सवितृ को सम्बोधित हैं।

[1] 'भूमिर् माता, नभः पिता, अर्यमा ते पितामहः' से आरम्भ सात ऋचाओं का खिल।

आत्मा स्तुतः परोक्षस्तु गन्धर्वेणोत्तरे तृचे।
इन्द्रो वैष निपातेन अथवा सूर्य उच्यते ॥ ५२ ॥

अब बाद की तीन ऋचाओं (ऋग्वेद १०. १३९, ४–६) में गन्धर्व द्वारा परोक्ष रूप से आत्मस्तुति है: इसे नैपातिक रूप से इन्द्र अथवा सूर्य कहा गया है।

सूक्तेऽस्मिन्देवतास्तिस्र एता एव प्रकीर्तिताः।
आग्नेयं त्वग्ने तवेति अग्ने अच्छेति यत्परम् ॥ ५३ ॥
आग्नेयं वैश्वदेवं च अयमित्यत्र तु द्वृचाः।
शार्ङ्गाश्चत्वार ऋषयो अग्निमार्चन्पृथक्पृथक् ॥ ५४ ॥

इस सूक्त (१०. १३९) में केवल इन्हीं तीन[1] देवताओं की प्रशस्ति है। अब 'अग्ने तव' (ऋग्वेद १०. १४०) अग्नि को सम्बोधित है, 'अग्ने अच्छ' (ऋग्वेद १०. १४१) से आरम्भ जो बाद में आता है वह अग्नि तथा विश्वेदेवों को सम्बोधित है। अब 'अयम्' (ऋग्वेद १०. १४२) सूक्त में द्वि-ऋचाओं के द्रष्टाओं के रूप में चार शार्ङ्गों ने पृथक्-पृथक्[2] अग्नि की अर्चना की है।

[1] अर्थात् सवितृ, इन्द्र, सूर्य।

[2] अर्थात् प्रत्येक ने दो-दो ऋचाओं से। तु० की० सर्वानुक्रमणी: 'अयम् : अष्टौ; द्वृचाः शार्ङ्गाः', "आग्नेयम्"; देखिये 'द्वृच' का व्याख्या के लिये षड्गुरुशिष्य।

१२. ऋग्वेद १०. १४३–१५४ के देवता। खिल : मेधासूक्त।

आश्विनं त्यं चिदित्येतद् अयमैन्द्रं ततः परम्।
इमां खनाम्योति सूक्तम् इन्द्राणी यत्स्वयं जगौ ॥ ५५ ॥
तदौपनिषदं षट्कं भावबृत्तं प्रचक्षते।
उत्तानपर्णा पाठां तु स्तौति सूक्ते महौषधिम् ॥ ५६ ॥

'त्यं चिद्' (ऋग्वेद १०. १४३) सूक्त अश्विनों को सम्बोधित है। 'अयम्' (ऋग्वेद १०. १४४) से आरम्भ इसके बाद का इन्द्र को सम्बोधित

है। 'इमां खनामि' (ऋग्वेद १०. १४५) मे आरम्भ सूक्त को, जिसको स्वयं इन्द्राणी ने गाया है, उन लोगों ने छः ऋचाओं वाला एक औपनिषदिक भाववृत्त कहा है।

अब इस सूक्त मे उसने (द्रष्टा ने) फैली हुई पत्तियों[1] वाली 'पाठा' नामक समर्थ महौषधि की स्तुति की है ·

[1] ओषधि की एक विशिष्टता के रूप में 'उत्तानपर्णा' शब्द ऋग्वेद १० १४५, २ में आता है।

पतिसंवननी त्वन्त्यान्याः सपत्न्यपनोदिकाः ।
अरण्यानीत्यरण्यान्या स्तुतिरैन्द्रे प्रवुत्तरे ॥ ५७ ॥

अब अन्तिम ऋचा (ऋग्वेद १०. १४५, ६) का प्रयोजन पति का प्रेम प्राप्त करना तथा शेप का सपत्नि[1] (सौत) का प्रतिकार करना है।

'अरण्यानि' (ऋग्वेद १०. १४६) में अरण्यानी की स्तुति है। 'प्रव' (ऋग्वेद १०. १४७, १) से आरम्भ बाद के दो सूक्त (१०. १४७–१४८) इन्द्र को सम्बोधित हैं।

[1] सर्वानुक्रमणी में 'सपत्नी बाधनम् ' है, जिसकी ऋग्विधान ४. २२, ३ के इन शब्दों से तुलना करें . 'सपत्नीम् बाधते तेन'।

सावित्रं सविता यन्त्रैः समिद्धश्चित्समिध्यसे ।
आग्नेयं श्रद्धया श्राद्धं मेधासूक्तमतः परम् ॥ ५८ ॥

'सविता यन्त्रै.' (ऋग्वेद १०. १४९) सवितृ को सम्बोधित है। 'समिद्धश् चित् सम् इध्यसे' (ऋग्वेद १०. १५०) अग्नि को सम्बोधित है। 'श्रद्धया' (ऋग्वेद १०. १५१) श्रद्धा को सम्बोधित है। इसके बाद 'मेधा-सूक्त'[1] आता है।

[1] यह एक खिल है, जिसका ऋग्विधान ४ १४, २ में 'मेधासूक्तम्' के नाम से उल्लेख है।

आग्नेयमा सूरेत्वेतच् छास ऐन्द्रे ततः परे ।
सोम एकेभ्य इत्येतद् भाववृत्तं प्रचक्षते ॥ ५९ ॥

'आ सूर् एतु'[1] सूक्त अग्नि को सम्बोधित है। इसके बाद 'शास.' से आरम्भ इन्द्र को सम्बोधित दो सूक्त (ऋग्वेद १०. १५२–१५३) आते हैं। 'सोम एकेभ्य.' (ऋग्वेद १०.१५४) सूक्त को वह भाववृत्त कहते हैं।

[1] यह भी एक खिल है जो बारम्बार संग्रह में मेधासूक्त के ठीक बाद आता है।

१३–ऋग्वेद १०. १५५–१५९ के देवता

यदरायीत्यलक्ष्मीघ्नं तत्र चत्तो इति द्धचे।
प्राधान्याद्वा निपाताद्वा स्तूयते ब्रह्मणस्पतिः ॥ ६० ॥
इन्द्रश्चैव यदित्यस्यां विश्वे देवाः परीत्यृचि।
आग्नेयं चाग्निमित्येतद् वैश्वदेवमिमा नु कम् ॥ ६१ ॥

'अरायि' (ऋग्वेद १०. १५५) दुर्भाग्य[1] का नाशक है: इसमें 'चत्तो' से आरम्भ दो ऋचाओं (ऋग्वेद १०. १५५, २–३) में ब्रह्मणस्पति की या तो प्रधान देवता के रूप में अथवा नैपातिक रूप में स्तुति है; और 'यद्' (ऋग्वेद १०. १५५, ४) ऋचा में इन्द्र की तथा 'परि (ऋग्वेद १०. १५५ ५) ऋचा में विश्वेदेवों की स्तुति है। और 'अग्निम्' (ऋग्वेद १०. १५६) अग्नि को सम्बोधित है। 'इमा नु कम्' (ऋग्वेद १०. १५७) विश्वेदेवों को सम्बोधित है।

[1] सर्वानुक्रमणी में यही 'अलक्ष्मीघ्नम्' शब्द आया है; तु० कॊ० ऋग्विधान ४. १५, २ : 'अलक्ष्मीनाशनार्थम्'।

इन्द्रः प्राधान्यतस्त्वत्र विश्वैर्देवैः सह स्तुतः।
आदित्यैश्च मरुद्भिश्च तथारूपं हि दृश्यते ॥ ६२ ॥

फिर भी विश्वेदेवों, और आदित्यों और मरुतों के साथ-साथ यहां इन्द्र[1] की प्रधान स्तुति है, क्योंकि सूक्त का रूप प्रत्यक्षतः ऐसा ही है।

[1] सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद १०. १५७ को केवल 'वैश्वदेवम्' कहा गया है।

सूर्यो न इति सौर्यं तु यत्त्वेतदुदसाविति।
पौलोमी स्वान्गुणांस्तत्र सपत्नीनां च शंसति ॥ ६३ ॥

अब 'सूर्यो नः' (ऋग्वेद १०, १५८) सूर्य को सम्बोधित है; किन्तु 'उद् असौ' (ऋग्वेद १०. १५९) में पौलोमी ने स्वयं अपने गुणों तथा अपनी सपत्नियों के गुणों की प्रशस्ति की है।

१४–ऋग्वेद १०. १६०–१६४ के देवता। ऋषि कपोत नैर्ऋत।

ऐन्द्रं तीव्रस्य मुञ्चामि भैषज्यं यक्ष्मनाशनम्।
राजयक्ष्मघ्नं सूक्तं प्राजापत्यं तदुच्यते ॥ ६४ ॥

'तीव्रस्य' (ऋग्वेद १०. १६०) इन्द्र को सम्बोधित है। 'मुञ्चामि' (ऋग्वेद १०. १६१) एक यक्ष्मनाशक उपचार है। इस प्राजापत्य[1] सूक्त को 'राज-यक्ष्मा'[2] का विनाशक कहा गया है।

[1] सर्वानुक्रमणी और आर्षानुक्रमणी में इस सूक्त के द्रष्टा को 'प्राजापत्य यक्ष्मनाशन' कहा गया है।

[2] सर्वानुक्रमणी में इसे 'रात्रयक्ष्मघ्नम्' कहा गया है।

ऐन्द्राग्नं मन्यते यास्क एके लिङ्गोक्तदैवतम्।
राक्षोघ्नाग्नेयमित्युक्तं यत्त्वेतद्ब्रह्मणेति तु ॥ ६५ ॥

यास्क का विचार है यह सूक्त इन्द्र-अग्नि को सम्बोधित है, कुछ के विचार से यह लिङ्गोक्त-देवताओं को सम्बोधित है। 'अत्र' 'ब्रह्मणा' (ऋग्वेद १०. १६२) को 'राक्षसघ्न', तथा अग्नि को सम्बोधित कहा गया है।

स्रवतामपि गर्भाणां इष्टं तदनुमन्त्रणम्।
वैन्यं तु वेनस्तत्पश्यद् अक्षीभ्यां यक्ष्मनाशनम् ॥६६॥

इसे जन्म ले रहे गर्भ के इष्ट की स्तुति भी माना गया है। 'वेनम् तद् पश्यत्'[1] वेन को सम्बोधित है। 'अक्षीभ्याम्' (ऋग्वेद १०. १६३) यक्ष्म-विनाशक है।

[1] यह ऋग्वेद १० १६२ के पहले आनेवाली तीन ऋचाओं का खिल है। अनुक्रमणी में इसे 'वेनम्, तृच वेनो, भाववृत्त तु' के रूप में व्यक्त किया गया है।

दुःस्वप्नघ्नमपेहीति निपातीन्द्रोऽग्निरेव च।
आसीदृषिर्दीर्घतपाः कपोतो नाम नैर्ऋतः ॥ ६७ ॥

'अपेहि' (ऋग्वेद १०. १६४) दुःस्वप्न विनाशक है: इसमें इन्द्र और अग्नि नैपातिक हैं।

कपोत नैर्ऋत नामक एक ऋषि था जिसने दीर्घकाल तक तप किया।

१५—ऋग्वेद १०. १६५-१७४ के देवता

अकरोत्कपोतस्तस्याख्याम् अग्निधाने पदं किल।
स तमात्महितैर्वाक्यैः कपोतं स्तुतवानृषिः ॥ ६८ ॥
देवा इति तु सूक्तेन प्रायश्चित्तार्थमुच्यते।
ऋषभं मा सपत्नघ्नं येनेदमिति मानसम् ॥ ६९ ॥

ऐसा कथन है कि एक बार में कपोत ने इनके अग्निधान पर अपना पैर रख दिया था: ऋषि ने आत्महितैषी वाक्यों से 'देवा.' (ऋग्वेद १०. १६५) सूक्त द्वारा कपोत की स्तुति की: इसे प्रायश्चित्तार्थक' कहा गया है। 'ऋषभम् मा' (ऋग्वेद १०. १६६) सपत्नघ्न है। 'येनेदम्'[2] मानस को सम्बोधित है।

[1] तु० ष०० सर्वानुक्रमणी : 'प्रायश्चित्तम् इदम्'।

[2] यह ऋग्वेद १०. १६७ के पहले आने वाला एक तीन ऋचाओं का खिल है और 'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्' से आरम्भ होता है।

तुभ्येत्यृषी ददृशतुर् ऐन्द्रं गाधिनभार्गवौ।
वरुणो विधातानुमतिर् धाता सोमो बृहस्पतिः॥ ७०॥
षळेता देवतास्तत्र तृतीयायामृचि स्तुताः।
वातस्येति परेणास्तौद् अनिलः पितरं स्वकम्॥ ७१॥

गाधिन (विश्वामित्र)[1] और भार्गव (जमदग्नि), इन दो ऋषियों ने 'तुभ्य' (ऋग्वेद १०. १६७) से आरम्भ इन्द्र को सम्बोधित सूक्त का दर्शन किया। यहाँ तृतीय ऋचा (ऋग्वेद १०. १६७, ३)[2] में वरुण, विधातृ, अनुमति, धातृ, सोम, बृहस्पति—इन छः देवताओं की स्तुति है। 'वातस्य' (ऋग्वेद १०. १६८) से आरम्भ वायु के सूक्त द्वारा अनिल ने अपने पिता[3] की स्तुति की।

[1] तु० की० आर्षानुक्रमणी : 'विश्वामित्रजमदग्नी (= सर्वानुक्रमणी) ऋषिर् गाधिन-भार्गवौ'।

[2] सर्वानुक्रमणी : 'तृतीया लिङ्गोक्तदेवता'; तु० की० षड्गुरुशिष्य।

[3] तु० की० आर्षानुक्रमणी १० ८७; 'वातायनो मुनिः सूक्तं वातस्येत्य् अनिलो जगौ।'

मयोभूरिति यत्सूक्तम् अपश्यच्छबर ऋषिः।
नानारूपाः पयस्विन्यो गावस्तत्र तु संस्तुताः॥ ७२॥

'मयोभूः' (ऋग्वेद १०. १६९) से आरम्भ सूक्त का शबर[1] ऋषि ने दर्शन किया। यहाँ नाना रूपों की पयस्विनियों (दूध देने वाले पशुओं) की स्तुति है।[2]

[1] शबर का नाम आर्षानुक्रमणी तथा सर्वानुक्रमणी में आता है।

[2] सर्वानुक्रमणी इस सूक्त का केवल 'गव्यम्' के रूप में वर्णन करता है।

विभ्राट् सौर्यं त्वं त्यमैन्द्रम् आ याहीत्युपस स्तुतिः।
आ त्वा राज्ञेऽभिषिक्ताय द्वे सूक्ते चानुमन्त्रणे॥७३॥

'विभ्राट्' (ऋग्वेद १०. १७०) सूर्य को सम्बोधित है; 'त्वं त्यम्' (ऋग्वेद १०. १७१) इन्द्र को सम्बोधित है; 'आ याहि' (ऋग्वेद १०. १७२) में उषस् की स्तुति है, और 'आ त्वा' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १०. १७३–१७४)[1] अभिषिक्त राजा का अनुमन्त्रण करते हैं।

[1] सर्वानुक्रमणी ने इन दोनों को 'राजस्तुति' कहा है। तु० ब्रा० ऋग्विधान ४ २२,४।

१६–ऋग्वेद १०. १७५–१८१ के देवता।

प्र व इत्युत्तरं ग्राव्णां ददर्श स्तुतिमार्बुदिः।
यत्त्वतः परमाग्नेयं तत्रार्त्वृक् प्र सूनवः ॥ ७४ ॥

पाषाणों की स्तुति के रूप में आर्बुदि[1] ने बाद के 'प्र व' (ऋग्वेद १०. १७५) सूक्त का दर्शन किया। अब जो बाद में आता है वह अग्नि को सम्बोधित है यहाँ 'प्र सूनव' (ऋग्वेद १० १७६, १) से आरम्भ तीन ऋचायें ऋतुओं को सम्बोधित हैं।

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी 'प्र व ... आर्बुदिर् ग्राव्णोऽस्तौत्'।

ऋषिर्जगौ पतंगस्तु पतंगमिति यत्परम्।
तत्सौर्यमेके मन्यन्ते मायाभेदं तथापरे ॥ ७५ ॥

अब बाद में आनेवाले 'पतंगम्' सूक्त (ऋग्वेद १० १७७) का पतंग ऋषि ने गायन किया, कोई इसे सूर्य को सम्बोधित मानता है, जब कि अन्य 'मायाभेदक'[1] मानते हैं।

[1] इस सूक्त का वर्णन करने के लिये सर्वानुक्रमणी ने भी इसी शब्द का प्रयोग किया है। तु० की० ऋग्विधान ४ २२,५ 'मायाभेदनम् एतत्।'

मायाभेदे द्वितीयायां वाक् स्तुतेत्याह शौनकः।
देवी बिभर्ति मनसा या वाचं विदितां सताम् ॥ ७६ ॥

इस माया-भेदक सूक्त में, शौनक का कथन है कि, द्वितीय ऋचा (ऋग्वेद १० १७७, २) में उस देवी वाच् की स्तुति है जो अपने हृदय[1] में सुविदित[2] वाणी को धारण कर रखती है।

[1] तु० की० ऋग्वेद १० १७७, २ में यह शब्द 'पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति' घोतमानाम्।'

[2] इससे सम्भवतः ऋग्वेद १ १६४, ४५ में वर्णित चार प्रकार के वाच से तात्पर्य है 'तानि विदुर् ब्राह्मणा ... तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।'

त्यमू षु तार्क्ष्यदैवत्यं सूक्तं स्वस्त्ययनं विदुः।
उदैन्द्रे वैश्वदेवं तु प्रथश्चेति च यत्परम् ॥ ७७ ॥

'त्यम् ऊ षु' (ऋग्वेद १० १७८) सूक्त को, जिसके देवता तार्क्ष्य हैं, वह लोग 'स्वस्त्ययन' करने वाला मानते हैं।[1] 'उत्' से आरम्भ दो सूक्त (ऋग्वेद १० १७९–१८०) इन्द्र को सम्बोधित हैं, जब कि जो कि इनके

बाद में 'प्रथश् च' (ऋग्वेद १०. १८१) आता है जो विश्वेदेवों को सम्बोधित है।

[1] तु० की० ऋग्विधान ४. २३, २ . 'त्यम् ऊ षु इति स्वस्त्ययनम्'।

१७—ऋग्वेद १०. १८२-१८४ के देवता

आत्मप्रभावमाचख्युस् तत्राद्या ऋषयस्त्रयः।
रथंतरं यथा स्तोत्रं स्तोत्रं चैव यथा बृहत् ॥७८॥
यथा च संभूतो घर्मः सवितुश्चोपलक्ष्यते।
बृहस्पतिरिति त्वस्मिन् स्तुतः सूक्ते बृहस्पतिः ॥७९॥

इसमें प्रथम तीन ऋषियों ने स्वयं अपने प्रभाव को व्यक्त किया है। किस प्रकार रथंतर स्तोत्र और किस प्रकार बृहत् स्तोत्र, और किस प्रकार घर्म सवितृ से उत्पन्न हुये, इसका वर्णन निहित है। अब 'बृहस्पतिः' (ऋग्वेद १०. १८२) सूक्त में बृहस्पति की स्तुति है।

आशिषो यजमानस्य केचिदेतां स्तुतिं विदुः।
प्राजापत्यस्य यत्सूक्तम् अपश्यं त्वा प्रजावतः ॥८०॥
प्रत्यृचं देवता स्तौति लिङ्गैरेवात्र लक्षिताः।
आशिषः पुत्रकामस्य प्रथमा हि वदत्यथ ॥८१॥
द्वितीया पुत्रकामायास् तृतीयात्मस्तवं त्वृषेः।
यद्विष्णुरिति सूक्तं तु वैश्वदेवं प्रचक्षते ॥८२॥

कुछ लोग इस स्तुति (बृहस्पति की) को यजमान की स्तुति मानते हैं। 'अपश्यं त्वा' (ऋग्वेद १०. १८३) से आरम्भ प्रजावत् प्राजापत्य के सूक्त में प्रत्येक ऋचा के लिङ्ग से व्यक्त देवताओं की स्तुति है: अर्थात् प्रथम ऋचा में पुत्र की इच्छा रखनेवाले के लिये आशिष् है,[1] इसके बाद द्वितीय में पुत्र की इच्छा रखनेवाली स्त्री के लिये; जब कि तृतीय ऋषि की आत्मस्तुति है। अब 'विष्णुः' (ऋग्वेद १०. १८४) से आरम्भ सूक्त को वह लोग विश्वदेवों[2] को सम्बोधित बताते हैं।

[1] तीनों ऋचाओं में क्रमशः यजमान, उसकी पत्नी, और होतृ ही देवता हैं: तु० का० सर्वानुक्रमणी: 'अन्वृचं यजमानपत्नीहोत्राशिषः'।

[2] सर्वानुक्रमणी में इस सूक्त को 'लिङ्गोक्तदेवत' बताया गया है।

तस्मिन्स्वदारगर्भार्थम् ऋषिराशास्त आशिषः ।
परं तु नेजमेषेति गर्भार्थं वा तदुच्यते ॥८३॥

इसमें ऋषि ने अपनी पत्नी के गर्भ[1] धारणार्थ आशिष् कहा है। अब बाद का सूक्त 'नेजमेष'[2] है। इसे वैकल्पिक रूप से गर्भार्थक कहा गया है।

[1] तु० वी० सर्वानुक्रमणी 'गर्भाशंसा'।
[2] यह ऋग्वेद १० १८५ के पहले आनेवाला तीन ऋचाओं का खिल है।

१८-'नेजमेष' खिल। ऋग्वेद १०. १८५-१८८ के देवता

अस्यै मे पुत्रकामायै गर्भमा धेहि यः पुमान् ।
आशिषो योगमेतं हि सर्वमर्धेन मन्यते ॥८४॥
एकारमनुकम्पार्थे नाम्नि स्मरति माठरः ।
आख्याते भूतकरणं वाष्कला आख्ययोरिति ॥८५॥

'पुत्र की इच्छा रखनेवाली मेरी इस स्त्री को सन्तान प्रदान करें जो पुरुष हो'—सम्पूर्ण ऋचा के इस अर्धभाग से उनका इस सम्पूर्ण आशिष्-योग से तात्पर्य है। माठर यह मानते हैं कि (नेजमेष) नाम में 'एकार' का अनुकम्पार्थक तात्पर्य है, जब कि वाष्कलों का कथन है कि (आधेहि) आख्यात में दो 'एकारों' का 'आख्य'[1] के आशय में भूतकालिक अर्थ है।

[1] अर्थात् 'आधेहि' यहाँ = आदधौ।

मा हिंस्रं यन्महि त्रीणाम् आदित्यानां स्तुतिं विदुः ।
वरुणार्यममित्राणाम् आदित्येष्वितरेषु तु ॥८६॥
एत एव त्रयो देवा स्तुताः स्वल्पेष्वतोऽन्यथा ।
शान्त्यर्थं सूक्तमेतद्धि पावनं चैव वै श्रुतम् ।
यातामपि स्वस्त्ययने दृष्टं तदनुमन्त्रणम् ॥८७॥

'महि त्रीणाम्' (ऋग्वेद १० १८५) से आरम्भ सूक्त को वह लोग आदित्यों, वरुण, अर्यमन्, मित्र, की स्तुति मानते हैं। अब इसको छोड़कर आदित्यों को सम्बोधित अत्यन्त कम सूक्त ही ऐसे हैं जिनमें केवल इन तीनों देवों की स्तुति हो। श्रुति के अनुसार यह शान्त्यार्थक सूक्त, तथा पवित्र कारक भी है।

इसे यात्रियों[1] के आमन्त्रण में भी कल्याणकारी माना गया है।

[1] तु० बा० आश्वलायन ८. २१, ३ : 'नहि त्वायाम् अन्तोऽस्त्यन्‌ इति स्वस्त्ययनं जपेत् ।
देखिये ऋग्वेद ८. ८३, ६ : 'क्षियन्तो यान्तो अध्वन्ना रेवो वृधाय हूमहे ।' सर्वा-
नुक्रमणी में भी इस सूक्त को 'स्वस्त्ययनम्' कहा गया है ।

उलोऽस्तौत्पितरं वातं वात आग्नेयमुत्तरम् ।
विस्पष्टं जातवेदस्यं प्रेति दाशतयीषु तु ॥८८॥

'वातः' (ऋग्वेद १०. १८६) से उल ने अपने पिता की स्तुति की । बाद का सूक्त (ऋग्वेद १०. १८७) अग्नि को सम्बोधित है । किन्तु दस मण्डलों में 'प्र' (ऋग्वेद १०. १८८) से आरम्भ एक सूक्त स्पष्टरूप से जातवेदस्[1] को सम्बोधित है ।

[1] क्योंकि यहाँ केवल 'जातवेदस' नाम का ही उल्लेख है । अनुक्रमणी में भी इस सूक्त को 'जातवेदस्यम्' कहा गया है ।

१९—ऋग्वेद १०. १८९, १९० । 'संज्ञानम्' खिल

यत्किञ्चिदन्यदाग्नेयं जातवेदस्यमुच्यते ।
आयं गौरिति यत्सूक्तं सार्पराज्ञी स्वयं जगौ ॥८९॥

अन्य जो कुछ भी जातवेदस्[1] को सम्बोधित कहा गया है, वह (वास्तव में) अग्नि को सम्बोधित है । 'आयं गौः' (ऋग्वेद १०. १८९) सूक्त का सार्पराज्ञी[2] ने अपने लिये गायन किया है ।

[1] ऊपर १. ६७ में जातवेदस् को मध्यम अग्नि कहा गया है । ऋग्वेद १०. १८८ के अतिरिक्त, सर्वानुक्रमणी ने केवल एक ही अन्य सूक्त (ऋग्वेद १. ९९) को जातवेदस्यम् कहा है ।

[2] तु० की० सर्वानुक्रमणी : 'सार्पराज्ञी आत्मदैवतं सौर्यं वा ।'

तस्मात्सा देवता तत्र सूर्यमेके प्रचक्षते ।
मुद्गलः शाकपूणिश्च आचार्यः शाकटायनः ॥९०॥
त्रिस्थानाधिष्ठितां वाचं मन्यन्ते सर्पराज्ञीं स्तुताम् ।
भाववृत्तं परं सूक्तं ददर्शाथाघमर्षणः ॥९१॥
परं न विद्यते यस्मात् शान्त्यै वा पावनाय वा ।
यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वरिप्रप्रणोदनः ॥९२॥
तथाघमर्षणं ब्रह्म सर्वरिप्रप्रणोदनम् ।
तदादीनीति यच्चातः संज्ञानं ज्ञानसंस्तवः ॥९३॥

अतः इसमें यही देवता है, कोई सूर्य को (देवता) बताते हैं । मुद्गल,

शाकपूणि, और आचार्य शाकटायन का विचार है कि यहाँ प्रत्येक ऋचा में तीन स्थानों की अधिष्ठात्री के रूप में वाच् की स्तुति है। बाद के उस भाववृत्त[1] सूक्त (ऋग्वेद १० १९०) का अघमर्षण ने दर्शन किया जिससे समृद्धि अथवा पवित्रता के लिये श्रेष्ठ अन्य कोई (सूक्त) विद्यमान नहीं है। जिस प्रकार हर प्रकार की अशक्तता[2] को दूर करने के लिये प्रमुख प्रणोद है, उसी प्रकार अघमर्षण स्तुति समस्त अशक्तता को दूर करती है। अब इसके (ऋग्वेद १० १९०) बाद में आनेवाले सूक्तों में से 'संज्ञानम्'[3] से आरम्भ सूक्त में ज्ञान की स्तुति है।

[1] तु० का० सर्वानुक्रमणी 'अघमर्षणो, भाववृत्तम्'।
[2] तु० का० ऋग्विधान ४ २३, ५ 'पवित्राणां पवित्रं तु जपेद् एवाघमर्षणम्'।
[3] काश्मीर संग्रह में ५वें अध्याय का प्रथम खिल है।

२०—दो खिल। ऋग्वेद १०. १९१। महानाम्नी ऋचायें।

चतुर्थं यत्तु नैर्हस्त्यं तत्सपत्ननिबर्हणम्।
संसमित् प्राध्वराणां चेत्य् आग्नेय्यावेव ते स्मृते ॥९४॥

अब 'नैर्हस्त्यम्' सपत्न विनाशक है।[1] 'संसम् इत्' (ऋग्वेद १०. १९१, १) और 'प्राध्वराणाम्'[2] को अग्नि को सम्बोधित दो ऋचायें माना गया है।

[1] यह खिल काश्मीर संग्रह में 'संज्ञानम्' के बाद आता है। इसमें 'नैर्हस्त्य सेनादरणम्' से आरम्भ तीन ऋचायें हैं।
[2] यह 'प्राध्वराणां पते वसो' से आरम्भ सात ऋचाओं का खिल है जो 'नैर्हस्त्यम्' के बाद आता है।

उशना वरुणश्चेन्द्रश् चाग्निश्च सविता स्तुताः।
संज्ञाने प्रथमस्यां तु द्वितीयस्यामथाश्विनौ ॥ ९५ ॥

अब 'संज्ञानम्' की प्रथम ऋचा में उशना, वरुण, इन्द्र, अग्नि और सवितृ की, और इसके बाद द्वितीय में अश्विनों की स्तुति है।

तृतीया चोत्तमे च द्वे आशिषोऽभिवदन्ति ताः।
इन्द्रः पूषा सपत्नघ्ने द्वितीयस्यामृचि स्तुतौ ॥९६॥

तीसरी और अन्तिम दो (३, ४, ५) आशिस् को अभिव्यक्ति करती हैं। 'सपत्नघ्न'[1] की दूसरी ऋचा में इन्द्र और पूषन् की स्तुति है।

[1] अर्थात् 'नैर्हस्त्यम्' की। इन दोनों देवताओं का इस खिल की दूसरी ऋचा में उल्लेख है।

देवानामितराः प्रोक्ता आशीर्वादपराश्च याः ।
संसं संज्ञानमित्येते परं संवननं विदुः ॥ ९७ ॥

और अन्य ऋचाओं को, जो कि प्रमुखतः आशीर्वादों से सम्बद्ध हैं, देवों को सम्बोधित कहा गया है। वह लोग 'सं-सम्' (ऋग्वेद १०. १९१) और 'संज्ञानम्' को सहमति[1] के लिए सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

[1] ऋग्विधान ४. २४, ४. ५ में 'सं-सम्' का 'मौभ्रतुकाएं महत्' के रूप में और 'संज्ञानम्' का 'सन्धिकरम्' के रूप में वर्णन है।

महानाम्न्य ऋचो गुह्यास् ता ऐन्द्रयश्चैव यो वदेत् ।
सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्ब्राह्मं स राध्यते ॥ ९८ ॥

'महानाम्नी ऋचायें गुह्य हैं और वह इन्द्र को सम्बोधित हैं। जो भी इसका आराधन करता है वह सहस्र वर्ष की अवधि वाला ब्रह्म का एक दिन प्राप्त करता है।'[1]

[1] तु० की० भागवद्गीता ८. १७ : 'सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर् यद् ब्रह्मणो विदुः' जो थोड़े परिवर्तन के साथ निरुक्त १४ ४ में आया है। मनुस्मृति १. ७३ में भी यह कुछ इस प्रकार परिवर्तित रूप में आया है : 'तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यम् अहर् विदुः।'

२१–महानाम्नी ऋचायें : सूक्त क्या होता है

तृचाधमं याज्ञिकाः सूक्तमाहुस्
तस्मिन्स्तुतौ दृश्यन्ते याः सूक्तभाजः ।
प्रधानमुक्तं किल देवता याः
सूक्तभाजः सर्वदा शौनकेन ॥ ९९ ॥

याज्ञिकों का कथन है कि एक सूक्त में कम से कम तीन ऋचायें होती हैं।[1] इनमें जिन देवताओं की स्तुति[2] होती है वही इनके सूक्तभाज् होते हैं। जैसा कि सुविदित है, शौनक ने यह कहा है कि सूक्तभाज् देवता सदैव ही (स्तुति के) प्रधान विषय होते हैं।

[1] इसके अनुसार ऋग्वेद १. ९९, सूक्त नहीं होगा।
[2] तु० की० ऊपर १. २४३ : स्तुतौ दस्येह दृश्यते', और देखिये ६. १६ भी।

ऐन्द्र्यश्चो महानाम्नीस्तु विद्यात्
तथा हि दृष्टं ब्राह्मणे सूक्तशब्दः ।

न दृश्यते सूक्तवादो निवित्सु
यथा प्रैवेष्वाह सूक्ताभिधानम् ॥ १०० ॥

अब यह जानना चाहिये कि महानाम्नी इन्द्र को सम्बोधित ऋचायें होती हैं, क्योंकि एक बार ब्राह्मण[2] में ऐसा ही वक्तव्य आता है।

सूक्त शब्द इनके लिये व्यवहृत दिखाई नहीं पड़ता, 'सूक्तवाद' का उसी प्रकार निविदों के सम्बन्ध में प्रयोग होता है, जैसे सूक्त की अभिधा को प्रैषों के लिये व्यवहार किया जाता है।

[1] यह ऋचायें (= ऐतरेय आरण्यक ४) उस खिल का निर्माण करती हैं जो शाकल्य समह में 'प्राध्वरागान्' के बाद आता है।

[2] तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ४ ७ २ 'इन्द्रो वा एताभिर् महान् आत्मान निरमिमीत, तस्मान् महानाम्न्य', तु० की० कौषीतकि ब्राह्मण २३ २, भा।

सूक्तैकदेशा इति तान्प्रतीयाद्
अन्याश्च कुन्त्याः पदशो विशस्ता।
यथैतशो देवनीथादिसंज्ञा
कुन्तापे तत्सर्वमेकं हि सूक्तम् ॥ १०१ ॥

ऐसा समझना चाहिये कि यह[1] एक सूक्त के एक एक भाग हैं, तथा साथ ही साथ पादों[2] से पृथक् कुन्त्या[3] ऋचायें, जैसे ऐतश प्रलाप, तथा देवनीथ सञ्ज्ञक पाद, इत्यादि, भी ऐसे ही हैं, क्योंकि कुन्ताप म यह सब एक ही सूक्त हैं।

[1] अर्थात् निविद् सूक्तों में निविद् और 'प्रैषिक सूक्तम्' में प्रैष।

[2] ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि ऐतश प्रलाप (ऋग्वेद ६ ३३, १४-१५) और देवनीथ (ऋग्वेद ६ ३५, २२) के प्रत्येक पाद को 'ओम्' के साथ निविद् की भाँति उच्चारण करना चाहिये।

[3] 'कुन्त्या' शब्द अन्यत्र नहीं मिलता। यहाँ इसका अर्थ 'कुन्ताप की ऋचायें' ही होना चाहिये।

पुरीषपदमासां तु प्रथमं स्यात्प्रजापतेः।
आग्नेयमैन्द्रं वैष्णवं पौष्णं चैव तु पञ्चमम् ॥ १०२ ॥

अब इनमें (महानाम्नी ऋचाओं में) से प्रथम पुरीष पद को प्रजापति का मानना चाहिये, इसके बाद एक अग्नि को, एक इन्द्र को, एक विष्णु को और पाँचवाँ पूषन् को सम्बोधित।

अग्नेः प्रयाजानुयाजाः प्रैषा ये च हवींषि च ।
यद्दैवतं हविस्तु स्यात् प्रैषास्तद्दैवताश्च ते ॥ १०३ ॥

प्रयाज और अनुयाज, प्रैष और हवियाँ अग्नि के हैं। अब इन हवियों के जो जो देवता हों उन्हें ही प्रैषों का भी देवता होना चाहिये।

२२–निविद्, निगद्, और छन्दों के देवता

निविदां निगदानां च स्वैः स्वैर्लिङ्गैश्च देवताः ।
निगदेन निगद्यन्ते याश्च कल्पानुगा ऋचः ॥ १०४ ॥

निविदों और निगदों के देवताओं को उनके अपने-अपने लिङ्ग के आधार पर जाना जा सकता है; और उन्हीं ऋचाओं का निगद के साथ गायन करना चाहिये जो कल्प के अनुकूल हों।

अग्नेरेव तु गायत्र्य उष्णिहः सवितुः स्मृताः ।
अनुष्टुभस्तु सोमस्य बृहत्यस्तु बृहस्पतेः ॥ १०५ ॥

अब गायत्रियों को अग्नि का, उष्णिहों को सवितृ का, अनुष्टुभों को सोम का, और बृहतियों को बृहस्पति का माना गया है।

पंक्तयस्त्रिष्टुभश्चैव विद्यादैन्द्र्यश्च सर्वशः ।
विश्वेषां चैव देवानां जगत्यो यास्तु काश्चन ॥ १०६ ॥

यह जानना चाहिये कि पंक्तियाँ और त्रिष्टुभ सर्वथा इन्द्र[1] की ही हैं; और जो भी समस्त जगतियाँ हैं वे विश्वेदेवों की हैं।

[1] वाजसनेयि संहिता अनुक्रमणी के अनुसार पंक्तियाँ वरुण की और त्रिष्टुभ इन्द्र के होते हैं : 'पङ्क्तिर् वरुणस् त्रिष्टुभ इन्द्रः।'

विराजश्चैव मित्रस्य स्वराजो वरुणस्य च ।
इन्द्रस्य निचृतः प्रोक्ता वायोश्च भुरिजः स्मृताः ॥१०७॥
विपर्यये यस्य वा स्यातां स्यातां वा वायुदेवते ।
यास्त्वतिच्छन्दसः काश्चित् ताः प्रजापतिदेवताः ॥१०८॥

विराज मित्र के, और स्वराज वरुण[1] के होते हैं। निचृतों को इन्द्र का बताया गया है और भुरिजों को वायु का माना गया है : अथवा यह दोनों[2] उस देवता के हो सकते हैं जिसके क्षेत्र में यह हों, अथवा दोनों के ही देवता वायु हो सकते हैं। किन्तु सभी अतिछन्दस् छन्दों के देवता प्रजापति[3] हैं।

[1] तु० वी० वाजसनेयि संहिता 'विराजो मित्र स्वराजो वरुण'।
[2] अर्थात् निचृत और भुरिज्।
[3] तु० वी० वाजसनेयि संहिता अनुक्रमणी 'अनिच्छन्दस प्रजापति।'

२३–छन्दों, वेदों, वषट्कार, स्वाहाकृतियों के देवता। स्वर।

विच्छन्दसस्तु वायव्या मन्त्राः पादैश्च ये मिताः।
पौरुष्यो द्विपदाः सर्वा ब्राह्मय एकपदाः स्मृताः ॥१०९॥

किन्तु विभिन्न छन्दों वाले मन्त्र वायु के होते हैं। और जो पादों से परिमित होते हैं उनमें से सभी द्विपदा पुरुष के लिये होते हैं, और एक पदों को ब्रह्मा के लिये माना गया है।[1]

[1] तु० वी० वाजसनेयि संहिता अनुक्रमणी 'विच्छन्दसो वायुर् द्विपदाया पुरुष एकपदाया ब्रह्मा।'

समस्ता ऋच आग्नेय्यो वायव्यानि यजूंषि च।
सौर्याणि चैव सामानि सर्वाणि ब्राह्मणानि च ॥११०॥

समस्त ऋचायें अग्नि के लिये हैं[1], यजुष् वायु के लिये हैं[2], समस्त सामन् और ब्राह्मण सूर्य के लिये हैं।

[1] तु० वा० वाजसनेयि संहिता अनुक्रमणी 'सर्वाश्च आग्नेय्य'।
[2] तु० वी० वही 'सामानि सौराणि सर्वाणि ब्राह्मणानि च'।

वैश्वदेवो वषट्कारो हिंकारो ये यजामहे।
रूपं वज्रस्य वाक्पूर्वं स्वाहाकारोऽग्निदेवतः ॥ १११ ॥

वषट्कार तथा हिंकार विश्वेदेवों के लिये हैं।[1] 'ये यजामहे' वज्र[2] का रूप है जिसके पूर्व में वाक् है। स्वाहाकार के देवता अग्नि हैं।

[1] 'हिंकार' का 'वषट्कार' के साथ अथर्ववेद ३ २३, ४ में उल्लेख ■।
[2] तु० वी० ऐतरेय ब्राह्मण २ २८, ५ 'वागूर् वज्रः'।

देवानां च पितॄणां च नमस्कारः स्वधैव च।
क्रुष्टो मूर्धनि विज्ञेयस् तालव्यः प्रथमः स्वरः ॥११२॥

नमस्कार और स्वधा देवों और पितरों के हैं।

क्रुष्ट स्वर को मूर्धा में स्थित मानना चाहिये; प्रथम स्वर तालव्य[1] है।

[1] तु० ऋ० नीचे ११७। देखिये वाजसनेयि संहिता प्रातिशाख्य ८ ४७।

द्वितीयस्तु भ्रुवोर्मध्ये तृतीयः कर्णसंश्रितः।

चतुर्थो नासिकाग्रे स्याद् औरसो मन्द्र उच्यते ।
मन्द्रकर्षणसंयुक्तम् अतिस्वारं प्रशंसति ॥ ११३ ॥

किन्तु द्वितीय भौंहों[1] के मध्य में होता है, तृतीय का स्थान कर्ण[2] है, चौथे को नासिकाग्र[3] में मानना चाहिये, मन्द्र को वक्ष[4] में बताया गया है। अतिस्वार[5] को कोई व्यक्ति मन्द्र के कर्षण से संयुक्त बताते हैं।

[1] तु० की० नीचे ११७।
[2] तु० की० नीचे ११८।
[3] तु० की० नीचे ११८।
[4] तु० की० नीचे ११९।
[5] इस शब्द का यह रूप नीचे ११६ में भी प्रयुक्त हुआ है, किन्तु अन्यत्र नहीं मिलता। इसका सामान्य रूप 'अतिस्वार्य' नीचे १२० में प्रयुक्त हुआ है, यहाँ तु० की० इसकी यह परिभाषाः 'निकर्षेण मन्द्रस्य युक्तः।'

२४—स्वरों के देवता।

वदन्ति देवताः क्रुष्टं मनुष्याः प्रथमं स्वरम् ।
द्वितीयं पशवः सर्वे गन्धर्वाप्सरसः स्वरम् ॥ ११४ ॥

देवगण क्रुष्ट स्वर में बोलते हैं, मनुष्यगण प्रथम स्वर में, समस्त पशु द्वितीय में, गन्धर्व और अप्सरायें (बाद के) स्वर में।

अण्डजाः पक्षिणः सर्पाश् चतुर्थमुपभुञ्जते ।
मन्द्रं पिशाचा रक्षांसि असुराश्चोपभुञ्जते ॥ ११५ ॥

अण्डज जीव, पक्षी, सर्प, चतुर्थ का व्यवहार करते हैं; पिशाच, राक्षस, और असुर मन्द्र स्वर का व्यवहार करते हैं।

अतिस्वारस्तु सर्वस्य जङ्गमस्थावरस्य च ।
वैश्वदेवः स्वरः क्रुष्टो नित्यं यो मूर्ध्नि तिष्ठति ॥ ११६ ॥

किन्तु अतिस्वार समस्त जङ्गम और स्थावर की विशेषता है।

क्रुष्ट स्वर, जो कि स्थायी रूप से मूर्धा में स्थित होता है, विश्वेदेवों के लिये है।

तालव्यः प्रथमः साम्नां स्वर आदित्यदैवतः ।
स्वरो द्वितीयः साध्यानां भ्रुवोर्देशं समाश्रितः ॥ ११७ ॥

प्रथम तालव्य, सामनों के स्वर के देवता आदित्य गण हैं। द्वितीय स्वर, जिसका स्थान भ्रूदेश है, साध्यों के साथ सम्बद्ध है।

आश्विनस्तु तृतीयोऽत्र स्वरः कर्णौ समाश्रितः।
चतुर्थस्त्वत्र वायव्यो नासिक्यः स्वर उच्यते ॥११८॥

किन्तु यहाँ तृतीय स्वर, जिसका स्थान कर्ण है, अश्विनों के लिये है; किन्तु यहाँ चतुर्थ स्वर, जो नासिक्य है, वायु के लिये कहा गया है।

२५-स्वरों के देवता (शेषांश)। प्रस्ताव, उद्गीथ, उपद्रव, प्रतिहार, निधन, के देवता।

पञ्चमस्तु स्वरः प्रोक्तश् चाक्षुषः सूर्यदैवतः।
यस्तु सामस्वरः षष्ठः स सौम्यो मन्द्र उच्यते ॥११९॥

किन्तु पाँचवें स्वर का, जो चाक्षुष है, सूर्य को देवता कहा गया है। किन्तु छठवें मन्द्र सामन् स्वर को सोम का कहा गया है।

विकर्षेण तु मन्द्रस्य युक्तोऽतिस्वार्य उच्यते।
स मैत्रावरुणो ज्ञेयो मन्द्रस्थानसमाहितः ॥ १२० ॥

किन्तु जो मन्द्र के कर्षण से बना है उसे अतिस्वार्य कहा गया है: इसे मित्र-वरुण के लिये जानना चाहिये। यह मन्द्र-स्थान में स्थित है।

सामस्वराणां सप्तानाम् एतो देवा इहोदिताः।
त्रयाणामितरेषां तु लोकाधिपतयस्त्रयः ॥१२१॥

इन सबको यहाँ सात सामन स्वरों का देवता कहा गया है किन्तु अन्य तीन[1] के देवता तीन लोकाधिपति[2] हैं।

[1] अर्थात् ऋग्वेद के तीन स्वर।

[2] अर्थात् ऊपर १. ७२ में वर्णित अग्नि के तीन रूप।

वाग्देवत्योऽथवाग्नेयः प्रस्तावश्चैव सामसु।
उद्गीथोपद्रवावैन्द्रौ स्यातां वा वायुदेवतौ ॥ १२२ ॥

सामनों में प्रस्ताव के देवता वाक् हैं, अथवा यह अग्नि का होता है; उद्गीथ और उपद्रव इन्द्र के लिये हैं अथवा इनके देवता वायु हो सकते हैं।

सौर्यः स्यात्प्रतिहारोऽत्र निधनं वैश्वदेवतम्।
हिङ्कारप्रणवाभ्यां तु पुरस्तादेव कीर्तनात् ॥ १२३ ॥

अब प्रतिहार को सूर्य के लिये मानना चाहिये, निधन को विश्वेदेवों के लिये; इनके आरम्भ[1] में हिंकार तथा प्रणव का उच्चारण करना चाहिये।

[1] तु० की० ऐतरेय ब्राह्मण ३ २३, ८ पर सायण - 'उद्गाता पठितव्य. साम आदौ हिंकार इत्य् एव शब्दो हिङ्कारः।'

२६—वैश्वदेव सूक्तों के विभिन्न नैपातिक देवता

इति व्यस्तसमस्तानां मन्त्राणामिह दैवतम्।
देवताविदवेक्षेत प्रयोगे सर्वकर्मणाम् ॥१२४॥

इस प्रकार जो देवताओं को जानता है, उसे यहाँ व्यस्त तथा समस्त मन्त्रों के देवताओं को सभी कर्मों के प्रयोग के आधार पर जानना चाहिये।

सप्तर्षयो वसवश्चापि देवा अथर्वाणो भृगवः सोमसूर्याः।
पथ्या स्वस्ती रोदसी चोक्तमन्त्रे कुहूर्गुङ्गूरदितिर्धेनुरघ्न्या॥
असुनीतिरिळा चाप्त्या विधातानुमतिर्ह्य या।
आङ्गिरोभिः सहैताः स्युर् उक्तमन्त्राश्च देवताः ॥१२६॥

सप्तर्षि, वसुगण, देवगण, अथर्वगण, भृगुगण, सोम, और सूर्या, पथ्या स्वस्ति, रोदसी जिसके लिये मन्त्र कहे गये हैं, कुहू, गुंगू, अदिति, धेनु, अघ्न्या, असुनीति और इळा, आप्त्यगण, विधातृ, अनुमति तथा अङ्गिरसों के सहित, इन सबको ऐसे देवता मानना चाहिये जिनके लिये मन्त्रों की उक्ति है।

वैश्वानरो हि सुपर्णो विवस्वान्
प्रजापतिर्द्यौः सुधन्वा नगोद्यः।
अपांनपादर्यमा वातजूतिर्
इळस्पतिश्चापि रथस्पतिश्च ॥ १२७ ॥
ऋभवः पर्जन्यः पर्वता ग्राश्च
दक्षो भगो देवपत्नीर्दिशश्च।
आदित्या रुद्राः पितरोऽथ
साध्या निपातिनो वैश्वदेवेषु सर्वे ॥ १२८ ॥

वैश्वानर, सुपर्ण, विवस्वत्, प्रजापति, द्यौस्, सुधन्वन्, नगोद्य, अपां नपात्, अर्यमन्, वातजूति, इळस्पति, और रथस्पति; ऋभुगण, पर्जन्य, पर्वत, और स्त्रियाँ; दक्ष, भग, देव-पत्नियाँ, दिशायें; आदित्यगण, रुद्रगण.

पितृगण, और साध्यगण—यह सभी विश्वेदेवों को सम्बोधित सूक्तों में नैपातिक रूप से आते हैं।

२७-देवता सम्बन्धी विवरण तथा उनका ज्ञान

अनुक्रान्ता देवताः सूक्तभाजो
हविर्भाजश्चोभयथा निपातैः।
अप्येवं स्यादुभयथान्यथा वा
न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम् ॥ १२९ ॥

सूक्तभाज् और हविर्भाज् देवताओं को क्रमानुसार कहा गया है, और इन दोनों ही के नैपातिक देवताओं को भी (बताया गया है)। चाहे दोनों ही स्थितियाँ हों अथवा एक ही, कोई भी मन्त्र उसको प्रत्यक्ष नहीं हो सकता जो ऋषि नहीं है।

योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्ध्या
बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।
उपास्यास्ताः कृत्स्नशो देवता या
ऋचो ह यो वेद स वेद देवान्।
यजूंषि यो वेद स वेद यज्ञान्
सामानि यो वेद स वेद तत्त्वम् ॥ १३० ॥

इन सभी देवताओं की योग, दक्षता, दम, बुद्धि, पाण्डित्य, तप तथा नियोग के साथ उपासना करनी चाहिये। जो ऋचाओं को जानता है वह देवताओं को भी जानता है।

जो यजुष् को जानता है वह यज्ञ को भी जानता है। जो सामन् को जानता है वह तत्त्व को भी जानता है।

मन्त्राणां देवताविद्यः प्रयुङ्क्ते कर्म कर्हिचित्।
जुषन्ते देवतास्तस्य हविर्नादेवताविदः ॥ १३१ ॥

वह जो मन्त्रों[1] के देवताओं को जानते हुये किसी कर्म का प्रयोग करता है, उसकी हवि को देवता लोग ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु उसकी हवि को नहीं जो इन देवताओं से अनभिज्ञ होता है।[2]

[1] तु० की० सर्वानुक्रमणी, भूमिका : 'मन्त्राणाम् आर्षेयछन्दोदैवतवित् ।'
[2] तु० की वाजसनेयि संहिता, अनुक्रमणी, उ० स्था० : 'देवताम् अविज्ञाय यो जुहोति, देवतास् तस्य हविर् न जुषन्ते ।'

अविज्ञानप्रदिष्टं हि हविर्नेहन्ति दैवतम् ।
तस्मान्मनसि संन्यस्य देवतां जुहुयाद्धविः ॥ १३२ ॥

यतः अविज्ञान प्रदिष्ट हवि की देवता इच्छा नहीं करते, अतः मन में देवता को भली प्रकार संनिविष्ट करके ही हवि देनी चाहिये ।[1]

[1] तु० की० वाजसनेयि संहिता, अनुक्रमणी, उ० स्था० : 'संन्यस्य मनसि देवता हविर् हूयते ।'

२८–देवताओं को जानने का महत्त्व

स्वाध्यायमपि योऽधीते मन्त्रदैवतविच्छुचिः ।
स सत्त्रसदिव स्वर्गे सत्त्रसद्भिरपीड्यते ॥ १३३ ॥

पवित्र होते हुये जो मन्त्रों के देवता को जानता और स्वाध्याय करता है, वह स्वर्ग में यज्ञ-सत्र में बैठे हुये के समान, ऐसों के द्वारा भी प्रशंसित होता है जो इस प्रकार के सत्र में बैठे होते हैं ।[1]

[1] तु० की० वाजसनेयि संहिता, अनुक्रमणी, उ० स्था० : 'स्वाध्यायम् अपि योऽधीते मन्त्रदैवतज्ञः, सोऽमुष्मिन् लोके देवैर् अपीड्यते ।'

नियमोऽयं जपे होमे ऋषिश्छन्दोऽथ दैवतम् ।
अन्यथा चेत्प्रयुञ्जानस् तत्फलाच्चात्र हीयते ॥ १३४ ॥

जप और होम में यह आवश्यक है—ऋषि, छन्द और देवता; और उनके अन्यथा प्रयोग करने से यहाँ व्यक्ति उनके फल से हीन हो जाता है ।

ऋषिछन्दोदैवतादि ज्ञानं यज्ञादिषु श्रुतम् ।
तदाश्रित्य प्राणदृष्टिर् विपिताऽत्रेति गम्यताम् ॥१३५॥

ऋषि, छन्द, देवता, इत्यादि के यज्ञादि द्वारा अर्जित ज्ञान के सम्बन्ध में यह जानना चाहिये कि इनके आश्रित होने से यहाँ प्राण को देखने की दृष्टि स्थापित होती है ।

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥ १३६ ॥

ऋषि, छन्द, देवता और योग[1] के ज्ञान के बिना ही जो अध्यापन अथवा जप करता है, वह पापी[2] हो जाता है।

[1] 'योग' का यहाँ 'प्रयोग' के आशय में व्यवहार हुआ प्रतीत होता है।

[2] तु० की० शतपथ ब्राह्मण १२ १, ५, ४।

अर्थेप्सवः खल्वृषयश् छन्दोभिर्देवताः पुरा।
अभ्यधावन्निति छन्दो मध्ये त्वाहुर्महर्षयः॥ १३७॥

प्राचीन काल में धन की इच्छा से ऋषियों ने छन्द के द्वारा देवताओं की शरण ली यही कारण है कि महर्षिगण छन्द का मध्य में उल्लेख करते हैं।

ऋषिं तु प्रथमं ब्रूयाच् छन्दस्तु तदनन्तरम्।
देवतामथ मन्त्राणां कर्मस्वेवमिति श्रुतिः॥ १३८॥

अत, सर्वप्रथम ऋषि को बताना चाहिये, उसके बाद छन्द को, और तब कर्म के सन्दर्भ में इस क्रम से मन्त्रों के देवता को, ऐसी श्रुति है।

आधारं ह्याप्यनाधारं विविक्तयात्मानमात्मनि।
ईक्षमाणो ह्युभौ संधिम् ऋचो दैवतवित्पठेत्॥१३९॥

आधार[1] और साथ ही साथ, अनाधार के रूप में आत्मा को अपनी आत्मा में जानते हुये जो देवताओं को जानता है उसे संधि तथा ऋचा दोनों पर दृष्टि रखते हुये (ऋचाओं का) पाठ करना चाहिये।

[1] तु० की० वेदान्तसार, ७ 'आ मानम् अखिलाधारम् आश्रये'। भागवद्गीता ४ १३ 'तस्य कर्तारम् अपि मा विद्धय अकर्तारम् अव्ययम्'।

स ब्रह्मामृतमत्यन्तं योनिं सदसतोर्ध्रुवम्।
महच्चाणु च विश्वेशं विशति ज्योतिरुत्तमम्॥ १४०॥

ऐसा व्यक्ति उस ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है जो अमर, अनन्त, सत् और असत् का ध्रुव स्रोत, महान तथा अणु, विश्वेश्वर, और परम ज्योति स्वरूप है।

॥ इति बृहद्देवतायामष्टमोऽध्यायः॥

॥ इति शौनकीया बृहद्देवता समाप्ता॥

परिशिष्ट–१

बृहद्देवता में उद्धृत वैदिक प्रतीकों की सूची

(काले टाइपों में छपे सन्दर्भ-संकेतों से ऋग्वेद का तात्पर्य है; जहाँ किसी अन्य ग्रन्थ से तात्पर्य है वहाँ काले टाइपों में छपे सन्दर्भ संकेत के साथ ग्रन्थ निर्देश भी कर दिया गया है। सादे टाइप में छपे सन्दर्भ-संकेतों से बृहद्देवता का तात्पर्य है)।

अक्षीभ्याम्, १०. १६३ : ८. ६६
अचेद् मा, १०. ३४, १३ : ३. ५२
अगाम्यूति, ६. ४७, २० : ५. ११३
अगस्त्यस्य, १०. ६०, ६ : ७. ९१
अग्न आयूंषि, ९. ६६, १९ : ६. १३१
अग्न इन्द्रश् च, ३. २५, ४ : ४. १०२
अग्निना, ८. ३५ : ६. ७७
अग्निनाग्निः सम् इध्यते, १. १२, ६ : २. १४५
अग्निम्, १. १२, १ : २. १४५, ३. १२७ : ४ ४५; ८. ३३, १४ : ६. ७५; १० १५६ : ८ ६२
अग्निम् उपसम्, ३. २०, १ : ४. १०२
अग्निर् उक्थे, ८. २७ : ६ ६८
अग्नीपर्जन्यौ, ६. ५२, १६ : ५. ११८
अग्नीषोमौ, १. ९३ : ३ १२४
अग्ने, १. ४४ : ३ ११२
अग्ने अच्छ, १०. १४१ : ८ ५३
अग्ने तव, १०. १४० : ८. ५३
अग्ने नय, १. १८९ : ४ ६२
अग्ने मरुद्भिः, ५. ६०, ८ : ५. ४८
अग्ने स क्षेषत्, ६. ३, १ : ५. १०५
अग्रम्, ४. ४६ : ५. ४
अग्ने, १०. १ : ६ १४०
अघोर॰, १०. ८५, ४४ : ३. १२७
अचेत्य् अग्निः, ८. ५६, ५ : ६. ८१
अक्ष, ३. ३३, ३ : ४. १०७, ५. ४३, ८ : ५. ४१; ५. ८३ : ५. ८८
अच्छा वद, ५. ८३ : ५. ८८
अञ्जन्ति, ३. ८ : ३ ७८, ५. ४३, ७ : ५ ४१
अञ्जन्ति त्वा, ३. ८, १ : ४ १००
अतः, १. २२, १६ : ३ ९३
अति द्रव, १०. १४, १० : ६. १५९
अदाभ्य, ८. १९, ३६ : ६ ५४
अदितिर् द्यौः, १. ८९, १० : ३. ११३
अद्या नो देव सवितः, ५. ८२, ४ : ५. ८९
अधाः, ८. ३३, १९ : ६ ७८
अधः स्विद् आसीत्, १०. १२९, ५ : ७ ५१
अधि, ६. ४७, ३१ : ५. १०८
अध्वर्यवः, ५. ४३, ३ : ५. ४१
अनवाणम्, १. १४० : ४. ६३
अनस्वन्ता, ५. २७ : ५. २९
अनु मा, तैत्त॰ ३. ३, ११, ३ : ४. ८८
अनुस्पष्टाः, १० ८५, २३ : ७. १३१
अन्व् अस्य स्थूरम्, ८. १, ३४ : ६. ४०
अन्व् इत्, तैत्त॰ ३. ३, ११, ३ : ४. ८८
अप, १०. १३१ : ८ ४९
अपश्यं त्वा, १०. १८३ : ८. ८०
अपश्यम्, १०. ७९ : ७ १२७
अपाद्, ८ ६९, ११ : ६. ९२
अपेहि, १०. १६४ : ८ ६३
अप्रजाः सन्तु, १. २१, ५ : १. ५८
अब्रुधम्, १०. ३५ : ७ ३७
अबोधि, १.१५७ : ४. २६; ५. १ : ५.१२

अब्जाम्, ७ ३४, १६ ५ १६५
अभि, ५ ४१, १९ ५ २७ ६ ५०, ६ ५ ११७ ८ ४९ (खिल) ६ ८४ वाल० ४ २५ ८ १५
अभि न, ५ ४१, १९ ५ ३७
अभीदम्, १० ४८, ७ ? ४९
अभूर उ, १० ३७, ७ ७ २४
अभ्रप्रुष १० ७७ ७ ११६
अमन्दान् १ १२६, १ ३ १४४
अमाजुर, १० ३९, ३ ७ ४८
अमीवाम् १० १०३, १२ ८ १२
अग्नि-, (तमे), २ ४१, १६ ? १३७
अय य, १० २०, २१ ७ २७
अय सोम सुदानव, १ ४५, १० ३ १११
अय क्रतु, ८ ७९ ६ ९७
अय देव, १ ४४, २२ ५ १०८
अयम्, १ २० ३ ०० ५ ५१, ४ ५ ८६ ८ १००, १ ४१ ६ ११७ ११८ १० ६०, १९ ७ १०२ १० १४९ ८ ५४ १० १४४ ८ ५५
अय माता, १० ६०, ७ ७ १००
अरण्यानी, १० १४६ ८ ५७
अरम्, १ १५०, ? ८ ५३
अरायि, १० १५५ ६०
अरुणो मा सकृत् १ १०५, १८ २ ११२
अव, ७ ९६, १३ ६ १२५
अव द्रप्स, ८ ९६, १३ ६ ११६
अविता न, ९ ६७, १० १३१
अवीराम्, १० ८६, ९ २ ५३
अवीवृधत्, ८ ८०, १० ६ ९७
अश्विना १ ९२, १६ ३ १२८
अश्विनौ ५ ७८ ५ ८८
असत्, १० २७ ७ ?३
असावि, १० १०४ ८ १६
असाविते, ५ ४३, ५ ५ ४१
असौ, १ १०५, १६ ३ १३७
असौ य एषि, ८ ९१, २ ६ १०२
अस्तु श्रौषट्, १ १३९ ४ ७
अस्तेव सु प्र, १० ४२ ७ ४०
अस्माकम्, २ ३१ ४ ८६
अस्माकम् उत्तमम्, ४ ३१, १५ ४ १३९
अस्मिन्, १० ३८ ? ३९
अस्मै, १ ६१ ३ ११८
अस्य, १ १६४, १ ४ २२ ३ ३२ ४ ८६ १० ८, ७ ६ १४८
अस्यवामीय, (सूक्तम्) १ ११४ ४ ३१
अस्यै मे पुत्रकामायै (खिल), ८ ८८
अहम्, ४ २६ ४ १३५ ८ ७४, १३ ६ ९५ १० १२५ ८ ४३
अहं भुवम् १० ४८ ? ५७
अह मनु, ४ २६, १ १ ५१
आ ४ १९ ४ १२७ ५ ४३, १० ५ ४२ ५ ४३, ११ ५ ४३ ६ २८ ५ १०९ ६ ५० ८ ५ ११७ १० ३१ ७ ३४ १० ६०, १ ? ९६
आ ग त ८ २० ६ ५७
आग्ने याहि, ८ १०३, १४ ६ १२८
आ ते, २ ३३ ४ ८९
आ त्वा, १ १३४, १ ४ ५ ८ ९५ ६ १०० १० १७३ ८ ७२
आ त्वा रथम्, ८ ६८ ६ ९१
आद् अह स्वधाम् अनु, १ ६, ४ २ १३९
आ धेनव, १, १५२, ६ ४ १७
आ न, १ ८९ ३ १२२ १ १८६ ६ ६२ ८ ८ ६ ४७ ८ ४६, २५ ६ ८० १० ८५, ४३ ७ १३७
आ नो भद्रा, १ ८९, १ ३ १२२

तापः, १०. ९ : ६. १५३; ७. ४७ : ५. १७४
तापान्तमन्युः, १०. ८९, ५ : ७. १४८
आ मा पूषन्, ६. ४८, १६ : ५. ११४
आ माम्, ७. ५० : ६ १
आ ये, ८. १०१, ७ : ६. १२९; ८. ८५ : ६ ९८
आर्ये गौः, १०, १८९ : ८. ८७
आ याहि, १०. १७२ : ८ ७२
आयुष्यम्, (खिल) : ८ ४५
आ रुद्रासः, ५. ५७, १ : ५ ८७
आ यं, १०. ७६ : ६ ११६
आ वर्तनिं मधुना, ४. ४५, ३ : २ ९७
आ वाम्, ८. ४२, ४ : ६. ७८
आविर् अभूत्, १०. १०७ : ८ ३२
आ शर्म, ८. ३१, १० : ६ ७८
आशुः, १०. १०३ : ८ ३३
आश्विना (= गौ), १. ३०, १७ : ३ १०२
आ सा, ८. ४६, ३१ : ६. ८०
आसन्नाप्याशा, ६. ३७, ३ : ५ १०७
आ सूर एतु, (खिल) : ८ ५९

इध्मजित्, ३. ३० : ४. १०५
इध्मजिता त्वा, ३. ३० : ४. १०५
इति वै, १०. ११९ : ८. ४०
इत्था, १. ८० : ३. १२१
इदम्, १. ११३ : ३ १३८, २. २८ : ४ ८३, ३. ४९ : ४. ५, ४ ५३ : ५ ३, ८. १८ : ६. ४९, १०. ५६ : ७. ८२, १०. ६१ : ७ १०२
इन्द्रः, ४. ४७, २ : ५. ४
इन्द्र पत्रा, १०. ६०, ५ : ७ ९६
इन्द्र क्रतु, १०. १०० : ८ १०
इन्द्रं मित्रम्, १. १६४, ४६ : ४ ४२
इन्द्र श्रेष्ठानि, २. २१, ६ : ४. ७४
इन्द्र सोमं पिब, १. १४ : ३. ३४
इन्द्रस्य, १. ३२ : ३. १०४
इन्द्रा, ४. ४१, १ : ५. २
इन्द्राकुत्सा, ५. ३१, ९ : १. ५६; ५ २८
इन्द्राग्नी, ५. ८६ : ५, ८९; ३. १२ : ४ १०१
इन्द्रावरुणा, ७. ८२ : ६ ३०
इन्द्रो वा, ८. २१, १७ : ६. ५९
इमं जीवेभ्यः, १०. १८, ४ : ७ २१
इमं नः, १०. १२४ : ८ ४१
इमं नु, ८. ७६ : ६ ९६
इमं नो यज्ञम्, ३. २१, २ : १. ५१
इमम्, १. ९४ : ३ १२६, ३. ५४ : ४. १११; १०. ७५, ५ : २ १३७
इमाः, १. ११४ : ३. १३९, ६. ९७ : ५ ८३, १०. १८, ७ : ७. १९
इमां खनामि, १०. १४५ : ८. ५५
इमानि, ८. ५९ (खिल) : ३. ११९
इमा नु कम्, १०. १५७ : ८ ६१
इमाम्, १०. ६७ : ७. १०७, १०. ८५, ४५ : ७ १३०
इमे, ८. ४१ : ६ ७९; १०. १८, ३ : ७ २१
इमे चेतारः, ७. ६१, ५ : ६ ७
इये शुम्भेभिः, ६ ६१, ३ : ३ ११७
इयम्, ६. ६१ : ५ ११०
इह, १. २३ : ३ ९१; १०. ८५, ४२ : ७ १३७
इह प्रवीतु, १. १६४, ७ : १. ५२
इहेह वः, ३. ६० : ४ १२२

ईशानम्, १०. १६२ : ८ ८७
ईर्मान्तासः, १ १६३, १० : ४. २७
ईळिष्व, ८. २३ : ६ ६३
ईळे, १. ११२, १ : ३. १२८
ईळे अग्निम्, ५. ६०, १ : ५. ४८
उत, ५. ४२, ३ · · ३१, ८. ७३ : ६. १४, १०. १०१ : ८. २०, १०. १५९ : ८. ७८; (खिल) : ७. ११८

उत, [illegible] ५०, ९–१० : ५ ११७, ८ १८,
    ८ : ६ ४९, ८. ६७, १० : ६ ९०
उत देवा, १०. १३७ : [illegible] ४९
उतो हि वाम्, ४. ३८, १ : ५. १
उत् तिष्ठ, १. ४० : ३ १०७
उत् सूर्यः, ७ ६२ : ६ ४
उद् असौ, १० १५९ : ८ ६३
उद् ईरताम्, १०. १५ : ६ १५९
उद् ईर्ष्व नारि, १०. १८, ८ : ७ १३
उद् उ ज्योतिः, ७ ७६ : ६ ११
उद् उ त्यत्, ६ ५१, १ : ५ ११८ ७. ६६, १४ : ६ ०
उद् उ त्यम्, १. ५० : ३ १ ०
उद् उ ष्य, ७ ३८ : ५ १६३
उद्यन्, १ ५०, ११ : ३ १ ०
उद् व् पृति, ७ ६३ : ६ ०
उप, २. ३५ : ४ १० ३. ५३, ११ : ४ ११५ ५ ४२, ७ : ५ ३८ ६ ४७, २९ : ० ११०
उपप्रयन्त, १. ७४ : ३ १२०
उप प्रियम्, ९. ६७, २९ : ० १३३
उप मा पद्, ८ ६८, १४ : ६ ०१
उप सर्प, १० १८, १० : ७ १७
उपोप मे, १. १२६, ७ १ ४२
उपोप मे परा मृश, १. १२६, ७ : ८ ३
उभयम्, ८. ६१ : ६ ८२
उभाभ्याम्, ९. ६७, २५ : ६ १३८
उरुम्, ७ ९९, ४ : ६ २१
उलूकयातुम्, ७ १०४, २२ : ६ ३२
उशाना, ५, २९, ९ : ५ १७
उशन्ता, ७. ९१, २ : ६ ३८
उषो वाजेन, ३. ६१ : ४ १२४

ऊर्ध्वं ऊ षु [illegible] ऊतये, १ ३६, १३ : ८ १००
ऊर्ध्वं, ७. ३९, १ : ५ १६९

ऋत्रम् उरुण्यायने, ८. २५, २२ : ५ ६६
ऋतम्, २. ३० : ८ ८८
ऋतस्य श्लोक, ४. २३, ८ : २. ४३
ऋतेन, ५. ६२ : २ ८१
ऋधक्, ८. १०१, १ : ६ १२८
ऋभुर् धीरः, ९. ८७, ३ : ६ १३५
ऋषभं मा, १० १६६ : ८ ६१
ऋषयो वा इन्द्रम्, तैसं०, ३. ५, २, १ : ५ १५७

एकं चमसम्, १. १६१, २ : ३ ८७
एका, ७. ९५, २ : २ १३७
एतत् त्यत् ते, ६. २७, ४ : ५ १३७
एत मे स्तोमम्, ५. ६१, १७ : ५ ७४
एता उ त्या, १. ९२ : ३ १२८
एतौ मे, १०. २७, २० : [illegible] ७७
एवम्, ५ २६, ९ : ५ ७६
एष, ५ ४१, १५ : ५ ४०
एष पंति, ५. ६१, १९ : ० ७५
एषो, १ ४६ : ३ ११०

ऐतु, ८. ३१, ११ : ६ ७८
ऐभिः, १. १४ : ३ ३३, ५१, ८०

ओ चित्, १०. १० : ६ १४८
ओ चित् सखायम्, १०. १० : ६ १४८
ओ त्यम्, ८. २२ : ६ ६२

क इमम्, ४. २४, १० : ४ १३३
क ईम्, ७ ५६ : ५ ३
कः, ४. ४३ : ५. ३, ४. ५५ : ५ [illegible]
कङ्कत, १. १९१ : ४ ६३
कतरा, १. १८५ . ४ ६१
कदा वसो, १०. १०५ : ८ १७
कद् इत्था, १. १२१ : ३ १४१
कनिक्रदत्, २. ४२ . ८ ९४
कनीनका, ४. ३२, २३ : ४. १४४
कन्या वा, ८. ९१. १ : ६ १०१
कम्, १०. ९९ : ८ ९
कम् एत त्वम्, ५. ३, २ : ५ २०
कया, १. १६५ . ४ ४८

कस् ते, १. ३०. २० : ३. १०२
कस्य नूनम्, १. २४ : ३. ९८
किं नः, १. १७०, २ : ४. ५२
किं नो भ्रातः, १. १६०, ३ : ४. ५७
किम्, १. १६१ : ४. ३७; १०. १०८, १ : ८. २९
किम् आद् उतासि, ४. ३०, ७ : ४. १३४
कुह, १०. २२ : ७. ५७
केश्य् अग्निम्, १०. १३६ : ८. ८८
के ष्ठ, ५. ६१ १ : ५. ६९
को अद्य, १. ८४, १६ : ३. ७७
को नु मर्याः, ८. ४५, ३७ : ७. १०९
को नु वाम्, ५. ४१ : ५. ३६
क्रीळम्, १. ३७ : ३. १०५
क्षेत्रस्य, ४. ५७ : ५. ७

गणानाम्, २ २३ : ४. ८१
गृभ्णामि ते, १०. ८५, ३६ : ७. १३५
गौः, ८. ९४ : ६. १००
गौरीः, १. १६४, ४१ : ४. ४२

धर्मा, १०. ११४ : ८. ३८

चक्षुः, (खिल) : ५. १०८
चक्षो, १०. १५५, २ : ८. ६०
चन्द्रमाः, १. १०५ : ३. १३१
चित्र इद्, ८. २१, १८ : ६. ४८, ७ १२७
चित्रः, १०. १९५ : ८. ९९
चित्रम्, १. ११५ : ३. १३९

जनिष्ठाः, १०. ७३ : ७. १३५
जनीयन्तः, ७. ९६, ४ : ६. २९
जराबोध, १. २७, १० : ३. ९९
जातवेदसे, १. ९९ : ३. १३०
जामये न, = ३. ३१, २ (?) : ४. ११०
जीमूतस्य, ६. ७५ : ५. १२८
जुषस्व नः, ७, २ : ५. १६०
ज्यायांसम्, ५. ४४, ८ : ५. ४३
ज्येष्ठ आह, ४, ३३, ५ : ३. ८७
तं वः, २ ३०, ११ : ४. ८५
तच् चक्षुः, ७. ६६, १६ : ६. ७; ६. ९
तन्, ४. ५३ : ५. ७, १०. १२० : ८. ४०
ततम्, १. ११० : ३. १३८
तद् वो अद्य, ७. ६६, १२ : ६. ६
तन् नु, १. १६६ : ४. ४८
तम्, १. १४५ : ४. १६ ८. ८८ : ६. ९८
तम् उ ष्टुहि, ५. ४२, ११ : ५. ३८
तं प्रत्नथा, ५. ४४, १ : ५. ४६
तव, १०. १२८ : ८. ५१
तवाग्ने यज्ञः, १० ५१, ९ : ७. ७१
तस्य द्युमान्, ८. ३१, ३ : ६. ७२
तां सु ते, १०. ५४ : ७. ८१
ता वाम्, १. १५४, ६ : ४. २०, ८. २५ : ६. ६७
तिस्रः, ७. १०१ : ६. २१
तीव्रस्य, १०. १६० : ८. ६४
तीव्राः, १ २३, १ : ३. १४
तुभ्य, १०. १६७ : ८. ७०
तुभ्यम्, २. ३६ : ४. ९१
तृष्टम् पृषत्, १०. ८५, ३४ : ७. १३६
तेऽवदन्, १०. १०९ : ८. ४६
ते सत्येन, ७. ९०, ५ : ६. १८
त्य चित्, १०. १४३ : ८. ५५
त्यम् ऊ षु, १० १७८ : ८. ७७
त्यान् नु, ८. ६७ : ६. ८७
त्रयः केशिनः, १. १६४, ४४ : ४. ९५
त्रायन्ताम्, १०. १३७, ५ : ८. ५०
त्रिश् चित्, १. ६४ : ३. १०८
त्री, ५. २९ : ५. २७
त्वं सोम, १. ९१ : ३. १२८
त्वं ह्य् अग्ने, ६ १ : ५. १०८
त्वं त्यम्, १०, १७१ : ८. ७३
त्वम्, १. ३१ : ३. १४, २. १ : ४. ६९; ८. ९३ : ६. ९८ ८. ७१ : ६. ९२
त्वम् अग्ने, १. ४५, १ : ३. ११०
त्वम् अग्ने बृहद्, ८. १०२ : ६. १२७
त्वष्टा, १०. १० : ७. ७

त्वा, ४ २८ ४ १२६
त्वाम्, ४ १ ८ १२७
त्वे ह, ७ १८ ५ १९१

दशरथ, १० ६४, ९ ७ १०४
दण्डा, ७ ३३, ६ १ १०
दधिक्राम्, ३ २०, ५ ४ १०२
दध्यङ् ह मे, १ १३९, ९ ४ १०
दश, ५ ४३ ४ ७ ४१
दाता मे, ८ ६५ १० ६ ८६
दिवश चित्, ४ ३०, ९ ४ १३७
दिवस परि, १० ४५ ७ ४१
दूरात्, ८ ५ ६ ४५
दृषद् याम्, ३ २३, ४ २ १३७
देवा, १० १६५ ८ ६९
देवानाम्, १ ८९, २ ३ १२२ ८ ८३
६ ९८ १० २७, ९३ ७ २७
देवाना पत्नी, ५ ४६, ७ ५ ४५
देवान् हुवे, १० ६६, १ ५ ४५
दोग्ध्री धेनुर वोढानड्वान् आशु सप्ति पुरंधिया, वास०, २२ २२ ३ ७९
द्यावा, २ ४१, २० ४ ९२
द्योर न, ६ २० ९०
द्रप्स, १० १७, ११ ७ ०
द्यावी अग्ने, ६ २७, ८ ५ १४१
द्वयान्, ६ २७, ८ ५ १४०
द्वे नप्तु, ७ १८, २२ ५ १६३
द्वे विरूपे, १ ९५ ३ १२९

धनु, १० १८, ९ ७ १५
धन्व, १९ ८६ २० ७ ६९
धाता दधातु नो रयिम्, तैस० ३ ३, ११, २-३ ४ ८८
धारावरा, २ ३४ ४ ८९
धीरा, ७ ८६ ६ १५
धृतव्रता, २ २९ ४ ८४
धेनु, ३ ५८ ४ १२२
ध्रुवासु त्वा, ७ ८८, ७ ६ १५

न, १ १७० ४ ५० ३ २१, २ ४ १११ १० ११७ ८ ४०
नकिर् इन्द्र, ४ ३०, १ ४ १३१
नकिर् देवा मिनीमसि, १० १३४, ७ ८ ४८
नकि सुदास, ७ ३२, १० १ १६२
न जामये, ३ ३१, २ २ ११३ १ ५७
न तम, १० १२६ ८ ४४
न तस्य, १० ४०, ११ ७ ४८
नदस्य मा, १ १७९, ४ १ ५३
नम, १ २७, १३ २ ९९ १० ३७ ७ ३९
नमस ते, (खिल) ८ ४४
नमस् ते अस्तु विद्युते, अवे० १ १३, १ १ ५४
न मृ'युर आसीत, १० १२९, २ १ ५८
न विजानामि, १ १६४, ३७ १ ५०
न स स्व, ७ ८६, ६ १ ५६
नहि, ८ ८० ६ ९७
नानामीय (सूक्तम्), ९ ११२ ६ १३१
नासत, १० १२९ ८ ४५
नासत्याभ्याम्, १ ११६ ३ १२१
नि ते, ३ ३३, १० ४ १०७
नि वर्तध्वम, १० १९ ७ २०
नू चित, १ ५८ ३ ११७
नून भग, ७ ३८, १ १ १६८
नू मे, ६ २१, ११ ५ १०९
नेजमेष, (खिल) ८ ८३
नेन्द्रो अस्ति, ■ १००, ३ ६ ११८
नैर्हस्त्यम्, (खिल) ८ ९४

पतगम्, १० १७७ ८ ७१
पयस्वती, १० १७, १४ ७ १०
परि, १० १५५, ५ ८ ६१
परेयिवांसम्, १० १४ ६ १५१
पवित्रम, ९ ८३ ९ १३४
पश्वा, १ ६५ ३ ११८
पान्तम्, ८ ९२ ४ १०७

पावीरवी, ६. ४९, ७ : ५ ११६
पितुम्, १. १८७ : ४ ६२
पिब, ६. १७ : ५ १०५, १०. ११६ : ८. ४०
पीशानं मेषम्, १०. २७, १७ : ७ २५
पुनन्तु माम्, ९. ६७, २७ : ६. १३३
पुनर् नः, १०. ५९, ७ : ७ ९४
पुरीष्यासः, ३, २२, ४ : ४ १०८
पूर्वां, १. ९४, ८ : ३. १७७
पूर्वीः, १ १७९, १ : ४ ५८
पूर्वां देवाः, १. ९४, ८ : ३ १७६
पूषा १०. १७, ३ : ७ ८
पृक्षामि त्वा, १ १६४, ३४ : ४. ४०
पृथु, १ १२३ : ३ १४०
प, १. ३६ : ३ १०७, १. १२२ : ३ १४०, १. १५९ : ४. २६, २. ४१, १९ : ४ ९२, ३. ३३ : ४ १०५, ४. ३३ : ५ १; ५. ४३, ९ : ५. ४२, ५. ५२ : ५. ३७, ५. ८७ : ५ ९०, ७. ३४ : ५ १६५ ७, ५३ : ६. २; ७. ९५ : ६. १९, ८. ४, १५ : ६ ४३; ८. ७ : ६ ४७, ८. १०१, ५ : ६ १२५; १०. ३२ : ७ ३४, १०. १०२ : ८. ११, १०. १८८ : ८. ८८
प्र कृतानि, ८. ३२ : ६ ७५
प्र केतुना, १०. ८ : ६. १४७
प्रजा ह, ८. १०१, १४ : ६. १२७, ८. १०१, १४ : ६ १२८
प्र तद्, १. १३९, ६ : ४. ४
प्र तद् दुःशीमे, १०. ९३, १४ : ७. १४७
प्र सारि, १०. ५९ : ७. ९१
प्रति, १. १७१ : ४ ५५
प्रति त्यम्, १. १९ : ३ ७५
प्रति वाम, ७. ६७ : ६ ८
प्रतीचीने, १०. १८, १४ : ७. १८
प्र ते, १०. ९६ : ७. १५८
प्राग् अग्निः, ४. १३ : ४. १२९
प्रधन् च, १०. १८९ : ८. ७७
प्र देवत्र, १०. ३०. ३ : ७ ३३
प्र नु वोचा, ६. ५९ : ५. ११९
प्र नूनम्, १० ६२, ८ : ७. १०३
प्र-प्र, १. १३८ : ४ ७
प्र मा, १०. ३३, १ : ७ ३८
प्र यन्तु, ३. २६, ४ : ४ १०३
प्र या जिगाति, ७. १०४, १७ : ६ ३०
प्र ये, १. ८५ : ३. १७१
प्र यः, १. १५५, १ : ४ २०, ५ ४४, ४ : ५ ४३ . १०. १७५ : ८ ७४
प्र वतेय, ७ १०४, १९ : ६ ३१
प्र वीरया, ३. ९० : ६ १४, १७
प्र वो महे, १०. ५०, १ : ७ ६०
प्र वो वाजाः, ३. २७, १ : ४ १०३
प्र सम्राजः, ७. ६ : ५ १६०
प्र सम्राजे, ५. ८५ : ५ ८०
प्र सु, १० ७५ : ७ १०५
प्र सु प विस्यः, ४. २६, ४ : ४ १३६
प्र सुष्टुतिः, ५ ४२, १४ : ५ ३८
प्र सूनवः, १० १७६, १ : ८ ७५
प्र सोता, ७. ९२, २ : ६ १८
प्रस्तोकः, ६. ४७, २२ : ५ १४०
प्र हि, १० ११ : ७ ४३
प्र हि क्रतुम्, २ ३०, ६ : ४ ८४
प्राग्नये, ७. ५ : ५ १६ , ७. १३ : ५ १६१, १०. १८७ : ८. ८८
प्रातः, १. १२५, १ : ३ १४२, १. १२५ : ३ १४० १४० ७. ४१ : ६. १५०
प्रातर्जितम्, ७. ४१, २ : ५. १५०
प्राप्जराणाम् , (खिल) : ८. ९४
प्रावेपाः, १० ३४ : ७ ३६
प्रावेपा मा, १०. ३४ : ७ ३६
प्रेत, १०. १०३, १३ : ८. १४
प्रेद्धम्, ८. ८४ : ६ ७८
प्रेहि प्रेहि, १०. १४, ७ : ७ १०८
प्रैते, १०. ९४ : ७ १५३
प्रोतये, ६. २१, ९ : ५. १०६
प्रो षु, १०. १३३ : ८. ४८

वद, ५. ८४ : ५ ८८
वभ्रु', ८. २९, १ : ६ ७१
वभ्रुर् एकः', ८ २९ : ६ ६१
वळ इत्था, ५. ८४ : ५ ८८
बृहस्पतिः, १० १८२ : ८ ७१
बृहस्पते प्रति, १०. ९८ : ८ ७
बोधत, ४ १५, ७ : ४ १२१
ब्रह्म, (खिल). ८ १८
ब्रह्मणा, १०. १६२ : ८ ६५
ब्रह्मा देवानाम्, ९ ९६, ६ : ६ १३६

भगभक्तस्य, १. २४, ५ : ३. ९८
भगम् उग्र', ७ ३८, ६ : ५ १६७ १६८
भद्रम्, १. ८९, ८ : ३ १२२, ४. ११, १ : ४ १८, ५. ३०, १२ : ५ ३६, १०. २५ : ७ २३१
भद्रा, १०. ६१ : ७ १०७
भुक्, अथर्व० २०. १२७, १ : ८ ५१
भुग्युम् अंहस', १०. ६५, १२ : ७ १०६
भुवनस्य, ६ ४९, १० : ५ ११६
भूमि, (खिल) : ८ ५१
भूरीत, ८. ५५ : ६ ८६

मधु, ८. ३१, १५ : ६ ७३
मधु वाता', १. ९०, ६ : ३ १०३
मनीषिण., १०. १११ : ८ ३८
मनोजवा', ८ १००, ८ : ६ १२०
मन्थत, ३. २९, ५ : ४ १०३
मन्दस्व, १. ३७, १ : ३ २७
मन्दू समानवर्चसा, १. ६, ७ : २ १४१
मम, १०. १२८ : ८ ४४
मम व्रते, (खिल) : ■ ११७
मयोभू', १०. १६९ : ८ ७२
महन्, १०. ५९ : ७ ८०
महद् देवानाम् असुरत्वम्, ३. ५५ : ४ १२२
महश् चित्, १. १६९ : ४ ८९
महान्, ८. ६ : ६ ४६, (खिल). ८ १४
महानग्नी, अथर्व० २०. २७, १ : १ ५५
महि, ८. ४७ : ६ ८३
महि त्रीणाम्, १०. १८५ : ८. ८६
मही, ४. ५६ : ५ ७
महीम् ऊ षु. वासं० २१ ५, तैसं० १. ५. ११, ५; अथर्व० ७. ६, २ : ७ १०४
महे, ५. ७९ : ५. ८८
महो अग्ने', १०. ३६, १२ : ७ ३८
मा, १०. ५७ : ७. ९०, १०. ८५, ३२ : ७ १२३
मा चित्, ८. १ : ६ ४०
माता, ८. १०१, १५ : ६ १२७
माता च, वासं० १३. २५ : १. ८८
मा न', १. १९२ : ४ २७, ७. ३४, १७ : ५ १६१
मा नो रक्षः, ७. १०४, २३ : ६ ३१
मा नोऽहिः, ७. ३४, १७ : ५ १६१
माहित्रं (सूक्तम्), अर्थात् 'महि त्रीणाम्' १०. १८५ : ८ ८६
मित्र, ३ ५९ : ४ १२२
मित्रम्, १. १५१, १ : ४ १७
मित्राय, १०. ६५, ५ : ७ १०६
मित्राय पञ्च, ३. ५९, ८ : ४ १२३
मुञ्चामि, १०. १६१ : ८ ६४
मूर्धानम्, ६ ७ : ५ १०८
मैनम्, १०. १६ : ६ ६१
मोघम् अन्नम्, १०. ११७. ६ : ७. ४९
मो षु, १०. ५९, ४ : ७ ९१

य आनयत्, ६. ४५ : ५ १०८
य इन्द्र, ८. १२ : ६ ८२
य इन्द्राग्नी, १. १०८ : ३. १३१
य इमा, १०. ८१ : ७ ११७
य ईं वहन्ते, ५. ६१, ११ : ५ ७०
य', ५. ४२, १० : ५ ३८, ८. ३१ : ६. ७२, ९. ६७, ३१ : ६. १३३, १०. ३९ : ७ ४०
यः कृन्तत्, ८. ९१, ३० : ६ ८२

यं रक्षन्ति, १ ४१ : ३. १०७
यच् चिद्, १. २५ : ३ ९८
यच् चिद् धि, १. २८, ५ : ३ १०१
यच् चिद् धि सत्य, १. २९ : ३ ०२
यज्ञस्य वः, १०. ९२ : ७. १४६
यज्ञे, ७. ९७ : ६ २५, २६
यज्ञेन, २. २ : ४ ६५
यत्, ७. ६० : ६ ४, १०. ५८ : ७ ८३
९०, १०. ८५, १४ : ७. १२४, १०.
१५५, ४ : ८ ६१
यत् ते, ९. ६७, २२ : ६ १३२
यत् त्वा सूर्य, ५. ४०, ५ : ५ २८
यत्र, १. २८, १ : ३ १००
यथा, ८. ५, ३७ : ६. ४५, ८. ३१, १३ :
६. ७४, १०. १८, ५ : ७ १२
यथा वरो सुषाम्णे, ८. २४, २८ : ६ ६२
यथा वातः, ५. ७८, ७ : ५. ८३
यद् अद्य, ७. ६० : ६ ५, ७. ६६, ४ :
६. ६
यद् अद्य सूरः, ७ ६६, ४ : ६ ८
यद् अर्जुन, ७. ५५, २ : ६ १३
यद् इन्द्र चित्र, ५. ३९, १ : ५ ८०
यद् इन्द्राहम्, ८. १४, १ : ६. ५५
यदि वाहम्, ७. १०४, १४ : ६. ३०
यद् उत्तमे, ५. ६०, ६ : ५ ८८
यद् वाक्, ८. १००, १० : ६. १२१
यम्, १. १२९ : ४. ४, ८. ३, २१ : ६
८, ८. १९, ३४ : ६. ४०
यस् तस्तम्भ, ४. ५० : ५. ५
यस् ते, १०. ८३ : ७. ११७
यस्मिन् वृक्षे, १०. १३५ : ८ ८८
यस्य, १०. ३३, ६ : ७. ३९
या, १०. ९७ : ७. १४८
या गौः, १०. ६५, ६ : ७. १०६
यां कल्पयन्ति नोऽरयः (खिल) :
८. ४१
या दम्पती, ८. ३१, ५ : ६. ७४
याम्, १. ८०, १६ : ३. १२२
यावन् तरः, ७ ९१, ४ : ६. ८
युक्ष्व, ८. २६, २० : ६ ६७
युञ्जे, १० १३ : ६ १५५
युञ्जे वाम्, १०. १३ : ६ १५५
युञ्जते, ५. ८१ : ५. ८८
युवं तम्, १. १३२, ६ : ४. ४
युवम्, १०. २६, ४ : ७, २२
युवोः, ८. २६ : ६ ६७
युवा रजांसि, १. १८० : ४ ६१
युवोर् उ षू, ८. २६ : ६. ६१
ये, १०. ८५, ३१ : ७ १३३
येन, १. ५०, ६ : ३ १०३
येनेदम्, (खिल) : ८ ६९
ये पाकशंसम्, ७. १०४, ९ : ६ २९
यो जातः, २. १२ : ४ ६८
यो नः, २. ३०, ९ : ४ ८५
यो मा, ७. १०४, १६ : ६ ८९, ६ ३०
यो मे, २. २८, १० : ४ ८३
यो यजाति, ८. ३१, १ : ६ ७२
यो यज्ञः, १० १३० : ८. ४०
यो रजांसि, ६. ४९, १३ : ५ ११७
यो वां परि–, १०. ३९ : ७ ४६

रक्षोहणम्, १०. ८७ : ७ १४२
रथम्, ५. ५६, ८ : ५ ४६
रथीतमं कपर्दिनम्, ६. ५५, २ : ५. ११९
रैभी, १०. ८५, ६ : ७ १२३

वनस्पते वीड्वङ्गः, ६. ४७, २६ : ५ ११०
वने न, १०. २९, १ : ७. ३४
वपुर् नु, ६. ६६ : ५. १२०
वयम्, ६. ५३ : ५. ११८, ८. २१ :
६ ५३
वयाः, १. ५९ : ३. ११७
वरुणः प्राविता भुवत्, १.२३, ६ : ३ ७९
वसिष्ठा हि, १. २६, १ : ३. ९९
वह्निम्, १. ६० : ३ ११७
वात आ वातु, १०. १८६, १ : ८. ५०

वात, १० १८६ ८ ८८
वातस्य, १० १६८ ८१
वामम्, ४ ३०, २४ ४ ३८
वायव आ याहि, ५ ५१, ५ ५ ४६
वायो ४ ४७, १ ४
वि क्रोशनास १० २७, १८ ७ २६
वि ज्योतिषा ५ २ ९ ११
विमत्ता, अथे० १० १३३, १ १ ५७
वि तिष्ठध्वम्, ७, १०४ १८ ५ ३०
वि तु वृद्धाणम्, १० ५५, ५ ७ ८१
विभ्राट १० १७० ८ ७३
विवस्वन्तम्, १० १४ ५ ६ १ ७
विशो विश, ८ ७३ ६ ९४
विश्वम्, १ २४, १२ ४ ८१
विश्वस्माद्, इन्द्र उत्तर १० ८६ ७ ६७ ७ १४१
विषेत् ता ते, ८ १००, ६ ६ ११६
विश्वेपा व सताम, ६ ६७ ५ १२१
विश्वो हि, १० २८ ७ २९
विश्वो ह्य न्य, १० २८ ७ २९
विष्णु, १० १८४ ८२
विष्णोर नु कम, १ १५४ ४ १९
वि हि, १० ८६ ७ १४१
विहि ४ ४८, १ ४
वीळु चित्, १ ६, ५ २ १४०
वृषे वृषे १० २७, २२ ७ १११ ७ २७
वृषा, १० ११ ६ १५५
वृष्णो शर्धाय, १ ६४ ३ १८
वेदिषदे, १ १४० ४ १६
वेनस तत् पश्यत्, (खिल) ८ ६६
वैश्वानरस्य, १ ९८ ३ १२९
व्यु उषा, ७ ७५ ६ १०

शतधारम्, ३ २६, ९ ४ १०३
शतम्, १ ८९, ९ ३ १२८ १ १२६, २ ३ १४८ ८ ६, ४६ ६ ४७
शतेन, ४ ४६, २ ५ ४
शं न, ७ ३८, ७ ५ १६७
शं नो मित्रीया, १ ९०, ९ ३ ७९
शम्, ८ १८, ९ ६ ० १० ५९, ८ ७ ९४
शश्वत, १ ३०, १६ ३ १०३
शुश्वद् धि वाम्, (खिल) ३ ११८
शास, १० १५२ ८ १९
शासद्, ३ ३१, १ ६ १११
शिव, ८ २, ४१ ९ ८२
शुचिम्, ७ ९३ ६ १९
शुन वाहा, ४ ५७, ४ ५ ७
शुन कीनाशा ४ ५७, ८ ५ ०
शुन न फाला, ४ ५७, ८ ५ ०
शुनासीरी, ४ ५७, ५ ९
श्रत्, १ १४७ ८ ५७
श्रद्धया, १० १४१ ८ ५८
श्रुधि, २ ११ ४ ८९
श्रुष्टी, ९ ९८ ५ १२१
श्रियञ्च, ७ ३३ ५ १६३

स इद् राजा, ४ ५०, ७
स, ७ ९५, ३ ६ ६९
सव सरम, ७ १०३ ६ २७
स सम, १० १९१ ८ ९७
स सम् इत, १० १९१ ८ ९४
स स्रवन्ति, (खिल) ५ ९७
स ह यद् वाम्, ५, ३१, ८ ५ २७
सखाय, ८, २४ ९ ६३
सखे विष्णो, ८ १००, १२ ६ १२४
सज्ञानम्, (खिल) ८ १३ ९५
सनत्, ५ ६१, ५ ८१
सत्, १० २७, १५ ७ ८१
स प्रत्नथा, १ ९६ ३ १२१
स आवरम्, ४ १, २ ८ १२८
सम्, ५ ४२, १८ ५ ४० ६ ६९ ५ १२१ ८ ४४ (सम्-) ६ ७९ १० ९९, १० ७ ९४ १० ८५, ४७ ७ १२७ १० ९१ ७ १

सम् अश्वपर्णाः, ६. ४७, ३१ : ५ ११३
समित्-समित, ३. ४ : ४ ९६
समिद्ध, १. १८८ : ४ ६२
समिद्धः, १ १४२ : ४. २६ ९. ५ : ६. १३०
समिद्धश् चित् सम् इध्यसे, १०. १५० : ८. ५८
समिद्धो अग्निः, २. ३ : ४ ६१
समिद्धो अद्य, १. १८८ : ४ ६२, १०. ११० : ८ ३७
समुद्रज्येष्ठाः, ७. ४९ : ५ १७५
समुद्रात्, ४. ५८ : ५ १०
समुद्रे, ८. १००, ९ : ६. १२०
सं पूषन्, १. ४२ : ३ १०८
सं मा, १० ३३, २ : ७. ३८
स यो वृषा, १. १०० : ३. १११
सरस्वति त्वम्, २. ३०, ८ : ४ ८५
स रोहवत्, १०. २८, २ : ७. २२
सविता यन्त्रैः, १० १४९ : ८. ५८
ससर्परी', ३. ५३, १५ : ४. ११६
सह, १. ४८ : ३. ११३
सहस्रम्, १. १६७ : ४. ४९
स हि रत्नानि, ५. ८२, ३ : ५. १६९
स ते जीवातुः, १०. १७, २४ : ७. २९
सुकिंशुकम्, १०. ८५, २० : ७ १३०
सुगुः, १. १२५, २ : ३. १५२, १५३
सुत्रामाणम्, १०. ६३, १० : ७. १०४
सुदेवः, १०. ९५, १४ : ७. ५३
सुनीथो घ, ८. ४६, ४ : ६ ८१
सुरूपकृत्नुम्, १. ४ : २ १२९
सुषुम, १. १३७ : ४ ■
सुसमिद्धाय, ५. ५ : ५ २६
सूर्यरश्मिः, १०. १३९ : ८. ५१
सूर्यो नः, १०. १५८ : ८ ६३
सोम एकेभ्यः, १० १५४ : ८. ५९
सोमस्य मा, ३. ३ : ४ ९१
सोमानम्, १. १८ : ३ ५६
सोमारुद्रा, ६. ७४ : ५ १३३
स्तुतासः, १. १७१, ३ : ४. ४६
स्तुषे, ६. ४९ : ५ ११५, ६. ६२ : ५. ११९
स्तुहि, ८. १. ३० : ६ ४१
स्तुहि श्रुतम्, २. ३३, ११ : ४ ९०
स्थिरौ, ३, ५३, १७ : ४. ११६
स्थूरं राधः, ८. ४, १९ : ६ ४८
स्योना, १. २२, १५ : ३ ९१
स्वर्षं, ९. ७३ : ६. १३४
स्वस्ति नः, १०. ६३, १५ : ७. १०५
स्वस्तिर् इद् धि, १०. ६३, १६ : ७. १०५
स्वादुष् किलायम्, ६. ४७, १ : ५ १०९
स्वादोः, ८. ५८ : ६ ८३

हंसः, ४. ४०, ५ : ५ ३
हंसः शुचिषत्, ४. ४०, ५ : ५. ३
हन्ताहम्, १०. ११९, ९ : ७ ५६
हये जाये, १०. ९५, १ : ७ ५३
हविः, १०. ८८ : ७ १४२
हविषा, १. ४१, ४ : ३ ११२
हिमेनाग्निम्, १ ११६, ८ : ३ ११०
हिरण्यकेशो रजसः, १. ७९ : ३. १२०
हिरण्यपाणिम्, १. २२, ५ : ३. ९१
हुवे, २. ४ : ४ ६१
होता यक्षत्, १. १३९, १० : ४ ७७
ह्वयामि, १. ३५ : ३. ८५, १०५

परिशिष्ट–२

बृहद्देवता में उद्धृत आचार्यों के नाम

आथर्वण, ७ १०५
आश्वलायन, ४ १३९

ऐतर, २ १३८
ऐतरेयक, ५ ३, २५ ११०, ६ १७, १०८, ११७, १२९, ७ ७२

औपमन्यव, ७ ६९
और्णवाभ, ७ १२५

काश्यप, ६ १००
कौषीतकि, ५ ४४
क्रौष्टुकि, ४ १३७

गार्ग्य, १ २६
गालव, १ २४, ५ ३९, ६ ४३, १०७, ७ ३८

छन्दोगा, ५ २३

निदान, ५ २३
नैरुक्ता, १ २४

बाष्कला, ८ ८५
ब्राह्मण, ५ ११, २५, १५७, ७ ०४, ८ १००

भागुरि, ३ १००, ५ ४०, ६ ८६, १०७
भाल्लवि-ब्राह्मण, ५ २३

आम्नदयी श्रुति, ५ १५९

मधुक, १ २४
माठर, ६ १०७, ८ ८५
मुद्गल, ८ ९०
मुद्गल भार्म्यश्व, ६ ४६
मैत्रायणीयक, १ १३८

यास्क, १ २६, २ १११, १३२, १३७, ३ ७६, १००, ११२, ४. ४, १८, ५ ८, ४०, ६ ८७, १०७, ७ ७, ३८, ६९, ९३, १५३, ८ ११, ६५

रथीतर, १ २६, ३ ४०, ७ १४५
राथीतर्, ५ १४२, ७ १४५, ८ ९०

लामकायन, ३ ४७

शाकटायन, २ १, ९५, ३ १५६, ४ १३८, ६ ४३, ७ ६९, ८ ११, ९०
शाकपूणि, ३ १३०, १५५, ५ ८, ३९, ६ ४६, ७ ७०, ८ ९०
शाण्डिल्य, २ १३२
शौनक, १ २७, २ १३६, ४ १८, ५ ३७, ३९, ४०, ६. ६, ९, १०७, ११६, ७ ३८, १५३, ८ ११ ५६, ९९
श्वेतकेतु, १ २४

– ❧ –

परिशिष्ट–३

बृहद्देवता के अनुसार ऋग्वेद के देवताओं की सूची

(प्रत्येक मण्डल के अन्तर्गत पहले सूक्त संख्या, फिर छोटे टाइपों में ऋचाओं की संख्या, और तब देवता का निर्देश है)।

मण्डल १

१ अग्नि
२ [1-3]वायु, [4-6]इन्द्र-वायु, [7-9]मित्र-वरुण
३ [1-3]अश्विनौ, [4-6]इन्द्र, [7-9]विश्वेदेवाः, [10-12]सरस्वती
४ इन्द्र
५–११ इन्द्र
६ [4-6]मरुतः, [8-9]इन्द्र और मरुतः
१२ अग्नि, [6]निर्मथ्य और आहवनीय
१३ आप्रियः
[1]इध्म, [2]तनूनपात्, [3]नराशंस, [4]इळ, [5]बर्हिस्, [6]द्वारो देव्यः, [7]नक्तोषासा, [8]दैव्यौ होतारौ, [9]तिस्रो देव्यः, [10]त्वष्टा, [11]वनस्पति, [12]स्वाहाकृतयः।
१४ विश्वे देवाः
१५ ऋतवः
[1]इन्द्र, [2]मरुतः, [3]त्वष्टा, [4]अग्नि, [5]शक्र (इन्द्र), [6]मित्र-वरुण, [7-10]अग्नि द्रविणोदस्, [11]आश्विनौ, [12]अग्नि
१६ इन्द्र
१७ इन्द्र-वरुण
१८ [1-3]ब्रह्मणस्पति, [4]सोम इन्द्र भी, [5]सोम, इन्द्र, दक्षिणा भी, [6-8]सदसस्पति, [9]नराशंस
१९ अग्नि पार्थिव और मरुतः
२० ऋभवः
२१ इन्द्र-अग्नि
२२ [1-4]अश्विनौ, [5-8]सवितृ, [9,10]अग्नि, [11]देव्यः, [12]देवपत्न्यः : इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, [13,14]द्यावा-पृथिव्यौ, [15]पृथिवी, [16]विष्णु अथवा देवाः, [17-21]विष्णु
२३ [1]वायु, [2,3]इन्द्र-वायु, [4-6]मित्र-वरुण, [7-9]इन्द्र मरुत्वत्, [10-12]विश्वे देवाः, [13-15]पूषन् आघृणि, [16-23]आपः, [23-24]अग्नि
२४ [1]क, [2]अग्नि, [3-5]सवितृ, [5]अथवा भग, [6-15]वरुण
२५ वरुण
२६–२७ अग्नि
२७ [12]अग्नि मध्यम, [13]विश्वे देवाः
२८ [1-4]इन्द्र (भागुरि), इन्द्र-उलूखल (यास्क और कात्थक्य), [5-6]उलूखल, [7-8]उलूखल और मुसल, [9]चर्माधिषवणीय अथवा सोम।
२९–३० इन्द्र
३० [17-19]अश्विनौ, [20-22]उषस्
३१ अग्नि
३२–३३ इन्द्र
३४ अश्विनौ
३५ सवितृ
[1]अग्नि, मित्र-वरुण, रात्रि
३६ अग्नि
[13-14]यौप्यौ
३७–३९ मरुतः
४० ब्रह्मणस्पति

४१ १-५ वरुण, अर्यमन्, मित्र,
 ६ आदित्य
४२ पूषन्
४३ १-६ रुद्र, ७ मित्र, वरुण, विश्वे देवा भी, ७-९ सोम।
४४-४५ अग्नि
४४ १२ अश्विनौ और उषस भी।
४५ १० देवा
४६-४७ अश्विनौ
४६ ३ आदित्य भी (यास्क)।
४८-४९ उषस्
५० सूर्य
 ८ वरुण (शुभक्ति), ११-१३ रोगघ्न (तृच), १३ द्विषद्द्वेष
५१-५७ (कोई उल्लेख नहीं)।
५८ जातवेदस्
५९ वैश्वानर
६० अग्नि
६१-६३ इन्द्र
६४ मरुत
६५-७३ अग्नि
खिल (ग्यारह)
 १-४, ६-११ (शश्वद् धि वाम्) अश्विनौ, ५ (इमानि=८ ५९), इन्द्र वरुण
७४-७९ अग्नि
७९ ३ ५ अग्नि मध्यम
८०-८४ इन्द्र
८० १६ दध्यञ्च्, मनु, अथर्वन् (निपातिता)
८५ ८८ मरुत
८९-९० विश्वे देवा
 ८९ ३ ७ ८ देवा, १० अदिति
९१ सोम
९२ उषस्
 १६ १८ अश्विनौ
९३ अग्नि, सोम के साथ।
९४ जातवेदस्
 ८ देवा, १६ अग्नि अथवा छः उल्लिखित देवगण (मित्र वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी, द्यु)।
९५ अग्नि औषस
९६ अग्नि द्रविणोदस्
९७ अग्नि शुचि
९८ अग्नि वैश्वानर
९९ जातवेदस्
१००-१०४ इन्द्र
१०५-१०७ विश्वे देवा
१०८-१०९ इन्द्र अग्नि
११०-१११ ऋभव
११२ अश्विनौ
 १ द्यावापृथिव्यौ, अग्नि
११३ रात्र्युषसौ
११४ रुद्र
११५ सूर्य
११६-१२० अश्विनौ
१२० १२ दुःस्वप्ननाशिनी
१२१ इन्द्र, स्वरसामनो में विश्वे देवा
१२२ विश्वेदेवा
१२३-१२४ उषस्
१२५ स्वनय भावयव्य के दान की स्तुति।
१२६ १-५ भावयव्य, ६ ७ जायापत्यो समवाद।
१२७-१२८ अग्नि
१२९-१३३ इन्द्र
१२९ ९ इन्दु
१३२ ६ इन्द्र पर्वत
१३४ वायु
१३५ १ ३ वायु, ४ ९ इन्द्र वायु।
१३६ १-५ मित्र वरुण, ६ ७ [illegible] तथा अन्य उल्लिखित देवता।
१३७ मित्र वरुण
१३८ पूषन्

१३९ विश्वे देवाः
[1]विश्वे देवाः, [2]मित्र-वरुण, [3-5]अश्विनौ, [6]इन्द्र, [7]अग्नि, [8]मरुतः [9]इन्द्र-अग्निः अथवा द्रष्टा स्वयं अपनी अथवा ऋषियों की स्तुति करता है जिसमें इन्द्र-अग्नि निपातभाज् हैं; [10]बृहस्पति, [11]देवाः
१४०–१४१, १४३–१४४ जातवेदस्
१४२ आप्रियः
[13]इन्द्र
१४५–१५० अग्नि
१५१–१५३ मित्र-वरुण
१५१ [1]मित्र
१५२ [6]अदिति अथवा अग्निः अदिति = अग्नि (शौनक)।
१५४–१५६ विष्णु
१५५ [1-3] इन्द्र-विष्णु
१५७–१५८ अश्विनौ
१५९–१६० द्यावापृथिव्यौ
१६१ ऋभवः
१६२–१६३ मेध्यस्य अश्वस्य संस्तवः
१६३ [13] अनेक और विविध अश्व भी।
१६४ [1-41]विश्वे देवाः, [44-46]सूर्य, [52]सारस्वत् अथवा सूर्य।
१६५ मारुतैन्द्र : संवादः : [1,2,4,6,8] [10-15]के देवता मरुतः, [3,5,7,9] के देवता इन्द्र।
१६६–१६८ मरुतः
१६७ [1]इन्द्र
१६९ इन्द्र
१७० [2-5]इन्द्र, [1,3]अगस्त्य
१७१–१७२ मरुतः
१७१ [3-6]इन्द्र मरुत्वत्
१७३–१७८ इन्द्र
१७९ संवाद : [1,2]लोपामुद्रा का वचन, [3,4]अगस्त्य, [5,6]एक ब्रह्मचारिन्
१८०–१८४ अश्विनौ
१८५ द्यावापृथिव्यौ
१८६ विश्वे दिवौकसः (= देवाः)
१८७ अन्न
१८८ आप्रयः
१८९ अग्नि
१९० बृहस्पति
१९१ उपनिषत् :
'अपां तृणानां सूर्यस्य स्तुतिः केचित्; सर्व वा विषघ्नम्'

मण्डल २

१ अग्नि
२ जातवेदस्
३ आप्रियः
४–१० अग्नि
११–२२ इन्द्र
२३–२६ ब्रह्मणस्पति; बृहस्पति
२४ [12]इन्द्र-ब्रह्मणस्पति
२७ आदित्याः मित्र-वरुण, दक्ष, अंश, तुविजात, भग, अर्यमन्।
२८ वरुण
[10]दुःस्वप्ननाशिनी
२९ विश्वे देवाः
३० इन्द्र :
[6]इन्द्र-सोम, [8]वाच् मध्यमा, [9]बृहस्पति, [11]मरुतः
३१ विश्वे देवाः
३२ [1]द्यावापृथिव्यौ, [2-3]इन्द्र अथवा त्वष्टा, [4-5]राका, [6-7]सिनीवाली, [8]कुः देवियाँ : गुङ्गू, इत्यादि।
३३ रुद्र
[11]ऋषिर् नृणाम् जस्तीत्।
३४ मरुतः

३५ अपां नपात्
३६–३७ ऋतव
३८ सवितृ
३९ अश्विनौ
४० सोम पूषन्
[६]अदिति भी।
४१ [१-२] वायु, [३]इन्द्र-वायु, [४-१८]प्रउग देवता, [१९]हविर्धाने, अग्नि निपात मात्र, [२०]द्यावापृथिव्यौ, [२१] हविर्धाने
४२ ४३ एक कपिञ्जल के रूप में इन्द्र।

मण्डल ३

१ अग्नि
२–३ वैश्वानर
४ आप्रय
५–६ अग्नि
द्यावापृथिव्यौ, उषस्, आप, देवा, पितर, मित्र (निपाता)
७–२९ अग्नि
८ [१-५]यूप, [६]विश्वे देवा, [११]अश्विनौ
१२ इन्द्र अग्नि
२० [१-५]विश्वे देवा
२२ [४]धिष्ण्या अग्नय
२५ [४]अग्नि इन्द्र
२६ [१-३]वैश्वानर, [४-६]मरुत, [७]गुरुस्तव
२७ [१]ऋतव
२९ [५]ऋत्विज
३०–५३ इन्द्र
३३ विश्वामित्र और नदियों का संवाद
[१ ३ ५-७ ९ ११ १३]नद्य, [४ ६ ८ १०]विश्वामित्र, [६ ७]दो नपातिक देवताओं (इन्द्र और सवितृ) की स्तुति।
५३ [१]इन्द्र पर्वत, [१५ १६]वाच्, [१७-२०]अनसोऽङ्गानि, [२१ २४]वासिष्ठ द्वेषिण्य
५४–५७ विश्वे देवा
५८ अश्विनौ
५९ मित्र
[६]विश्वे देवा
६० ऋभव
[५ ७]इन्द्र और ऋभव, [६ ७]इन्द्र (नैपातिक)।
६१ उषस्
६२ [१ ३]इन्द्र वरुण, [४ ६]बृहस्पति, [७ ९]पूषन्, [१० १२]सवितृ, [१३ १५]सोम, [१६ १८]मित्र-वरुण

मण्डल ४

१–१५ अग्नि
१ [२ ५]अग्नि, अथवा अग्नि और वरुण
१३–१४ लिङ्गोक्तदैवत (एके)
१५ [७ ८]सोमक, [९ १०]अश्विनौ
१६–३२ इन्द्र
२६ [१ ३]ऋषि द्वारा इन्द्र के समान अपनी ही आत्मस्तुति, [४ ७]श्येन स्तुति
२७ [१ ४]श्येनस्तुति
२८ इन्द्र और सोम।
३० [९ ११]उषा मध्यमा (शाकटायन), [२४]भग, पूषन्, अर्यमन्
३१ [१५]सूर्य (आश्वलायन)
३२ [२२ २४]हर्योस्तुति
३३–३७ ऋभव
३८–४० दधिक्रा

३८ [१]द्यावापृथिव्यौ
४० [५]अग्नि, वायु, सूर्य; सूर्य (ऐतरेय ब्राह्मण)
४१–४२ इन्द्र-वरुण
४३–४५ अश्विनौ
४६ [१]वायु, [२-७]इन्द्र-वायु
४७ [१]वायु, [२-४]इन्द्र-वायु
४८ वायु
४९ इन्द्र-बृहस्पति
५० बृहस्पति :
[८-९]पुरोधातुःकर्मशंसा, [१०,११]इन्द्र बृहस्पति
५१–५२ उषस्
५३–५४ सवितृ
५५ विश्वे देवाः
५६ द्यावापृथिव्यौ
५७ [१-३]क्षेत्रपति, [४]शुन, [५]शुनासीरौ, [६,७]सीता, [८]कृषि, कृषिजीवा मनुष्याः, पर्जन्य, धन। अथवा यह सम्पूर्ण सूक्त कृषि की स्तुति करता है।

मण्डल ५

१–४ अग्नि
५ आप्रियः
६–२८ अग्नि
२६ [९]विश्वे देवाः
२७ [६]इन्द्र-अग्नि
२९–४० इन्द्र
२९ [९]उशना
३१ [८]उशना, [९]इन्द्र और कुत्स
४० [५-९]अत्रीणां कर्म कीर्त्यंते।
४१–५१ विश्वे देवाः
४१ [११]इळा
४२ [१]सवितृ (शौनक), [८-९]बृहस्पति, [१०]मरुतः, [११]रुद्र, [१२]इळस्पति (शाकपूणि), पर्जन्य-अग्नि (गालव), पूषन् (यास्क), इन्द्र (शौनक), [१५]मरुतः, वैश्वानर (मागुरि), [१८]अश्विनौ
४३ [३]वायु, [४]सोम, [५]इन्द्र, [६]अग्नि, [७]घर्म, [८]अश्विनौ, [९]वायु और पूषन्, [११]वाच्, [१०]अग्नि, दिवौकसः, मध्यमा, [१२]बृहस्पति
४५ [१]सोम, अथवा देवाः, अथवा इन्द्र, अथवा प्रजापति, [२]वायु, [८]आदित्य
४६ [७-८]देवपत्न्यः
५१ [४,६,७]इन्द्र-वायु, [५]वायु
५२–६१ मरुतः
५६ [८]रोदसी
५७ [१]रुद्राः
६० [८]पार्थिव और मध्यम अग्नि तथा मरुतः
६२–७२ मित्र-वरुण
७३–७८ अश्विनौ
७८ [५-९]गर्भार्थम् उपनिषत्स्तुतिः
७९–८० उषस्
८१–८२ सवितृ
८२ [४]दुःस्वप्ननाशिनी
८३ पर्जन्य
८४ पृथिवी मध्यमा
८५ वरुण
८६ इन्द्र-अग्नि
८७ मरुतः, विष्णु के नैपातिक उल्लेख के साथ।
खिल १ : श्रीसूक्तम्; अग्नि निपातभाज्
खिल २ : प्रजावद्
खिल ३ : जीवपुत्र
खिल ४ (संस्रवन्ति) : पयस्विन्यः

मण्डल ६

१–६ अग्नि
७–९ अग्नि वैश्वानर
१०–१६ अग्नि
१७–२० इन्द्र
२१ [९ ११]विश्वे देवा
२७ [८]अभ्यावर्तिन् और साञ्जय की दान स्तुति।
२८ गवा स्तुति, [२ ८]इन्द्र
२९–४१ इन्द्र
३७ [३]वायु और इन्द्र
४४ [२२ २४]सोम, कुछ के अनुसार इन्द्र।
खिल (षष्ठ) शरीर
४५ [३१ ३३]बृबुस्तुति
४७ [१-५]सोम, अथवा नैपातिक सोम के साथ इन्द्र, [२०]देवा, भूमि, बृहस्पति, इन्द्र, [२२ २५]अभ्यावर्तिन् और साञ्जय की दान स्तुति, [२६]भावयूस्तम्, [२६ २८]रथाभिमर्शना, [२९ ३१]दुन्दुभे संस्तव, [३१]इन्द्र।
४८ तृणपाणिक पृश्निसूक्तम् [१ १०]अग्नि, [११ १२]मरुत, [१४ १५]मरुत अथवा आदित्या अथवा विश्वे देवा, [१६ १९]पूषन्, [२० २१]मरुत, [२२]द्यु भू अथवा पृश्नि
४९–५२ विश्वे देवा
४९ [१]अग्नि, [४]वायु, [५]अश्विनौ, [७]वाच्, [८]पूषन्, [९]त्वष्टा, [१०]रुद्र, [११ १२]मरुत, [१३]विष्णु।
५० [५]रोदसी, [६]इन्द्र, [८]सवितृ, [९]अग्नि, [१०]अश्विनौ।
५१ [१ २]सूर्य
५२ [१६]अग्नि पर्जन्य
५३–५६ पूषन्
५५ [१]कुछ के अनुसार रुद्र
५७ इन्द्र पूषन्
५८ पूषन्
५९–६० इन्द्र अग्नि
६१ सरस्वती
६२–६३ अश्विनौ
६४–६५ उषस्
६६ मरुत
६७ मित्र वरुण
६८ इन्द्र वरुण
६९ इन्द्र विष्णु
७० द्यावापृथिव्यौ
७१ सवितृ
७२ इन्द्र सोम
७३ बृहस्पति
७४ सोम रुद्र
७५ युद्धोपकरणम्, सङ्ग्रामाङ्गानि [१]योद्धा वर्मी, [२]धनु, [३]ज्या, [४]आर्त्नी [५]इषुधि, [६]सारथि, रश्मय, [७]अश्वा, [८]आयुधागारम्, [९]रथगोपा, [१०]रणदेवता, [११]इषु, [१२]कवच, [१३]कशा, [१४]हस्तत्राणाम् [१५]दिग्ध इषु, अयोमुखी, कारुगम् अङ्गम्, [१६]धनुर्मुक्त इषु, [१७]युद्धादि, [१८]कवचस्य वध्यत स्तुति, [१९]युयुत्सु, अमन् (ऋषेर्) आदिप

मण्डल ७

१ अग्नि
२ आप्र्यः
३–१७ अग्नि
५, ६, १३ वैश्वानर
१८–३२ इन्द्र : मरुतः निपातभाज्
१८ [२२-२५]पैजवन की दानस्तुति
३२ [१०]वही
३३ इन्द्र सूक्त, अथवा इन्द्र के, और अपने पुत्रों के साथ वसिष्ठ और अगस्त्य का संवाद
३४–३७ विश्वे देवाः
३४ [१६]अहि, [१७]अहि बुध्न्य
३८ सवितृ : [१-५]अहि, [६]भग, [७-८]वाजिनः
३९–४३ विश्वे देवाः
४१ [१-६]भग, [७]उषस्, अथवा ऋषियों के लिये स्तुति
४४ दधिक्रा : [१]देवताः परिकीर्तिताः
४५ सवितृ
४६ रुद्र
४७ आपः
४८ [१-३]ऋभवः, [४]विश्वे देवाः अथवा ऋभवः
४९ आपः
५० [१]मित्र-वरुण, [२]अग्नि, [३]विश्वे देवाः, [४]नद्यः
५१–५२ आदित्याः
५३ रोदसी (=आकाश और पृथिवी)।
५४ वास्तोष्पति
५५ [१]वास्तोष्पति, [२-८]प्रस्वापिन्यः
५६–५९ मरुतः
५९ [१२]त्र्यम्बक
६०–६६ मित्र-वरुण
६० [१]सूर्य, [५]अर्यमन्, मित्र-वरुण
६२ [१-३]सूर्य
६३ [१-५]सूर्य
६६ [४-१३]आदित्याः अथवा सवितृ, अदिति, मित्र, वरुण, अर्यमन्, भग, [१४-१५]सूर्य, [१६]चक्षुः (सूर्यस्य) एक स्तुति।
६७–७४ अश्विनौ
७५–८१ उषसः
७६ [१]मध्यम (अग्नि)
८२–८५ इन्द्र-वरुण
८६–८९ वरुण
९०–९२ वायु
९० [५-७], ९१ [१,४-७], ९२ [२]इन्द्र-वायु
९३–९४ इन्द्र-अग्नि
९५–९६ सरस्वती
९५ [४], ९६ [४-६]सरस्वत्
९७ बृहस्पति : [१]इन्द्र, [३-९]इन्द्र और ब्रह्मणस्पति, [१०]इन्द्र और बृहस्पति
९८ इन्द्र
९९–१०० विष्णु
९९ [४-६] इन्द्र भी
१०१–१०२ पर्जन्य
१०३ माण्डूक्य
१०४ इन्द्र-सोम (रक्षोघ्नम्): [९]सोम, [१०]अग्नि, [११]विश्वे देवाः, [१२-१३]सोम, [१४]अग्नि, [१६]इन्द्र, [१७]ग्रावाणः, [१८]मरुतः, [१९-२२]इन्द्र, [२३]आत्मन (ऋषेः) आशीः, [२५]इन्द्र।

मण्डल ८

१–४ इन्द्र
१ [३०-३३]आसङ्ग की दानस्तुति, [३४]आसङ्ग
२ [४१-४२] विभिन्दु की दानस्तुति
३ [२१-२४]पाकस्थामन् की दानस्तुति
४ [१५-१८]पूषन् (शाकटायन) [१-१४] इन्द्र, [१५-१८]पूषन् (गालव), [१९-२१]कुरुङ्ग की दानस्तुति
५ अश्विनौ
[३७-३९] कशु की दानस्तुति
६ इन्द्र
[१०]अग्नि वैश्वानर (शाकपूणि और मुद्गल), [४६-४८]तिरिन्दिर की दानस्तुति
७ मरुत
८–१० अश्विनौ
११ अग्नि
१२–१७ इन्द्र
१७ [१४]वास्तोष्पति
१८ आदित्या
[४-७]अदिति, [८]अश्विनौ, [९]अग्नि, सूर्य, अनिल।
१९ [३४-३५]वरुण, अर्यमन्, मित्र, [३६-३७]त्रसदस्यु
२० मरुत
२१ इन्द्र
[१७-१८]चित्र की दानस्तुति
२२ अश्विनौ
२३ अग्नि
२४ इन्द्र
[२८-३०]उषस्
२५ [१-९]मित्र वरुण, [१०-२१]विश्वे देवा, [२२-२४]वरु की दानस्तुति।
२६ अश्विनौ
[२०-२५]वायु
२७–३१ विश्वे देवा
२९ पृथक्कर्मस्तुति
[१]सोम, [२]अग्नि, [३]त्वष्टा, [४]इन्द्र, [५]रुद्र, [६]पूषन्, [७]विष्णु, [८]अश्विनौ, [९]मित्र वरुण, [१०]अत्रय
३१ इज्या
[१-२]शक्र, यज्ञतां पति, [३-४]यजमान्, [५-९]दम्पती, [१०]आशो, [११-१२]पूषन्, [१३]मित्र, अर्यमन्, वरुण आदित्या, [१४]अग्नि, [१५-१८]यजमान्
३२–३४ इन्द्र
३३ [१९]एक दानवी द्वारा इन्द्र को सम्बोधन
३५ अश्विनौ
३६–३७ इन्द्र
३८ इन्द्र अग्नि
३९ अग्नि
४० इन्द्र अग्नि
४१–४२ वरुण
४२ [५-६]अश्विनौ
४३–४४ अग्नि
४५–४६ इन्द्र
४६ [४-५]मित्र, अर्यमन्, मरुत, [२१-२४]कानीत पृथुश्रवस् की दानस्तुति, [२५-२८-३१] वायु
४७ आदित्या
[९]अदिति, [१४-१८]उषस् भी
४८ सोम
४९–५६ इन्द्र
५४ [३-४]बहुदैवत (प्रगाथ)
५५–५६ प्रस्कण्व की दानस्तुति।
५६ [५]अग्नि, सूर्य
५७–५८ (कोई निर्देश नहीं)
५९ (१ ७३ क बाद एक खिल के रूप में उल्लेख)।
६० अग्नि
६१–६६ इन्द्र

६५ [१०] देवाः (भागुरि), [१०-१५]विश्वे देवाः (यास्क)।
६७ आदित्याः : [१०-१२]अदिति ।
६८-७० इन्द्र :
६८ [१४]ऋतवः, [१५-१९]ऋक्ष और अश्वमेध की दानस्तुति।
६९ [११]इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेवाः, [११.१२] वरुण
७१-७२ अग्नि :
७२ हविषां स्तुतिः पयःपशोषधीनां च।
७३ अश्विनौ
७४-७५ अग्नि :
७५ [१३.१४] ऋषि की आत्मस्तुति; सुसर्तन् की दानस्तुति भी, [१५]पक्थी
७६-७८ इन्द्र
७९ सोम
८०-८२ इन्द्र :
८० [१०]विश्वे देवाः
८३ देवाः
८४ अग्नि
८५-८७ अश्विनौ
८८-९३ इन्द्र :
९३ [३४]ऋभवः
९४ मरुतः
९५-१०० इन्द्र :
९६ [१३-१५]इन्द्र, मरुतः, बृहस्पतिः इन्द्र (शौनक), इन्द्र-बृहस्पति (ऐतरेय ब्राह्मण)।
१०० [४.५]इन्द्र आत्मानं तुष्टाव, [६]सुपर्ण, [९]वज्र, [१०.११]वायु।
१०१ [१-४]मित्र-वरुण, [५]अर्यमन् भी, [५.६]आदित्याः, [७.८]अश्विनौ, [९.१०]वायु, [११.१२]सूर्य, [१३]उषस् अथवा चन्द्रसूर्ययोःप्रभा, [१४]पवमान, [१५.१६]गो
१०२-१०३ अग्नि :
१०३ [११]अग्नि मध्यम, मरुतः और रुद्राः के साथ।

मण्डल ९

इस मण्डल के देवता सोम पवमान हैं
५ आप्रयः
६६ [१९-२१]अग्नि
६७ [१०-१२]पवमान और पूषन्, [२३.२४]अग्नि, [२५]सवितृ, [२६]अग्नि और सवितृ, [२७]विश्वे देवाः, [२९]अग्नि,
[३१.३२] स्वाध्यायाध्येतृसंस्तवः
७३ अग्नि रक्षोहन
८३ घर्मसंस्तवः
८७ ऋभु
११२ इन्द्र।

मण्डल १०

१-७ अग्नि
८ [१-६]अग्नि, [७-९]इन्द्र
९ आपः
१० यम और यमी का संवाद
११-१२ अग्नि
१३ हविर्धाने।
१४ यम मध्यम :
[६]अथर्वाणः, भृगवः, अङ्गिरसः, पितरः, [७-९]मेधातिथयः, [१०-१२]श्वानौ
१५ पितरः

१६ अग्नि कव्यवाहन ।
१७ [१-२]सरण्यू, [३]पूषन्, अग्नि, [४-६]पूषन्, [७-९]सरस्वती, [१०]आप, [११-१२]सोम [१४]आप
१८ [१-४]मृत्यु, [५]धातृ, [६]त्वष्टा, [७-९]मृत्यु, [१०-१३]पृथिवी, [१४]आक्षिप
१९ गाय, शुन्य के अनुसार आप अग्नि सोम, इन्द्र और अग्नि निपातभाज, [६]इन्द्र
२०-२१ अग्नि
२२-२४ इन्द्र
२४ [४-६]अश्विनौ
२५ सोम
२६ पूषन्
२७-२९ इन्द्र
२७ [१५]मरुत, [१६]वज्र, [१७]अग्नि, इन्द्र, सोम, पर्जन्य और वायु, [१८]अग्नि, [१९]सूर्य, [२०-२१]इन्द्र और वज्र, [२२]इन्द्र का धनुष, [२३]पर्जन्य, अनिल, मातरिश्वा, [२४]इन्द्र अथवा सूर्य ।
२८ ऋषि तथा इन्द्र का संवाद अयुग्म ऋचाओं में इन्द्र को सम्बोधित किया गया है ।
३० आप
[१-१]अग्नि मध्यम की अपां नपात् के रूप में स्तुति ।
३१ विश्वे देवा
३२ इन्द्र
३३ विश्वे देवा, [२-३]इन्द्र [४-५]कुरुश्रवण त्रासदस्यव, [८-९]उपमश्रवस्
३४ [१-९, १२]अक्षा, [१३]कृषि, शेष में अक्षनिन्दा ।
३५-३६ विश्वे देवा
३६ [१२-१४]सवितृ (एके), [१४]सवितृ (शौनक, यास्क, गालव) ।
३७ सूर्य
[६]नैपातिक देवता, [११-१२]विश्व देवा
३८ इन्द्र
३९-४१ अश्विनौ
४२-४४ इन्द्र
४४ [११]बृहस्पति
४५-४६ अग्नि
४५ [१२]द्यावापृथिव्यौ, [१३]विश्वे देवा
४७ इन्द्र वैकुण्ठ
४८-५० इन्द्र वैकुण्ठ की आत्मस्तुति ।
५१-५३ अग्नि और देवों का संवाद
५४-५५ इन्द्र
५५ [५]सूर्य और चन्द्रमा
५६-५७ विश्वे देवा
५७ इन्द्र, [२]अग्नि, [३-५]मनस, [६]सोम
५८ जीवावृत्ति सुबन्धोर् मनस स्तवो वा ।
५९ [१-३]निर्ऋति, [४]सोम, निर्ऋति, [५-६]असुनीति (यास्क केवल [६]में), [७]भू, द्यु, सोम, पूषन्, रुद्र, पथ्या, स्वस्ति, [८-९]रोदसी (इन्द्र), [१०]इन्द्र ।
६० [१-४]ऐक्ष्वाकु, [५]ऐक्ष्वाकु के लिये स्तुति, [६]ऐक्ष्वाकु, [७]सुबन्धोर् असुम आह्वयत्, [८-११]अस्य चेतसो धारणाय, [१२]हस्ताभ्यां पाणिभिर् अस्पृशत् ।
६१-६६ विश्व देवा
६२ आङ्गिरसा स्तुति, [८-११]मनु सावर्ण्य
६३ [१५]मरुत, [१६]पथ्या स्वस्ति ।
६४ [५]अदिति
६५ [५]मित्र-वरुण, [६]वाच् मध्यमा, [१४]अश्विनौ ।
६६ [१४-१५]वाच मध्यमा और मनु ।
६७-६८ बृहस्पति
६७ [५]ब्रह्मणस्पति
६९ अग्नि
७० आप्रिय
७१ ज्ञान
७२ विश्वे देवा, [२]बृहस्पति

७३–७४ इन्द्र
७५ नदियाँ (स्रवन्त्यः)
७६ ग्रावाणः
७७–७८ मरुतः
७९–८० अग्नि
८१–८२ विश्वकर्मन्
८३–८४ मन्यु
खिल १ (मम व्रते) : विश्वे देवाः
खिल २ (उत) : अग्नि
[२]मित्र-वरुण, [३]इन्द्र-अग्नि
८५ [१]सूर्या, माघ, सूर्य, मरुत, और सोम के साथ: [२-४]सोम, [५]चन्द्रमस्, [६-१३]सूर्यायै भाववृत्तम्, [१४,१५]अश्विनौ, [१६]सूर्य, [१७]विश्वे देवाः, [१८]सूर्य-चन्द्रमस्, [१९]सूर्य, चन्द्रमस् ([१८,१९]अश्विनौ औणवाभ), [२०]सूर्या, [२१,२२]गन्धर्व विश्वावसु, [२३]दंपती, [२४-२८]वधू, [२९]वर द्वारा वधू को वस्त्रदान, [३०]पति द्वारा वस्त्र हरण का निषेध, [३१]यक्ष्मनाशिनी, [३२,३३]परिपन्थिनः, [३४]वधू के वस्त्र को लेने वाला, [३५]भाववृत्ति, [३६]धनाशिषः, [३७]संयोगाशिषः, [३८-४७]विवाहित दंपती के लिये स्तुतियाँ, [४३]प्रजापति, [४४]इन्द्र, [४८](= खिल) बृहस्पति ।
८६ वृषाकपि
८७ अग्नि
८८ तीन अग्नि (पार्थिव, मध्यम और दिव्य)।
८९ इन्द्र, [५]सोम भी ।
९० पुरुष
९१ अग्नि
९२–९३ विश्वे देवाः
९३ [१४,१५]राज्ञां दानस्तुतिः
९४ ग्रावा
९५ पुरूरवस् और उर्वशी का संवाद
९६ इन्द्र
९७ ओषधीस्तवः
९८ [१-३]बृहस्पति, [४-७]देवाः, [८-१२]अग्नि
९९ इन्द्र ।
१०० विश्वे देवाः
१०१ ऋत्विक्स्तुतिः
१०२ मुद्गल अथवा इन्द्र (यास्क), विश्वे देवाः (शौनक)।
१०३ इन्द्र :
[४]बृहस्पति, [१२]अप्वा, [१३]इन्द्र अथवा मरुतः
खिल १ : [१]मरुतः
खिल २ (मह्ना) : [१]सूर्य, [२]घर्म, [३]बृहस्पति, [४]सवितृ, [५-१०]सूर्य-चन्द्रमस्
१०४ इन्द्र
१०५ इन्द्र
१०६ अश्विनौ
१०७ प्राजापत्या दक्षिणा; कुछ के अनुसार दक्षिणादातारः, [८-९] भोजाः
१०८ [१,३,५,७,९]सरमा, [२,४,६,८,१०,११] पणयः
१०९ विश्वे देवाः
११० आप्रियः
१११–११३ इन्द्र
११४ विश्वे देवाः : एके : देवाः, इन्द्र, छन्दांसि, अग्नि मध्यम ।
११५ अग्नि
११६ इन्द्र
११७ अन्न
११८ अग्नि रक्षोहन्
११९ लव
१२० इन्द्र :
[६]आप्त्याः निपातभाज् ।
१२१ प्रजापति
१२२ अग्नि
१२३ वेन
१२४ [१-४]अग्नि की आत्मस्तुति, [५]वरुण, [६]सोम, [७-८]वरुण, [९]सोम, इन्द्र ।
१२५ वाच्

१२६ अर्यमन्, मित्र, वरुण
१२७ रात्री
१२८ विश्वे देवा
खिल १ (नमस् ते) विद्युत
खिल २ (या कल्पयन्तिनोऽरय) कृत्यानाशनम्
खिल ३ (आयुष्यम्) हिरण्यस्तुति
१२९ परमेष्ठिन् भाववृत्तम्
१३० भाववृत्तम्
१३१ इन्द्र [4-5]अश्विनौ
१३२ मित्र वरुण
[1]द्यु, भूमि, अश्विनौ
१३३-१३४ इन्द्र
१३५ द्युस्थानीय यम
१३६ केशिन
१३७ [1]देवा, [2-4]वात, [5]विश्व देवा, [6-7]आप
खिल (भूमि) छाया
१३८ इन्द्र
१३९ [1-3]सवितृ, [4-6]गन्धर्व की आत्म-स्तुति, इन्द्र और सूर्य निपात भाज है।
१४० अग्नि
१४१ अग्नि और विश्वे देवा
१४२ अग्नि
१४३ अश्विनौ
१४४ इन्द्र
१४५ भाववृत्तम् औपनिषदम् सूक्तम् [1-5]सपत्न्यपनोदिका, [6]पति स्वनानी।
१४६ अरण्यानी
१४७-१४८ इन्द्र
१४९ सवितृ
१५० अग्नि
१५१ श्रद्धा
खिल १ मेध सूक्तम्
खिल २ (आ सूर एतु) अग्नि
१५२-१५३ इन्द्र
१५४ भाववृत्तम्
१५५ अलक्ष्मीघ्नम् [2-3]ब्रह्मणस्पति, [4]इन्द्र, [5]विश्वे देवा
१५६ अग्नि
१५७ विश्व देवा (इन्द्र प्रमुख देवता है, और विश्व देवा, आदित्या, मरुत्, गौण)।
१५८ सूर्य
१५९ पौलोमी द्वारा अपने, तथा अन्य सहपत्नियों के गुणों की स्तुति।
१६० इन्द्र
१६१ राजयक्ष्मघ्नम् इन्द्र अग्नि (यास्क) लिङ्गोक्तदैवतम् (एके)।
१६२ स्रवता गर्भाणाम् अनुमन्त्रणम् अग्नि रक्षोहन्।
खिल (वनस् तद् पश्यत) वन।
१६३ यक्ष्म नाशनम्
१६४ दुःस्वप्नघ्नम् इन्द्र और अग्नि निपात भाज्
१६५ प्रायश्चित्तार्थम् कपोत
१६६ सपत्नघ्नम्
खिल (येनेदम्) मनस्
१६७ इन्द्र
[3]वरुण, विधातृ, अनुमति, धातृ सोम, बृहस्पति।
१६८ अनिल ऋषि के पिता (अर्थात् वात)।
१६९ गाव
१७० सूर्य
१७१ इन्द्र
१७२ उषस्
१७३-१७४ राज्ञोऽभिषिक्तायानुमन्त्रणे।
१७५ ग्रावाण
१७६ अग्नि
[1]ऋभव
१७७ सूक्त अथवा मायाभेदम् [2]वाच (शौनक)
१७८ स्वस्त्ययनम् तार्क्ष्य।

१७९–१८० इन्द्र
१८१ विश्वे देवाः
१८२ बृहस्पति
१८३ लिङ्गोक्तदेवताः
[1]पुत्रकामी व्यक्ति के लिये स्तुति, [2]पुत्रकामी स्त्री के लिये स्तुति, [3]ऋषि की आत्मस्तुति।
१८४ सन्तान के लिये स्तुति : विश्वे देवाः
खिल (नेजमेष) : गर्भार्थम्
१८५ शान्त्यर्थं पावनं सूक्तम् : आदित्याः, सूर्य, वरुण, मित्र।
१८६ उल ऋषि के पिता, अर्थात् वात।
१८७ अग्नि।
१८८ जातवेदस्
१८९ सार्पराज्ञी की आत्मस्तुति, सूर्य (एके), वाच् (मुद्गल, शाकपूणि, शाकटायन)।
१९० भाववृत्तम्
१९१ [1]अग्निः [2-4]संज्ञानं
खिल १ (संज्ञानम्) : [1]उशना, वरुण, इन्द्र, अग्नि, सवितृ, [2]अश्विनौ, [3-5]आशिषः
खिल २ (प्राध्वराणाम्) : [1]अग्नि
खिल ३ (नैर्हस्त्यम्) : सपत्नघ्नम् : [1]इन्द्र और पूषन्
खिल ४ (महानाम्न्य ऋचः) : इन्द्र।



परिशिष्ट–४

बृहद्देवता में वर्णित कथाओं की सूची

अगस्त्य, देखिये वसिष्ठ और लोपामुद्रा
अग्नि और उसके भ्राता, ७. ६१–८१
अत्रि, देखिये भृगु
अपाला, ६. ९९–१०६
अभ्यावर्तिन् ५. १२४–१२८

इन्द्र, देखिये गृत्समद, त्रसदस्यु, त्रिशिरस्, विष्णु।
इन्द्र और ऋषिगण, ६ १३७–१४१
इन्द्र का जन्म और वामदेव के साथ युद्ध, ४. १२०–१२५
कपिञ्जल के रूप में इन्द्र, ४ ९३ ९४
इन्द्र और मरुद्गण, ४ ४६–५५
इन्द्र वैकुण्ठ, ७ ४९–६०
इन्द्र और त्वष्टा की बहन, ६ ७१–७७

उर्वशी, देखिये पुरूरवस्

ऋभुगण और त्वष्टा, ३. ८३–८८

कक्षीवत् और स्वनय, ३ १४२–१५१
कण्व और प्रगाथ, ६. ३५ ३९
कपोत नैर्ऋत, ८ ६७–६८
काश्यप भूतांश, ८. १८–२०

गृत्समद, इन्द्र और दैत्यगण, ४ ६५–७८।

घोषा, ७ ४२–४८

चित्र, देखिये सोभरि।

ऋषि त्रसदस्यु, और इन्द्र, ६ ५१–५७
त्रित, ३, १३२–१३७
त्रिशिरस् और इन्द्र, ६. १४७–१५३

त्र्यरुण और वृश जान, ५ १४–२२
त्वष्टा, देखिये ऋभुगण

दध्यञ्च, ३. १८–२४
दीर्घतमस्, ४. ११–१५
दैत्यगण, देखिये गृत्समद।

नाहुष और सरस्वती, ६. २०–२४

पणि, देखिये सरमा
पुरूरवस् और उर्वशी, ७ १४७–१५२
प्रगाथ, देखिये कण्व

भरद्वाज, देखिये भृगु
भूतांश, देखिये काश्यप
भृगु, अग्नि, भरद्वाज, आदि का जन्म ५. ९७–१०३।

मरुद्गण, देखिये इन्द्र।

लोपामुद्रा और अगस्त्य, ४ ५७–६१

वसिष्ठ और वरुण का कुत्ता, ६ ११–१५
वसिष्ठ और अगस्त्य का जन्म, ५ १४३–१५९
वामदेव, देखिये इन्द्र।
विश्वमित्र, गाथिन् के पुत्र, ४. ९५
विश्वामित्र और शक्ति, ४ ११२–१२०
विश्वामित्र, सुदास्, और नदियाँ, ४ १०५–१०८।
विष्णु द्वारा इन्द्र की सहायता, ६. १२१–१२३।
वृश जान, देखिये त्र्यरुण

व्यंस की बहन, देखिये इन्द्र।

शक्ति, देखिये विश्वामित्र

श्यावाश्व, ५. ५०-८१

सप्तवध्रि, ५. ८२-८५

सरण्यू, ६. १६२-७. ७

सरमा और पणि, ८. २४-३६

सरस्वती, देखिये नाहुष।

सव्य, ३. ११५

सुदास्, देखिये विश्वामित्र

सुबन्धु, ७. ८४-१०२

सोभरि और चित्र, ६. ५८-६२

सोम का पलायन ७. १०९-११५

स्वनय, देखिये कक्षीवत्



परिशिष्ट-५

अन्य ग्रन्थों में उद्धृत बृहद्देवता के स्थलों की सूची।

१. २ : ऋग्वेद् १. १ पर नीतिमञ्जरी।

२. १०५ : निरुक्त २. २ पर दुर्ग

३. १८-२३ : ऋग्वेद १. ११६, ११ पर नीतिमञ्जरी

३. १०१ : ऋग्वेद १. २८ पर षड्गुरुशिष्य और सायण।

३. १४०, १४२-१५० ऋग्वेद १. १२६, ७ पर नीतिमञ्जरी।

३. १५५-१५६ : ऋग्वेद् १. १२६, ६. ० पर नीतिमञ्जरी।

४. १-३ : ऋग्वेद १. १२६, ६. ७ पर नीतिमञ्जरी।

४ ११-१५ : ऋग्वेद १. १४७, २ पर नीतिमञ्जरी।

४. २१, २४, २५ : ऋग्वेद १. १८, १ पर नीतिमञ्जरी।

४. २२, २३, २४ : ऋग्वेद १. १५८, ५ पर नीतिमञ्जरी।

४. ३५ : अथर्ववेद १९. ५३, २ पर सायण

४. ४९-५३ ऋग्वेद १. १७०, १ पर नीतिमञ्जरी।

४. ५८-६० : ऋग्वेद १. १७९, १ पर नीतिमञ्जरी।

४. ६६-६९ : ऋग्वेद २. १२, १ पर नीतिमञ्जरी।

४. ६६-६८ : ऋग्वेद् २. १२, पर सायण।

४. ९३-९४ : ऋग्वेद २. ४३ पर षड्गुरुशिष्य।

४. ९६ : ऋग्वेद ३. ५, ६ पर षड्गुरुशिष्य।

४. १०५-१०६ : ऋग्वेद ३. ३३, ५ पर नीतिमञ्जरी।

४. ११२-११६ : ऋग्वेद ३. ५३ पर षड्गुरुशिष्य।

४. ११३-११४ : ऋग्वेद ३. ५३, १४ पर सायण।

४. ११० : ऋग्वेद ३. ५८ पर षड्गुरुशिष्य।

४. १२६ : ऋग्वेद ४. १८, १३ पर नीतिमञ्जरी।

४. १३०-१३१ : ऋग्वेद ४. १८, १३ पर नीतिमञ्जरी।

५. ८ : ऋग्वेद ४. ५७ पर षड्गुरुशिष्य

५. १४-२१, २२, २३ : ऋग्वेर ५. २, ९ पर नीतिमञ्जरी।

५. ३३-३६ : ऋग्वेद ४. ३०, १५ पर नीतिमञ्जरी।

५. ५०-८९ (६१, ६८, ७१ को छोड़ कर) : ऋग्वेद ५. ६१ पर षड्गुरुशिष्य।

५. ५०-७९ (६४-६७, ६९-७१ को छोड़कर) : ऋग्वेद ५. ६१, १७ पर नीतिमञ्जरी।

५. ७२-७९ : ऋग्वेद ५. ६१, १८ पर सायण।

५. ९७-१०१ : ऋग्वेद ५. की भूमिका में षड्गुरुशिष्य।

५. ९७-१०२ : ऋग्वेद ५. की भूमिका नीतिमञ्जरी।

५. १०६ : ऋग्वेद ६. २४, ५ पर सायण

५. १११ : ऋग्वेद ६ ४७ पर षड्गुरुशिष्य।

५. १२४-१२८ : ऋग्वेद ६. २७, ४ पर नीतिमञ्जरी।

५. १२९-१३३ : ऋग्वेद ६. ७५, १ पर नीतिमञ्जरी।

५. १३६-१३८ : ऋग्वेद ६. २७, ४ पर नीतिमञ्जरी।

५. १३९-१३० : ऋग्वेद ६. ४७, २२ पर नीतिमञ्जरी।

५. १४३-१५५ (१५३ को छोड़कर): ऋग्वेद ७. १०४, ११ पर नीतिमञ्जरी।

५. १४९-१५५ : ऋग्वेद ७. ३३, ११ पर में सायण।

६. ११-१५ : ऋग्वेद : ७. ५५, २ पर नीतिमञ्जरी।

६. ११-१३ : ऋग्वेद ७. ५५, ३ पर सायण

६. २७-२८ : ऋग्वेद ७. १०४ की भूमिका में सायण।

६. २८ : ऋग्वेद ७. १०४, १६ पर नीतिमञ्जरी।

६. ३२ : ऋग्वेद ७. १०४, २२ पर सायण।

६. ३५-३८ : ऋग्वेद ८. १ पर नीतिमञ्जरी।

६. ४३ : ऋग्वेद ८. ४ पर षड्गुरुशिष्य।

६. ५१-५७ : ऋग्वेद ८. १९, ३७ पर नीतिमञ्जरी।

६. ५८-६२ : ऋग्वेद ८. २१, १८ पर नीतिमञ्जरी।

६. ६८ : ऋग्वेद ८. २७ पर षड्गुरुशिष्य।

६. ७९-८० :
- ऋग्वेद ८. ४६ पर षड्गुरुशिष्य।
- ऋग्वेद ८. ४६, २१ पर सायण।

६. ९१-९२ : ऋग्वेद ८. ६८ पर षड्गुरुशिष्य।

६. ९९-१०६ : ऋग्वेद ८. ९१, ७ पर नीतिमञ्जरी।

६. ९९-१००, १०२, १०५-१०६ : ऋग्वेद ८. ९१ पर षड्गुरुशिष्य।

६. १०९-११३, ११४-११५ : ऋग्वेद ८. ९६, १३ पर सायण।

६. ११० : ऋग्वेद ८. ९५, ७ पर नीतिमञ्जरी।

६. १२१-१२४ : ऋग्वेद ८. १००, १२ पर सायण।

६. १६२-१६२ :
- ऋग्वेद १. ११६, ६ पर नीतिमञ्जरी।
- ऋग्वेद ७. ७२, २ और अथर्ववेद १८. १, ५३ पर सायण

७. १-७ : ऋग्वेद १. ११३, ३ पर नीतिमञ्जरी।

७. १-३ : ऋग्वेद ७. ७२, २ और अथर्ववेद १८. १, ५३ पर सायण।

७. ३७ : ऋग्वेद १०. ३१ पर षड्गुरुशिष्य।

७. ३९ : ऋग्वेद १०. ३४ पर सायण।

७. ४२-४४, ४५-४७ : ऋग्वेद १. ११७, ७ पर नीतिमञ्जरी।

७. ६१-८१ : ऋग्वेद १०. ५० पर षड्गुरुशिष्य की एक प्राचीन पाण्डुलिपि में।

७. ६१-६६, ७४, ७५, ७६ : ऋग्वेद १०. ५१, ८ पर नीतिमञ्जरी।

७. ८९-९० : ऋग्वेद ५. ६०, १२ पर नीतिमञ्जरी।

७. ९७-१०१ : ऋग्वेद १०. ६०, ७ पर सायण।

७. ९६-९८, ९९-१०० : ऋग्वेद ५. ६०, १२ पर नीतिमञ्जरी।

७. १०९ :
- ऋग्वेद १०. ७१ पर षड्गुरुशिष्य।
- ऋग्वेद १०. ७१, १२ पर सायण।

७. १५५-१५७ : ऋग्वेद १०, ९८ पर षड्गुरुशिष्य की एक प्राचीन पाण्डुलिपि में। ऋग्वेद १०. ९८, ८ पर नीतिमञ्जरी।

८. १-५ : ऋग्वेद १० ९८ पर षड्गुरुशिष्य की एक प्राचीन पाण्डुलिपि में।

८. १, २-७ : ऋग्वेद १०, ९८, ८ पर नीतिमञ्जरी।

८. ४० : ऋग्वेद १० ११९ पर षड्गुरुशिष्य।

८. ६५ : ऋग्वेद १०. १६१ पर षड्गुरुशिष्य।

८. ७३ : ऋग्वेद १०. १७३ पर षड्गुरुशिष्य।

८. ९८ : ऋग्वेद १०. १९१ पर षड्गुरुशिष्य।

८. १३३ : ऋग्वेद १०, १९१ पर षड्गुरुशिष्य।

८. १३५ : ऋग्वेद १०. १९१ पर षड्गुरुशिष्य।

८. १३६ : षड्गुरुशिष्य : भूमिका, १, २। ऋग्वेद-भाष्य भूमिका। सायण।

—✻—

परिशिष्ट–३

अन्य ग्रन्थों के साथ बृहद्देवता का सम्बन्ध



१. नैघण्टुक

नैघण्टुक ५. १, २ (पार्थिव देवता— अग्नि के रूप और अप्री देवता)	बृहद्देवता १. १०६-१०९ का स्रोत है ।
नैघण्टुक ५. ३ (अन्य पार्थिव देवता)	बृहद्देवता १. १०९-११४ का स्रोत है ।
नैघण्टुक ५. ४, ५ (अन्तरिक्ष देवता)	बृहद्देवता १. १२२-१२९ का स्रोत है ।
नैघण्टुक ५. ६ (द्युस्थानीय देवता)	बृहद्देवता २. ८-१२ का स्रोत है ।
नैघण्टुक ५. ३ (अश्वः से अग्नायी तक के नामों का अंश)	बृहद्देवता २. ७३-७५ का स्रोत है ।
नैघण्टुक १. १५ (विभिन्न देवताओं के वाहनाश्व)	बृहद्देवता ४. १४०-१४१ का स्रोत है ।



२. निरुक्त

निरुक्त	बृहद्देवता
७. ३ : एवम् उच्चावचैर् अभिप्रायैर् ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति ।	१, ३ : तदभिप्रायान् ऋषीणां मन्त्रदृष्टिषु ।
७. १ : यत्काम ऋषिर् यस्यां देवतायाम् आर्थपत्यम् इच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ।	१. ६ : अर्थम् इच्छन् ऋषिर् देवं यं यम् आहायम् अस्त्व् इति; प्राधान्येन स्तुवन् भक्त्या मन्त्रस् तद्देव एव सः
१०. ४२ : देवतानामधेयान्य् अनुक्रान्तानि, सूक्तभाञ्जि''' ७. १३ : देवताः'''सूक्तभाजः'''ऋग्भाजश् च'''काश् चिन् निपातभाजः।	१. १७ (तु० की० ८. १२९) । देवतानामधेयानि मन्त्रेषु त्रिविधानि तु : सूक्तभाञ्ज्य् अर्धर्चभाञ्जि तथा नैपातिकानि तु ।
१. २० : यद् अन्यदेवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत् ।	१. १८ : मन्त्रेऽन्यदैवतेऽन्यानि निपतन्तीऽत्र कानि चित्

निरुक्त	बृहद्देवता
१ १ पूर्वापरीभूत भावम् आख्या तेनाचष्टे	१ ४४ य पूर्वापरीभूत इहैक एव आख्यातशब्देन तम् अर्थम् आहु
७ ५ तिस्र एव देवता अग्नि पृथिवीस्थानो, वायुर वेन्द्रो वान्तरिक्ष स्थान सूर्यो द्युस्थान	१ ६९ अग्निर् अस्मिन् अथेन्द्रस् तु मध्यतो वायुर् एव च, सूर्यो दिवीति विज्ञेयास् तिस्र एवेह देवता ।
७ ४ आत्मैवैषा रथो आत्मायुधम् आत्मा सर्वं देवस्य	१, ७३ तेषाम् आत्मैव तत् सर्वं यद् यद् भक्ति- प्रकीर्त्यते तेजस् त्व् एवायुध प्राहुर् वाहन चैव यस्य यत्
७ १८ यस तु सूक्त भजते, यस्मै हविर् निरुप्यतेऽयम् एव सोऽग्निर्, निपातम् एव एते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ।	१ ७८ निरुप्यते हविर् यस्यै सूक्त च भजते च या, सैव तत्र प्रधान स्यान् न निपातेन या स्तुता ।
७ १९ जातवेदा जातानि वेद, जातानि वैन विदुर, जाते जाते विद्यत इति वा, जातवित्तो वा जातधनो, जातविद्यो वा जातप्रज्ञा	१ ९२ यद् विद्यते हि जात सञ्जातैर् यद् वात्र विद्यते । २ ३० भूतानि वेद यज्ज जात । यद् चैव जातविद्योऽभूद् वित्त जातोऽधिवत्ति वा । २ [illegible] विद्यते सर्वभूतैर् हि, यद् वा जात पुन पुन ।
७ २३ रोहात् प्रत्यवरोहम् चिकीर्षित तस् ताम् अनुकृति होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते तत आगच्छति मध्यस्थाना देवता रुद्रं च मरुतश् च ततोऽग्निम् इहस्थानम् अत्रैव स्तोत्रिय शसति	१ १०२ १०३ रोहात् प्रत्यवरोहेण चिकीर्षन्न आग्निमारुत शस्त्र वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते । ततस तु मध्यमस्थाना देवतास् त्व् अनुशसति, रुद्र च मरुतश् चैव स्तोत्रियेऽग्निम् इम पुन ।
७ ८ अय लोक प्रात सवन वसन्तो गायत्री त्रिवृत् स्तोमो रथतर साम ये च देवगणा समाम्नाता प्रथमे स्थाने । ७ ११ शरद् अनुष्टुब् एकविंशस्तोमो वैराज सामेति पृथिव्यायतनानि ।	१ ११५ ११६ लोकोऽय यच् च प्रात सवन क्रियते मखे, वसन्तशरदौ चर्तू स्तोमोऽनुष्टुब् अथो त्रिवृत् । गायत्री चैकविंशश्च यच् च साम रथतरम्, साध्या साम च वैराजम् आप्त्याश् च वसुभि सह ।

निरुक्त	बृहद्देवता
७. ८ : अथाऽस्य संस्तविका देवा इन्द्रः सोमो वरुणः पर्जन्य ऋतवः; आग्नावैष्णवं हविर् न त्व् ऋक् संस्तविकी दशतयीषु विद्यते; अथापि आग्नापौष्णं हविर् न तु संस्तवः।	१. ११७–१२० : इन्द्रेण च मरुद्भिश् च सोमेन वरुणेन च पर्जन्येनर्तुभिश् चैव विष्णुना चास्य संस्तवः; अर्यमाद्येस् तु पूष्णा च साम्राज्यं वरुणेन च। देवताम् अर्थतत्त्वज्ञो मन्त्रैः संयोजयेद् ऋषिः, असंस्तुतस्यापि सतो हविर् एकं निरुप्यते।
७. ८ : अथाऽस्य कर्म वहनं च हविषां आवाहनं च देवतानां यच् च किं चिद् दार्ष्टिविषयिकम्।	देवतावाहनं चैव वहनं हविषां तथा कर्म, दृष्टं च यत् किं चिद् विषये परिवर्तते।
७. १० : अन्तरिक्षलोको माध्यन्दिनं सवनं ग्रीष्मस् त्रिष्टुप् पञ्चदश-स्तोमो बृहत् साम। ७. ११ : हेमन्तः पङ्क्तिस् त्रिणवस्तोमः शाक्वरं सामैष् अन्तरिक्षायतनानि	१. १२०–१२१ : छन्दस् त्रिष्टुप् च पङ्क्तिश् च लोकानां मध्यमश् च यः एतेष्व् एवाश्रयो विद्यात् सवनं मध्यमं च यत्; ऋतू च ग्रीष्म-हेमन्तौ यच् च सामोच्यते बृहत्; शक्वरीषु च यद् गीतं नाम्ना तत् साम शाक्वरम्। २. १ : आह चैवास्य द्वौ स्तोमाव् आश्रयौ शाकटायनः, यश् च पञ्चदशो नाम्ना संख्यया त्रिणवश् च यः।
७. १० : अथाऽस्य संस्तविका देवा अग्निः सोमो वरुणः पूषा बृहस्पतिर् ब्रह्मण-स्पतिः पर्वतः कुत्सो विष्णुर् वायुः। ७. ११ : बृहस्पतिर् बृहतः पाता।	२. २–३ : संस्तुतश् चैव पूष्णा च विष्णुना वरुणेन च सोम-वायव्-अग्नि-कुत्सैश् च ब्रह्मणस्पतिनैव च बृहस्पतिना चैव नाम्ना यश् चापि पर्वतः।
७. १० : अथाऽपि मित्रो वरुणेन संस्तूयते, पूष्णा रुद्रेण च सोमोऽग्निना [वायुना] च पूषा, वातेन च पर्जन्यः।	२. ४–५ : मित्रश् च श्रूयते देवो वरुणेन सहासकृत् रुद्रेण सोमः पूष्णा च, पुनः पूषा च वायुना वातेनैव च पर्जन्यो लक्ष्यतेऽन्यत्र वै क्व चित्।

निरुक्त	बृहद्देवता
७. १० : अथाऽस्य कर्म रसानुप्रदानं, वृत्रवधो, या च का च बलकृतिः।	२. ६ : रसादानं तु कर्मास्य वृत्रस्य च निबर्हणम्, स्तुतेः प्रभुत्वं सर्वस्य बलस्य निखिला कृतिः।
७. २४ : आदित्यरश्मयः'''अमुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते।	२. ८–९ : सूर्यस्यैव तु रश्मयः अमुतोऽर्वाङ् निवर्तन्ते प्रतिलोमास् तदाश्रयाः।
७. ११ : असौ लोकस् तृतीयसवनं वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम''' शिशिरोऽतिच्छन्दास् त्रयस्त्रिंशस्तोमो रैवतं सामेति द्युभक्तीनि।	२. १३ : असौ तृतीयं सवनं लोकः, साम च रैवतम्; वैरूपं चैव, वर्षाश् च शिशिरोऽथ ऋतुस् तथा। २. १४ : त्रयस्त्रिंशश् च यः स्तोमः कल्प्यया सप्तदशश् च यः छन्दश् च जगती नाम्ना तथातिच्छन्दसश् च याः।
७. ११ : चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेण इति संस्तवः।	२. १५–१६ : एतस्यैव तु विज्ञेया देवाः संस्तविकास् त्रयः : चन्द्रमाश् चैव वायुश् च यं च संवत्सरं विदुः।
७. २३ : अथाऽपि वैश्वानरीयो द्वादशकपालो भवति'''अथाऽपि छान्दोमिकं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति''' अथापि हविष्पान्तीयं सूक्तं सौर्यवैश्वानरं भवति।	२. १६–१७ : केचित् तु निर्वपन्त्य् अस्य सौर्यवैश्वानरं हविः सौर्यवैश्वानरीयं हि तत् सूक्तम् इव दृश्यते।
७. १४ : अग्निः कस्मात्? अग्रणीर् भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति संनममानः।	२. २४ : जातो यद् अग्रे भूतानाम् अग्रणीर् अध्वरे च यत्, नाम्ना संनयते वाङ्गं स्तुतोऽग्निर् इति सूरिभिः।
८. १ : द्रविणोदाः कस्मात्? धनं द्रविणम् उच्यते'''बलं वा द्रविणम्''' तस्य दाता द्रविणोदाः।	२. २५ : द्रविणं धनं बलं चापि प्राप्नुयाद् येन कर्मणा, तत् कर्म दृष्ट्वा कुत्सस् तु प्राहैनं द्रविणोदसम्।
८. ५ : नपाद् इत्य् अनन्तरायाः प्रजाया नामधेयम्।	२. २७ : अनन्तरां प्रजाम् आहुर् नपाद् इति कृपण्यवः।

निरुक्त	बृहद्देवता
११. ६ : मृत्युर् मारयतीति सतो मृतं च्यावयतीति वा ।	२. ६० : यत तु प्रच्यावयन्न् एति घोषेण महता मृतम्, तेन मृत्युम् इमं सन्तं स्तौति मृत्युर् इति स्वयम् ।
१२. १६ : अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति ।	२. ६३ : पुष्यन् क्षितिं पोषयति प्रणुदन् रश्मिभिस् तमः, तेनैनम् अस्तौत् पूषेति ।
१२. २५ : केशी, केशा रश्मयस्, तैस् तद्वान् भवति, काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा ।	२. ६५ : प्रकाशं किरणैः कुर्वंस् तेनैनं केशिनं विदुः ।
१२. २७ : अथ यद् रश्मिभिर् अभिप्रकम्पयन् एति, तद् वृषाकपिर् भवति वृषाकम्पनः ।	२. ६७ : वृषाकपिर् असौ…… रश्मिभिः कम्पयन्न् एति वृषा वर्षिष्ठ एष सः ।
१२. १८ : अथ यद् विषितो भवति, तद् विष्णुर् भवति; विष्णुर् विशतेर् वा व्यश्नोतेर् वा ।	२. ६९ : विष्णातेर विशतेर् वा स्याद्, वेवेष्टेर् व्याप्तिकर्मणः, विष्णुर् निरुच्यते ।
१. ४ : अथ निपाता उच्चावचेष्व् अर्थेषु निपतन्ति : अप्य् उपमार्थेऽपि कर्मोपसंग्रहार्थेऽपि पदपूरणाः ।	२. ८९ : उच्चावचेषु चार्थेषु निपाताः समुदाहृताः : कर्मोपसंग्रहार्थे च क चिच् चौपम्यकारणात् ।
१. ९ : पदपूरणास् ते मिताक्षरेष्व् अनर्थकाः कम् ईम् इद् उ इति ।	२. ९० : मिताक्षरेषु ग्रन्थेषु पूरणार्थास् त्व् अनर्थकाः ।
१. ४ : तेषाम् एते चत्वार उपमार्थे भवन्तीति : इवेति…नेति…चिद् इति…नु इति ।	२. ९१ : कम् ईम् इद् उ इति विशेषाः । इव न चिन् नु चत्वार् उपमार्था भवन्ति ते ।
२. २ : अथ तद्धितसमासेष्व् एकपर्वसु च…प्रविभज्य निर्ब्रूयाद् : दण्ड्यः पुरुषो दण्डम् अर्हतीति ।	२. १०६ : समासेष्व् अपि तद्धिते प्रविभज्यैव निर्ब्रूयात् : दण्डार्हो दण्ड्य इत्य् अपि ।
१. १ : भावप्रधानम् आख्यातम् । १. २ : षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः : जायतेऽस्ति, विपरिणमते, वर्धते, ऽपक्षीयते, विनश्यतीति ।	२. १२१ : भावप्रधानम् आख्यातं; षड्विकारा भवन्ति ते : जन्मास्तित्वं परीणामो वृद्धिर् हानं विनाशनम् ।

निरुक्त	बृहद्देवता
१२ ४० यत् तु किं चिद् बहुदैवतं तद् वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते।	२ १३३ वैश्वदेवं यदेतत् सर्वं यद् किं चिद् बहुदैवतम्।
२ २३ सरस्वतीत्य एतस्य नदीवद् देवतावच्च च निगमा भवन्ति।	२ १३५–१३६ सरस्वतीति द्विविधम् ऋक्षु सर्वासु सा स्तुता नदीवद् देवतावच्च च। तत्राचार्यस तु शौनक नदीवन् निगमा पञ्च वै।
४ २१ तान्य एतान्य एकादशाग्नी सूक्तानि तेषां वासिष्ठम् आत्रेय वाध्र्यश्व गार्त्समदम् इति नाराशंसवन्ति मैधातिथं दैर्घतमस प्रैषिकम् इत्य उभयवन्ति अतोऽन्यानि तनूनपात्वन्ति।	२ १५४–१५७ तेषां प्रैषकृतं सूक्तं यच्च च दीर्घतमा ऋषी मेधातिथी यद् उत च श्रीण्य एवोभयवन्ति तु। ऋषी गृत्समदे यच्च च वाध्र्यश्व च यद् उच्यते, नाराशंसवद् अत्रेश च दृढवां च यद् औदंश। तनूनपाद् अगस्त्यश्च च जमदग्निश् च यत् जगौ, विश्वामित्र ऋषिर् यच् च जगौ वै काश्यपोऽसित।
	३ १–२ देखिये २ २८ के अन्तर्गत।
२ १८ उषा कस्मात्? उच्छतीति सत्या रात्रेर् अपर काल	३ ९ तम उद्वास्य उषा
८ १० नक्तेति रात्रिनाम अनक्ति भूतान्य् अवश्यायेन, अपि वा नक्ता अव्यक्तवर्णा।	३ ९ नक्तावसीमा हिमबिन्दुभिः, अपि वाव्यक्तवर्णेति नक्तरूपाक्षर इव भवेत्।
८ १३ त्वष्टा तूर्णम् अश्नुत इति नैरुक्तास त्विषेर वा स्याद् दीप्तिकर्मणस त्वक्षतेर वा स्यात् करोतीकर्मण	३ १६ त्विषितस त्वक्षतेर वा स्याद्, तूर्णम् अश्नुत एव वा, कर्मसु त्वरणो चेति।
८ १४ माध्यमिकस त्वष्टा इत्य आहुर मध्यमे च स्थाने समाम्नातोऽग्निर् इति शाकपूणि।	३ २५ त्वष्टा रूपविकर्ता च योऽसौ माध्यमिके गणे।
८ ३ एष हि वनानां पाता वा पाल पिता वा।	३ २६ अयं वनानां हि पति पाता पालयतीति वा।

निरुक्त	बृहद्देवता
८. २ : को द्रविणोदाः ? इन्द्र इति क्रौष्टुकिः स बलधनयोर् दातृतमः ।	३. ६१ : पार्थिवो द्रविणोदोऽग्निः पुरस्ताद् यस् तु कीर्तितः, तम् आहुर् इन्द्रं दातृत्वाद् एके तु बलवित्तयोः ।
८. २ : बलेन मथ्यमानो जायते ।	३. ६२ : जायते च बलेनायं मथ्यन् ऋषिभिर् अध्वरे ।
८. २ : ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस उच्यन्ते हविषो दातारस्, ते चैनं जनयन्ति : 'ऋषीणां पुत्रः' इत्य् अपि निगमो भवति : (बलेन मथ्यमानो जायते) तस्माद् एनम् आह सहसस् पुत्रं, सहसः सूनुं सहसो यहुम् ।	३. ६३-६४ : हवींषि द्रविणम् प्राहुर् हविषो यत्र जायते : दातारश् चर्त्विजस् तेषां, द्रविणोदास् तथा स्वयम् । 'ऋषीणां पुत्र' इत्य् एषा दृश्यते, 'सहसो यहो' ।
८. २ : अयम् एवाग्निर् द्रविणोदा इति शाकपूणिर् आग्नेयेष्व् एव हि सूक्तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति ।	३. ६५ : द्रविणोदोऽग्निर् एवायं; द्रवि- णोदास् तदोच्यते : आग्नेयेष्व् एव दृश्यन्ते प्रवादा द्रविणोदसः ।
११. १६ : ऋभुर् विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः ।	३. ८३ : सुधन्वन आङ्गिरसस्यासन् पुत्रास् त्रयः पुरा : ऋभुर् विभ्वा च वाजश् च, शिष्यास् त्वष्टुश् च तेऽभवन् ।
१. ५ : अगस्त्य इन्द्राय हविर् निरुप्य मरुद्भ्यः संप्रदित्सां चकार ; स इन्द्र एत्य परिदेवयां चक्रे ।	४. ४८-५० : स [अगस्त्यम्] तान् अभिप्रायमाह : निरुप्यैन्द्रं हविस् तदा मरुतश् चाभितुष्टाव सूक्तैस् तम् न्व् इति च त्रिभिः तिरसं तद् भविश् चेन्द्रं मरुद्भ्यो, दातुम इच्छति : विज्ञायावेक्ष्य तद्भावम् इन्द्रो नेति तम् अब्रवीत् ।
३. ३४ : विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव...स वित्तं गृहीत्वा विपाट्-छुतुद्र्योः संभेदम् आययौ...स विश्वामित्रो नदीस् तुष्टाव 'गाधा भवत' इति अपि द्विवद् अपि बहुवत् ।	४. १०६ : पुरोहितः सन् इज्यार्थं सुदासा सह यन् ऋषिः विपाट्-छुतुद्र्योः सम्भेदं शम इत्य् एते उवाच ह । प्रवादास् तत्र दृश्यन्ते द्विवद् बहुवद् एकवत् ।

निरुक्त	बृहद्देवता
६ २१ करूळती पूषेति सोऽदन्तक अदन्तक पूषेति [redacted] ब्राह्मणम्	४ १३९ करूळतीति पूषोक्तोऽदन्तक स इति श्रुते ।
७ ४ माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति (सु० की० बृहद्देवता १ ७३ के अन्तर्गत ७ ४ भी)।	४ १४३ आयुध वाहन चापि स्तुतौ यस्येह दृश्यते, तम् एव तु स्तुत विद्यात् तस्यात्मा बहुधा हि स ।
९ ४० शुनासीरौ शुनो वायु (शु एत्य् अन्तरिक्षे), सीर आदित्य सरणात् ।	५ ८ वायु शुन सूर्य एवात्र सीर शुनासीरौ वायु सूर्यौ वदन्ति ।
३ १७ अचिषि भृगु सम्बभूव अङ्गारेष्व् अङ्गिरा ।	५ ९९ ततोऽचिभ्यो भृगुर जज्ञे अङ्गारेभ्य् अङ्गिरा ऋषि
५. १३ उर्वश्य् अप्सरा तस्या दर्शनान् मित्रावरुणयो रेतश् चस्कन्द ।	५ १४९ तयोर् आदित्ययो सत्रे, दृष्ट्वाप्सरसम् उर्वशीम् रेतश् चस्कन्द, तत् कुम्भे न्यपतद् वासतीवरे ।
५. १४ सर्वे देवा पुष्करेणा धारयन्त	५ १५५ सर्वत्र पुष्कर तत्र विश्वेदेवा अधारयन् ।
२ १७ अहिर अयनाद् एत्य् अन्तरिक्षे, अयम् अपीतरोऽहिर् एतस्माद् एव निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति । १० ४४ योऽहि स बुध्न्यो, बुध्नम् अन्तरिक्ष तन्निवासात् ।	५ १६६ अहिर् आहति मेघान्, स एति वा तेषु मध्यम । योऽहि स बुध्न्यो, बुध्ने हि सोऽन्तरिक्षेऽभिजायते ।
९ ५ शकट शाकिनी गावो जालम् अस्यन्दन वनम्, उदधि पर्वतो राजा दुर्भिक्षे नव वृत्तय ।	५ १३८ शकटम् शाकिनी गाव कृषिर् अस्यन्दन वनम्, समुद्र पर्वतो राजा एव जीवामहे वयम् ।
१२ १ कान् अश्विनौ ? द्यावापृथिव्याव् इत्य् एके, अहोरात्राव् इत्य् एके, सूर्याचन्द्रमसाव् इत्य् एके ।	७ १२६ सूर्याचन्द्रमसौ तौ हि, प्राणापानौ च तौ स्मृतौ, अहोरात्रौ च ताव् एव स्याता ताव् एव रोदसी ।

निरुक्त	बृहद्देवता
१२. १४ : सूर्यः सर्तेर् वा सुवतेर् वा स्वीर्यतेर् वा ।	७. १२८ : सूर्यः सरति भूतेषु सु वीरयति तानि वा ।
११. ५ : चन्द्रमाश् चायन् द्रमति; चन्द्रो माता, चान्द्रं मानम् अस्येति वा; चन्द्रश् चन्दतेः कान्तिकर्मणः '''चारु द्रमति, चिरं द्रमति चमेर् वा पूर्वम् ।	७. १२९ : चारु द्रमति वा चायंश् चाय-नीयो द्रमत्य् उत; चमेः पूर्वम्; समेनानि निर्मिमीतेऽथ चन्द्रमाः ।
२. १० : देवापिश् चार्ष्टिषेणः शन्तनुश् च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः । स शन्तनुः कनीयान् अभिषेचयां चक्रे ।	७. १५५ : आर्ष्टिषेणस् तु देवापिः कौर-व्यश् चैव शन्तनुः भ्रातरौ कुरुषु त्व् एतौ राजपुत्रौ बभूवतुः । ज्येष्ठस् तयोस् तु देवापिः कनीयांश् चैव शन्तनुः । त्वग्दोषी राजपुत्रस् तु ऋष्टिषेणसुतोऽभवत् । राज्येन छन्दयाम् आसुः प्रजाः स्वर्गं गते गुरौ । स मुहूर्तम् इव ध्यात्वा प्रजास् ताः प्रत्यभाषत ।
देवापिस् तपः प्रतिपेदे । ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष । तम् ऊचुर् ब्राह्मणाः अधर्मस् त्वया चरितो ज्येष्ठं भ्रातरम् अन्तरित्याभिषेचितम्; तस्मात् ते देवो न वर्षतीति । स शन्तनुर् देवापिं शिशिक्ष राज्येन । तम् उवाच देवापिः पुरोहितस् तेऽसानि याजयानि च त्वेति । तस्यैतद् वर्षकामसूक्तम् ।	८. १ : न राज्यम् अहम् अर्हामि, नृपतिर् वोऽस्तु शन्तनुः । २ : ततोऽभिषिक्ते कौरव्ये वनं देवापिर् आविशत् न ववर्षाथ पर्जन्यो राज्ये द्वादश वै समाः; ३ : ततोऽभ्यगच्छद् देवापिं प्रजाभिः सह शन्तनुः; प्रसादयाम् आस चैनं तस्मिन् धर्मव्यतिक्रमे । ४ : शिशिक्ष चैनं राज्येन प्रजाभिः सहितस् तदा । तम् उवाचाथ देवापिः प्रह्वं तु साञ्जलिस्थितम् : न राज्यम् अहम् अर्हामि त्वग्दोष-पहतेन्द्रियः याजयिष्यामि ते राजन् वृष्टिकामेज्यया स्वयम् ।

निरुक्त	बृहद्देवता
९ २३ मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषिर् वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय।	८ १२ आजाव् अनेन भार्म्यश्व इन्द्रासोमौ तु मुद्गल अजयद् वृषभं युक्त्वा ऐन्द्रं च द्रुघणं रथे।

३. आर्षानुक्रमणी

आर्षानुक्रमणी	बृहद्देवता
१ १ अग्निमिन् ईळ इत्यादि प्रथमं मण्डलं प्रति, शतर्चिनस् तु विज्ञेया ऋषयः सूक्तसिद्धये।	३ ११६ प्रथमे मण्डले ज्ञेया ऋषयस् तु शतर्चिनः, क्षुद्रसूक्तमहासूक्ता अन्त्ये, मध्येषु मध्यमाः।
२ १ मध्यमेष्व् ऋषयो ज्ञेया मण्डलेष्व् अथ मध्यमाः।	(सु० कौ० सर्वानुक्रमणी, २ २, भूमिका शतर्चिन आद्ये मण्डले अन्त्ये क्षुद्रसूक्तमहासूक्ता मध्यमेषु माध्यमाः)।
१० १ दशमं मण्डलं प्रति क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता विज्ञेया ऋषयस् त्व् इति।	
१० ४५ आर्ष्टिषेणस् तु देवापि।	७ १५५ आर्ष्टिषेणस् तु देवापि
१० ९५ प्राजापत्यस्य सूक्तं यद् 'अपश्यं त्वा' प्रजावतः।	८ ८० प्राजापत्यस्य यत् सूक्तम् 'अपश्यं त्वा' प्रजावतः
१० १०७-१०९ गोधा घोषा विश्ववारा अपालोपनिषन् निषत्, ब्रह्मजाया जुहूर् नाम, अगस्त्यस्य स्वसादितिः, इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी, लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शश्वती, श्रीर् लाक्षा सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः।	२ ८२-८४ घोषा गोधा विश्ववारा अपालोपनिषन् निषत्, ब्रह्मजाया जुहूर् नाम, अगस्त्यस्य स्वसादितिः, इन्द्राणी चेन्द्रमाता [redacted] सरमा रोमशोर्वशी, लोपामुद्रा च नद्यस् [redacted] यमी नारी च शश्वती श्रीर् लाक्षा सार्पराज्ञी वाक् श्रद्धा मेधा च दक्षिणा, रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिताः।

४. अनुवाकानुक्रमणी

अनुवाकानुक्रमणी	बृहद्देवता
अनुव् २१ : गौतमाद् औशिजः, कुत्सः परुछेपाद् ऋषेः परः कुत्साद् दीर्घतमा इत्य् एष तु बाष्कलकः क्रमः	३. १२५ : गोतमाद् औशिजः, कुत्सः परुछेपाद् ऋषेः परः; कुत्साद् दीर्घतमाः शश्वत् ते द्वे एवम् अधीयते ।

५. ऋग्विधान

ऋग्विधान	बृहद्देवता
१. १, १ : नमस्कृत्वा मन्त्रदृग्भ्यः १. १, २ : समाम्नायानुपूर्वशः	१. १ : मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्वा समाम्नायानुपूर्वशः
३. ८, ६ : वृशावरं तु शान्त्यर्थम्	७. २१ : वृशावरं तु शान्त्यर्थम् ।
३. २२, ३ : सूर्यायै भाववृत्तं	७. १२१ : सूर्यायै भाववृत्तं तु ।
४. १, ५ : बृहस्पते प्रतीत्य् एतद्	८ ७ : बृहस्पते प्रतीत्य् एतद्
४. २४, २ : यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः, तथाघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ।	८. ९२–९३ : यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वरिप्रप्रणोदनः तथाघमर्षणं ब्रह्म सर्वरिप्रप्रणोदनम् ।

६. सर्वानुक्रमणी

सर्वानुक्रमणी	बृहद्देवता
१. ३ : एताः प्रउगदेवताः	२. १३५ : एताः प्रउगदेवताः
१. ४ : सुरूपकृत्नुं (दश) ऐन्द्रम्	२. १३९ : सुरूपकृत्नुम इत्य् ऐन्द्रम् ।
१. १२ : पादो द्व्यग्निदैवतो निर्मथ्याहवनीयौ	२. १४५ : पादस् तत्र द्विदैवतः निर्मथ्याहवनीयार्थौ ।
१. १३ : इति प्रत्यृचं देवताः	२. १४६ : प्रत्यृचं यास् तु देवताः ।
१. १४ : ऐभिर् वैश्वदेवम्	३. ३३ : आग्नेयं सूक्तम् ऐभिर् यद् वैश्वदेवम् ।

सर्वानुक्रमणी	बृहद्देवता
१ १६४ गौरीर् इति एतदन्त वैश्वदेवम्।	४ ४२ गौरीरन्त वैश्वदेवम्।
१ १६४ इन्द्र मित्र सौर्यां वान्त्या सरस्वते सूर्याय वा।	४ ४२ इन्द्र मित्रमिमे सौर्या, सौरी वान्त्या सरस्वते।
१ १६५ मरुतो मरुताम्।	४ ४४ मरुताम् मरुत्त।
१ १७९ मह्याचार्यन्त्ये अपश्यत्।	४ ५९ मह्याचायुत्तमे जगौ।
१ १९० अनर्वाण बार्हस्पत्यम्।	४ ६३ बृहस्पतेर् अनर्वाणम्।
२ ९९ एतमता वैश्वदेवम्।	४ ८४ एतमता वैश्वदेवम्।
२ ३१ द्वे द्वे राका-सिनीवाल्यो।	४ ८७ द्वे द्वे राका सिनीवाल्यो।
३ २,४ वैश्वानरीय तु समित्समिद् आप्रिय।	४ ९६ वैश्वनरीये समित् समिद् आप्य।
३ २० अग्निम् उपसम् (आद्यान्त्ये) वैश्वदेव्यौ।	४ १०४ अग्निम् उपस वैश्वदवी।
३ ५३ अभिशापास ता वसिष्ठद्वेषिण्य, न वसिष्ठा शृण्वन्ति।	४ ११७, ११८, ११९ वसिष्ठद्वेषिण्य स्मृता, अभिशापा इति स्मृता, वसिष्ठास् ता न शृण्वन्ति।
३ ५८ ५९, ६० धेनुर् मित्र इहेह व।	४ १२२ धेनुर् मित्र इहेह व
४ १३ लिङ्गोक्तदैवतं [illegible] एके।	४ १२९ लिङ्गोक्तदैवते सूक्ते, एके।
४ १५ अपिर् वोधद् इत्य् आभ्या सोमक साहदेव्यम् अभ्यवदत्।	४ १२९ अपिर् वोधद् इति द्वाभ्यां स्तौति सोमकम् एव [illegible]।
४ १५ पराभ्याम् अस्याश्विनौ।	४ १३० पराभ्याम् अश्विनौ स्तुतो,
४ ५३, ५५-५७ तद् सावित्र तु को वैश्वदेवम् मही द्यावापृथिवीय, क्षेत्रस्य त्रिस्र क्षैत्रपत्या।	५ ७ तत् सावित्रं इ तु, को वैश्वदेवम्, ५ ७ मही द्यावापृथिवीय पर तु यत्, ५ ७ क्षेत्रस्येति तिस्रस् तु क्षैत्रपत्या।
४ ५८ सौर्यं वाप वा गव्य वा घृत स्तुतिर् वा।	५ ११ अपां स्तुतिं वा यदि वा घृत-स्तुतिं गव्यम् एके सौर्यम् एतद् वदन्ति।

सर्वानुक्रमणी	बृहद्देवता
५. २७ : नात्मात्मने दद्यात् ।	५. ३२ : आत्मा हि नात्मने दद्यात्
५. ६१ : वैददश्वी तरन्त-पुरुमीळ्हौ ।	५. ६२ : तरन्त-पुरुमीळ्हौ तु राजानौ वैददश्वी ऋषी ।
५. ८५ : प्र सम्राजे'''वारुणम् । ५ ८६ : इन्द्राग्नी'''ऐन्द्राग्नम् । ५. ८७ : प्र वो'''मारुतम् ।	५. ८९ : वारुणं तु प्र सम्राजे इन्द्राग्नी ऐन्द्राग्नम् उत्तरम् । ५. ९० : विष्णुन्यङ्गं परं प्रेति मारुतम् ।
६. ५८ : अन्यया द्यावाभूम्योर् वा पूषेर् वा	५. ११४ : अन्यया भूम्योः कीर्तना प्रभवे वा ।
६. ६८ : श्रुष्टी वाम् ऐन्द्रावरुणम् ।	५. १२१ : श्रुष्टीति चैन्द्रावरुणम् ।
६. ६९ : सं वाम्'''ऐन्द्रावैष्णवम् ।	५. १२१ : सम् ऐन्द्रावैष्णवं परम् ।
१. १६६ : मित्रावरुणयोर् दीक्षितयोर् उर्वशीम् अप्सरसं दृष्ट्वा वासतीवरे कुम्भे रेतोऽपतत् ।	५. १४९ : तयोर् आदित्योः सत्रे दृष्ट्वाप्सरसम् उर्वशीं रेतश् चस्कन्द; तत् कुम्भे न्यपतद् वासतीवरे ।
७. ६० : यद् अद्य'''सौर्यं आद्या । ७. ६२ : उत् सूर्यः'''तिस्रः सौर्यः । ७. ६३ : उद् वेतीति चार्धपञ्चमाः ।	६. ५ : यद् अद्येकोव सूर्यस् तिस्र उद् वेतीत्य् अर्धपञ्चमाः सौर्यः ।
७. ६६ : चतुर्थ्याद्या दशादित्यास्, तिस्रः सौर्यः ।	६. ८ : यद् अद्य सूर इत्य् आद्या दशादित्याः ऋचः स्मृताः । ६. ९ : स्तुता उद् उ त्यद् इत्य् एताम् तिस्र सौर्यस् ततः पराः ।
७. ९९ : उरुम् इत्य् ऐन्द्रयश् च तिस्रः ।	६. १५ : उरुम् ऐन्द्रयश् च तिस्रः स्युः
७. ९७ : यज्ञे'''ऐन्द्र्याद्य'''अन्त्यैन्द्री च तृतीयानवम्याव् ऐन्द्राब्राह्मणस्पत्ये ।	६. १६ : यज्ञ आद्यैन्द्रम् एवास्तौत्, अन्त्या त्व् इन्द्राबृहस्पती । ६. २७ : तृतीया नवमी चैव स्तौतीन्द्राब्रह्मणस्पती ।
७. १०४ : ऐन्द्रासोमं राक्षोघ्नम् ।	६. २७ : ऐन्द्रासोमं परं तु यत् । ६. २८ : ऋषिर् ददर्श राक्षोघ्नम् ।
७. १०४ : प्र वर्तयेति पञ्चैन्द्र्यः; मा नो रक्ष इत्य् ऋषेर् आत्मन आशीः ।	६. ३१ प्र वर्तयेति पञ्चैन्द्र्यः ५. ३१ : ऋषिस् त्व् आशिषम् आशास्ते ५. ३१ : मा नो रक्ष इति त्व् ऋचि ।

सर्वानुक्रमणी	बृहद्देवता
८. ५ : अन्त्याः पञ्चार्धर्चाश् चैद्यस्य कशोर् दानस्तुतिः ।	६. ४५ : इत्य् अर्धर्चो तृचश् चास्य कशोर् दानस्तुतिः स्मृता ।
८. ४६ : प्रगाथौ च वायव्यौ ।	६. ८० : आ नः प्रगाथौ वायव्यौ ।
८. ४७ : अन्त्याः पञ्चोपसदेऽपि ।	६. ८३ : अन्त्याः पञ्चोपसदेऽपि स्युः
८. ६८ : ऋक्षाश्वमेधयोर् दानस्तुतिः ।	६. ९२ : ऋक्षाश्वमेधयोर् अत्र पञ्च दानस्तुतिः पराः ।
८. ७२ : हविषां स्तुतिर् वा ।	६. ९३ : अथवा सूक्तम् उत्तरं हविषां स्तुतिः ।
८. १०० : अयं ते···नेमो भार्गवः ।	६. ११७ : नेमोऽयम् इति भार्गवः ।
८. १०१ : वायव्ये सौर्यौ···उपस्था ।	६. १२६ : वायव्ये सौर्ये उपस्था ।
९. ६७ : सावित्र्य् आग्निसावित्री वैश्वदेवी	६. १३२ : उभाभ्याम् इति सावित्री आग्निसावित्र्य् ऋग् उत्तरा । ६. १३३ : पुनन्तु मा वैश्वदेवी ।
१०. १७ : द्वे सरण्यूदेवते ।	७. ७ : सरण्यूदेवते द्वे ।
१०. १९ : अग्नीषोमीयो द्वितीयोऽर्धर्चः ।	७. २० : अर्धर्चः प्रथमायास् तु अग्नीषोमीय उत्तरः ।
१०. २५, २६ : भद्रम्···सौम्यं, प्र हि···पौष्णम् ।	७. २२ : भद्रं सौम्यं, प्र हि पौष्णम् ।
१०. ३३ : द्वे कुरुश्रवणस्य त्रासदस्यवस्य दानस्तुतिः···मृते मित्रातिथौ राज्ञि तत्स्नेहाद् ऋषिर् । उपमश्रवसं पुत्रम् अस्य व्यशोकयत्	७. ३५ : कुरुश्रवणम् अर्चतः परे द्वे त्रासदस्यवम् । मृते मित्रातिथौ राज्ञि सखायम् ऋषिः परैः । ७. ३६ : उपमश्रवसं 'यस्य' चतुर्भिः स व्यशोकयत् ।
१०. ४७ : विकुण्ठा नामासुरी, इन्द्रतुल्यं पुत्रम् इच्छन्ती, महद् तपस् तेपे, तस्याः स्वयम् एवेन्द्रः पुत्रो जज्ञे । स सप्तगुस्तुतिसंहृष्ट आत्मानम् उत्तरैस् त्रिभिस् तुष्टाव ।	७. ४९ : प्राजापत्यासुरी त्व् आसीद् विकुण्ठानाम नामतः ; सेच्छन्तीन्द्रसमं पुत्रं तेपेऽथसुमहत् तपः । ७. ५० : तस्यां चेन्द्रः स्वयं जज्ञे । ७. ५१ : सप्तगुस्तुतिहर्षितः आत्मानम् एव तुष्टाव अहं भुवम् इति त्रिभिः ।

सर्वानुक्रमणी	बृहद्देवता
१०, ५० : वषट्कारेण वृक्णेषु भ्रातृषु सौचीकोऽग्निर् अपः प्रविश्य ।	७. ६१ : वषट्कारेण वृक्णेषु भ्रातृषु । ७. ६२ : सौचीकोऽग्निर् इति श्रुतिः ७. ६२ : [illegible] आविशद् अपक्रम्य । ७. ६२ : ऋतून् अपो वनस्पतीन् ।
१०. ५६ : द्वैपदे त्व् अग्निमण्डले ।	७. ८६ : द्वैपदा येऽग्निमण्डले ।
१०. ५६ : ऐक्ष्वाको राजासमातिः ।	७. ८५ : राजासमातिर् ऐक्ष्वाकुः ।
१०. ५६ : गौपायनान् पुरोहितांस् त्यक्त्वा ।	७. ८५ : पुरोहितान् । ७. ८६ : स्युबन्ध्व बन्धु प्रभृतीन् ।
१०. ५६ : अन्यौ मायाविनौ श्रेष्ठतमौ मत्वा पुरोदधे… ।	७. ८६ : ततो मायाविनौ द्विजौ । ७. ८७ : असमातिः पुरोऽधत्त : वरिष्ठौ तौ हि मन्यते ।
१०. ५६ : भ्रातरस् त्रयः मा प्र गामेति… स्वस्त्ययनं जप्त्वा यत् ते यमम् इति…मनआवर्तनं जेपु ।	७. ८९ : भ्रातरस् त्रयः । ७. ९० : जेपुः स्वस्त्ययनं सर्वे मेति गौपायनाः सह; मन-आवर्तनं तस्य सूक्तं यद् इति तेऽब्रुवन् ।
१०. ६० : आ जनम् इति…चतसृभिर् असमातिम् अस्तुवन् ।	७. ९६ : ऋग्भिर् ऐति चतसृभिस् तत ऐक्ष्वाकुम् अस्तुवन् ।
१०. ६० : अगस्त्यस्य स्वसा मातैषां राजानम् अस्तौत् (तु० की० आर्षानुक्रमणी १०. २४) ।	७. ९७ : अगस्त्यस्येति माता च तेषां तुष्टाव तं नृपम् ।
१०. ६० : सुबन्धोर् जीवम् आह्वयन् ।	७. १०० : सुबन्धोर् असुम् आह्वयन् ।
१०. ६० : तम् अन्यया लब्धसंज्ञम् अस्पृशन् ।	७. १०२ : लब्धासुं चापत् इत्य अस्यां पृथक् पाणिभिर् अस्पृशन् ।
१०. ६२ : पञ्च अङ्गिरसां स्तुतिः ।	७ १०२ : पञ्च…अङ्गिरसां स्तुतिः ।
१०. ७१ : बृहस्पतिर् ज्ञानं तुष्टाव ।	७. १०९ : नञ् ज्ञानम् अभितुष्टाव सूक्तेनाथ बृहस्पतिः ।
१०. ८१ : य इमाः…विश्वकर्मणम् ।	७. ११० : य इमा विश्वकर्मणे ।
१०. ९८ : आर्ष्टिषेणो देवापिः (तु० की० आर्षानुक्रमणी १०. ४५) ।	७. १५५ : आर्ष्टिषेणस् तु देवापिः

सर्वानुक्रमणी	बृहद्देवता
१० १०१ उद्बुध्यध्व ऋत्विक् स्तुति ।	८ १० उद् इत्य ऋत्विक्स्तुति परम् ।
१० १०३ आशु ऐन्द्रोऽप्रतिरथस् चतुर्थी बार्हस्पत्या ।	८ १२ ऐन्द्रोऽप्रतिरथो जगौ । ८ १४ चतुर्थी बार्हस्पत्या स्यात् ।
१० १०७ दक्षिणा वा प्राजापत्या ।	८ २२ प्राजापत्याथ दक्षिणा । (आर्षा० १० ५० 'प्राजापत्या दक्षिणा वा')
१० १०९ तेऽवदन् जुहूर् ब्रह्मजाया वैश्वदेवम् ।	८ ३६ तेऽवदन् वैश्वदेव तु ब्रह्मजाया जुहूर् जगौ ।
१० १२४ अग्निवरुणसोमानाम् ।	८ [redacted] वरुणेन्द्राग्निसोमानाम् ।
१० १३२ ईजान मैत्रावरुणम् ।	८ ४७ मैत्रावरुणम् ईजानम् ।
१० १५५ अरायि अलक्ष्मीघ्नम् ।	८ ६० यद् अरायीत्य् अलक्ष्मीघ्नम् ।
१० १५७ इमा नु क वैश्वदेवम् ।	८ ६१ वैश्वदेवम् इमा नु कम् ।
१० १६४ अपेहि दुःस्वप्नघ्नम् ।	८ ६७ दुःस्वप्नघ्नम् अपेहीति ।
१० १६६ ऋषभम् सपत्नघ्नम् ।	८ ६९ ऋषभं मा सपत्नघ्नम् ।
१० १७०, १७१ विभ्राड् सौर्यं त्व त्वम् ।	८ ७३ विभ्राड् सौर्यं त्व त्वम् ।
सर्वानुक्रमणी, भूमिका २ ७ अर्थेप्सव ऋषयो देवताश् छन्दोभिर् अभ्यधावन् ।	८ १२७ अर्थेप्सव ऋषय् ऋषयश् छन्दोभिर् देवता पुरा अभ्यधावन् ।

७. कात्यायन : वाजसनेयि संहिता की सर्वानुक्रमणी

वासं० सर्वानुक्रमणी	बृहद्देवता
. १० : सर्वा ऋच आग्नेय्यः । सामानि सौराणि सर्वाणि ब्राह्मणानि च देवताम् अविज्ञाय यो जुहोति देवतास् तस्य हविर् न जुषन्ते । संन्यस्य मनसि देवतां हविर् हूयते ।	८. ११० : समस्ता ऋच आग्नेय्यो वायव्यानि यजूंषि च; सौर्याणि चैव सामानि सर्वाणि ब्राह्मणानि च । ८. १२१ : जुषन्ते देवतास् तस्य हविर् नादेवताविदः । ८. १२२ : अविज्ञानप्रविष्टं हि हविर् नेहेत दैवतम् । तस्मान् मनसि संन्यस्य देवतां जुहुयाद् धविः ।
स्वाध्यायम् अपि योऽधीते मन्त्र- दैवतज्ञः, सोऽमुष्मिन् लोके देवैर् अपीज्यते ।	७. १२३ : स्वाध्यायम् अपि योऽधीते मन्त्रदैवतविच् छुचिः । सत्रसद् इव स्वर्गे सत्रसद्भिर् अपीज्यते ।
तस्माच् च देवता वेद्या मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः मन्त्राणां देवताज्ञानान् मन्त्रार्थम् अधिगच्छति ।	१. २ : वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे मन्त्रे प्रयत्नतः दैवतज्ञो हि मन्त्राणां तदर्थम् अवगच्छति ।
न हि कश्चिद् अविज्ञाय याथातथ्येन देवताः श्रौतानां कर्मणां विप्रः स्मार्तानां चाश्नुते फलम् ।	१. ४ : न हि कश्चिद् अविज्ञाय याथातथ्येन दैवतं लौक्यानां वैदिकानां वा कर्मणां फलम् अश्नुते ।

८. भगवद्गीता

भगवद्गीता	बृहद्देवता
८. १७ : सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर् यद् ब्रह्मणो विदुः । (षड्गुरुशिष्य, : 'सहस्रयुगपर्य- न्तम् अहर् यद् ब्राह्मम् उच्यते)।	८. ९८ : सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर् ब्र स राध्यते ।

९. हेमचन्द्र : अभिधानचिन्तामणि

अभिधानचिन्तामणि	बृहद्देवता
बॉटलिङ्क संस्करण का अन्तिम श्लोक।	
इयन्त इति संख्यानं निपातानां न विद्यते प्रयोजनवशाद् एते निपात्यन्ते पदे पदे।	१ ९२ इयन्त इति संख्यानं निपातानां न विद्यते वशात् प्रकरणस्यैते निपात्यन्ते पदे पदे।

परिशिष्ट–9

संस्कृत शब्दों और नामों की अनुक्रमणिका

अ, ४. ८२; ५. १४६, ७. ११४
अंशुमती, ६. ११०
अंस, ४. २२
अकर्मक, १. ३१
अकस्मात्, ४. १५
अक्ष, १. ११०; ७. ३७
अक्षय, ६. ५५; ७. ६०
अक्षर, १. ६२
अक्ष संस्तुति, १. ५२
अक्ष-स्तुति, ७. ३६
अखिल, ६. १२, ८६, १२४
अगस्त्य, २. ८२, १३१, १५६; ३. ५५, १२८; ४. ७७, ५१, ५३, ५८, ६१, ६४; ५. १५०, १५२
अग्नायी, १. ११२; २. ७५, ३. ६, ९२
अग्नि, १. ५, ६९, ८२, ८६, ९७, ११८, १२६; २. २, २२, २४, २०, ३७, १२४; ३. ३७, ८६; (तापस) ३.५८; (त्रयः) ६. १६०
अग्नि दैवत, ३. ९७
अग्नि-दैवत्य, २. ११५
अग्नि-धान, ८. ६८
अग्नि-भूत, १. ६४, ६७
अग्नि-वायु-विवस्वत्, बहु०, ४. ३७
अग्नि-सूर्य अनिल, बहु०, ६. ५०
अग्नि इन्द्र-सूर्य, बहु०, २. ७०
अग्नीषोमीय, ७. २०
अग्रणी, २. २४
अग्रे-स्मा, ६. ५२
अंग्रय, २. ७७
अघ-मर्षण, ८. ९१; ८. ९३
अघ्न्या, १. १२८; २. ८८; ८. १२५
अङ्ग, ३. १२५, ४. ११६; ७. ७७
अङ्ग-देश, ४. २४
अङ्ग राज-गृह, ४. २४
अङ्गार, ५. ९९, १०२
अङ्गिरस्, ३. ११५; ५. ९९, १०३; १. १२७; ४. ९८. ६. १५६, १५७, ७. १०२; ८. १२६
अज एकपाद्, २. ११
अज, ४. १४१
अजाविक, ३. १४७, ५. ६४
अञ्जि, अञ्ज् धातु, ३. ९
अञ्ज्- अनक्ति, ३. ९
अञ्जन-कर्मन्, ७. १२
अञ्जन्ति-सूक्त, ३. २८
अणिष्ठ, २. ३२
अणु, ८. १४०
अण्ड-ज, ८. ११५
अतिक्रम, ५. ७०
अतिगम, २. ४९, ५०, ५५
अतिच्छन्दस्, २. १४; ८ १०८
अतिरिक्त, २. १००
अतिव्यार, ८. ११३, ११६
अतिस्वार्य, ८. १२०
अत्यद्भुत, (कर्मन्) ६. २४
अत्यय, ३. ६४
अत्रि, २. ३६, १२९, १५६; ५. २९, ३१, ५०, ६४, ६५, १०१; बहु०, ४. ९८ ५. १२, १३, २८; ७. ९८ (= मण्डल ५)
अत्रि-पुत्र, ५. ५२, ५७
अत्रि-मण्डल, ७. ८६
अत्रि-सप्तक, ६. ८२
अत्रि-सुता, ६. ९९

अथर्वन्, २. १२; ३. १८, १२१; बहु०, अथर्वाणः १. १२०; ६. १५६; ८. १२५
अथर्वाङ्गिरस = अथर्व-वेद, २. १४३; बहु० (मन्त्राः) ५. १६
अदन्तक, ४. १२९
अदर्शन, ५ ६५
अदस्, (दिव्य); असौ (अग्नि), ५. ४८; ७. १४२; अमुम् (लोकम्) ३. १३
अदिति, १. १२४; २. ४५, ७६, ८२; ३. ५७, १२३; ४. ९८; ५. १४४, १४६; ७. १०४, ११४; ८. १२५; अदितेः सुताः १. ८९
अदुर्वंक, ५. ५७
अदृश्य, ५. १५६
अदृष्ट आपद, ४. ६४
अदेवता-विद्, ८. १३१
अद्भुत, ४. ५०
अद्यस्तन, ४. ५०
अधर्पणीय, ५. १२०
अधि, ३. १३
अधिप, बहु० (अपः), ४. ४१
अधिवासस्, ४. ३०
अधीयान, १. २१; ६. १४२
अध्ययन, १. १४२
अध्यर्ध, ३. ९७
अध्यापयत्, २. [redacted]
अध्यापित, ५. ५३
अध्येषण, ५. ३०
अध्वन्, ३. १४२
अध्वर, २. २४; ३. २, ३, ६२; ७. ७३
अध्वर्यु, ७. ८०
अनड्वह्, ३. ५०, ७९; ४. ११६
अनन्ध, ४. १५
अनपायिन्, ६. ५५
अनर्थ, ६. ११३
अनर्थक, २. ९१
अनर्थ-विद्, ७. ११३
अनल्पशस्, २. ९२
अनवगम, २. १०८, ११५
अनवद्याङ्गी, ६. १०४
अनस्, ४. ११६
अनसूयु, ६. १४२
अनागत, ७. ३०
अनागस्, ४. ६०
अनाधार, ८. १२९
अनावृष्टि, ६. १३७
अनिरुक्त, ४. २८
अनिरुक्त, ७. १९
अनिरुक्त-सूक्तादि, ८. १५
अनिल, ७. २८; एक ऋषि, ८. ७१
अनु, २. ९५
अनुकम्पार्थ, ८. ८५
अनुकीर्तयत्, २. २१
अनुकीर्तित, ४. २८
अनुक्रम, १. ७९, ८५
अनुक्रमतस्, १. ४६
अनुक्रान्त, ८. १२९
अनुग, ३. १३
अनुगच्छत्, ३. १२१
अनुज्ञा, ६. ३५
अनुपदिष्ट (कर्मन्), ३. ४९
अनुपानीया, ५. ११०
अनुपूर्वशस्, ५. १०३; ८. ४१
अनुमत, ५. ६३
अनुमति, १. १२९; ३. ७८; ४. ८८; ८. ७०
अनुमन्त्रण, ५. ८६; ८. ६६, ७३, ८७
अनुयाज, ७. ७४; ८. १०३
अनुयोग, १. ३६५२
अनुराग, ७. १४८
अनुवाक, ६. १४६
अनुशासन, ७. १३४
अनुष्टुभ्, १. ११५; ८. १०५
अनूषि, ५. ५८, ५९; ८. १२९

अनेक, २. ११२
अनेकधा, ३. ४४
अनेकार्थ, २. १०८
अनेकार्थक, २. ९१
अन्त, ५. १७१; ३. ४९, ५२; ६. १०१, १४४
अन्तःपरिधि, ७. ९८
अन्त-काल, २. ५३
अन्ततस्, ८. २१
अन्तर्, २. ९५
अन्तर, ६. १२३
अन्तरिक्ष, २. ३३, ५८; ५. १६६
अन्तारस, २. ४२
अन्तिक, ६. १२२
अन्य (कर्मन्), ७. १०; (मण्डल) ३. ११६
आन्य-कर्मन्, ७. १५
अन्त्र, ४. १२६; ७. ७९
अन्यता, ४. १५
अन्न, १. ८४; २. ४०; ३. ५; ८. ४०
अन्न-काम, ३. ३२
अन्नाद, ६. १५१
अन्यथा, ८. ११९
अन्य-देवत्य, २. १२६
अन्य-देश, ५. १६
अन्य-दैवत, १. १८
अन्योन्य-योनि-ता, १. ७१
अन्विष्यन्ती, ८. २०
अप्, बहु०, आपः, १. ८३, ११२; २. ७३; अपः २. ५९; ७. ६२; अपाम् २. ५५, ५६; ३. १७; ४. ६३; ५. १७५; ६, १००, १०१; ७. ९, २०, ३३ अद्भ्यः ३. २४; अप्सु ५. १५४
अपक्रमण, ५. १०
अपक्रम्य, ४. १०९; ७. ६२
अपक्रान्त, ७. ३
अपनुत्ति, ३. ११४; ६, १५३
अपनोदन, ७. ९१
अपर, ८. ७५
अपराध, ५. ८२, ८३
अ-पश्यत्, -न्ती, ५. ७४
अपहृत, ६. १०६
अपहृत्य, ५. १२
अपहृत्य, ७. १८
अपह्नव, १. ३८, ५४, ५७
अपाक्रिया, ७. ६०
अपां नपात्, १. १२४; ७. ५३; ८. १२७
अपाला, २. ८२; ६. ९९
अपूप, ६. १०३
अप्रगृह्य, ४. १४४
अप्रतिरथ (ऐन्द्र), ८. १३
अप्राप्य, ७. १५२
अप्वा, १. ११२; २. ७४; ८. १३
अप्सरस्, ५. १४९; ७. १४७, बहु० १. २१; ७. ७१; ८. ११४
अबन्धुवत्, ३. ८२
अब्-देवत, ७. १०
अब् दैवत, ८. ५०
अभि, ७. ८७, ९७
अभिपात, ७. ८८
अभिचारक, -रिका, ४. ११८
अभितप्य, ६. १२१
अभिधान, ३. ७७; ५. १५४; ७. ९५
अभिधायक, ५. ९४, ९५
अभिनिर्दिश्य, ७. १०१
अभिमान, ९. ६०
-अभिरूप, ७. १५१
अभिशाप, १. ५८; ४. ११८
अभिषिक्त (राजन्), ८. २, ७३
अभिष्टव, १. ३९
अभिसंधित, १. ४४
अभिसम्बन्ध, ६. ९६
अभिहृत, ७. ८४
अभीप्सत्, -न्ती, ६. १५४
अभीशु, १. ११०
अभ्यावर्तिन्, ५. १२४, १३८, १३९

अभ्यूह्य, २ १२२
अभ्यत्य, ४ १२२
अमति, ४ ११४
अमितौजस, ७ ५५
अमु, देखिये अदस्
अमुतस, २ ९, ३ १, ५ २
अमुत्र, २ १९
अमूत, १ ८१
अमृत, ३ ८५, ७ १०९, ८, १४०
अमृतत्व, ३ ८८
अम्बर, २ ३५
अम्बर गर्भ ओघ, २ ५६
अम्बर ज, २ ३६
अम्बा, ५ ५८
अयम, देखिये इदम्
अयुज्, ४ ४४
अयुज, ८ २६
अयुत, ५ ३०, ६ ६१
अयोमुखी, ५ १३३
अरण्य, ५ ६७
अरण्य गोचर, ३ १४३
अरण्यानी, १ ११२, २ ७४, ८ ५१
अरिष्टनेमि, २ ५७
अरिष्टि, ४ ७२, ७ ७३
अरि सेना, ६ ११२
अरुण, ७ १४५
अरुण,-णी (गाय), ४ ११९
√अर्च = अर्चति, ३ ५१, ७ २५, १२३, १२४, १४६, ८ १५, अर्चत, ७ ३५, अर्चन्ति, ३ ४८, आर्चत्, ८ ५८, आर्चयत्, ४ १
अर्चनानस्, ५ ५१, ५२, ५३, ७८
अर्चि, १ ९४, ५ ९९
अर्थ १ ६, २ ९९, १०२, ११४ ११५, ११७, ११८, ४ १, ६ १०१, ७ १४३ अर्धार्थ ४ ११०, ७ १०४, अर्थे ६ १००
अर्थ तत्त्व ज्ञ, १ ११८
अर्थतस्, १ १०
अर्थत, १ ९
अर्थ वश, २ ९६
अर्थ वाद, ३ ५३, १०४
अर्थ विवेक, २ ११८
अर्थ-संस्कार, ४ ५१
अर्थ सूक्त, १ १५
अर्थिन्, ३ ९६
अर्थेप्सु, ८ १३७
अर्ध, ३ १२६, अर्ध (= मध्य) ४ ११४
अर्ध पञ्चम, ६ ५
अर्धर्च, २ ५, १७, १३३, १४०, ३ ७८, ११२, ११४, १२७, ४ ६, ५, ४२
अर्धाष्टम, ३ ९१
अर्बुद, ७ १४६
अर्यमन्, ५ १४०, ६ ८, ७ ११४, ८ १२७
अर्वाञ्च, २ ९
√अर्ह, ४ ५९, १५९, ६ ६१, ६२, ७ १३४, ८ १, ५
अलक्ष्मी घ्न, ८ ६०
अलक्ष्मी अपनुद, ५ ९१
अल्पशस्, ४ १४३
अल्प स्तव, ४ ४२
अवका, ७ ७९
अवत्सार, २ १२९, ३ ५७
अवमुच्य, ५ ७२
अवयव, १ ७४, २ १०२
अविज्ञात, २ ११४
अविज्ञान, ७ २
अविज्ञान प्रादिष्ट, ८ १३२
अविदित्वा, ८ १३६
अविशेष्य, १ २०
अवध्य, ८ २०
अव्यक्त वर्ण, ३ ९
अव्यय, १ ४५, ३, ३०
अव्ययीभाव, २ १०५
√अश् अश्नुते, ३ ३६, ७२, ६ १४३,

अरनुवाते, ७. १२७
अश्लील, ६. १५३
अश्व, १. ८४, १०९; ४. २७; ५. १२३, १३१; बहु० ४. १४०, १४२
१. अश्वमेध, ८. ९२
२. अश्वमेध, ५. १३, ३१, ८३; ६. ९२
अश्व-रश्मि, ५. १४
अश्व-स्पर्णी, ७. ३
अश्व-शत, ५. ८०
अश्व-संस्तुति, ३. ५१
अश्वा, ४. १
अश्वावती, १. १११
अश्विन्, १. ८२; २. ८; ३. २०, २२, ८१, ९१, ९६; ४. ९८; ७. ६
अश्वोढ़, ६. ५२
अश्वय, १. ६९
अष्टक (सूक्त), ३. ९०; ७. ११८
अष्टक, एक ऋषि का नाम, ८. १६
अष्ट-मासिक, २. ५५
√अस् वि उद्, ७. ८६, सं-नि-, ८ ११२ प्र-, ५. ९९; सम् ३. ३१
असंस्तुत, १ ११९; ३. ४८, ८१
असंहत, ४. २९
असत्, १. ६९; २. १२०; ८. १४०
असमाति, ७. ८५
असंभव, ७. १७
असित, २. १५७
असु, २. ५४; ७. ८९; ९८, ९९
असुनीति, १. १२४, ३. ५४; ७. ९२; ८. १२६
असुर, ६. ८२, १४९, १५०; ७. ५५, ६३; ८. ११५; बहु० ७. ६३; ८. २४, २६, २८, ३१
असुर-माया, ७. ५४
असूयत, ७. १२८
असृज्, ७. ८०
असौ, देखिये अदस्
अस्तम, २. ६८
अस्तुति, ४. ९७
अस्त्र (वाक्य), ५. १३३
अस्थि, ७. ७८
अस्थि-सञ्चय-कर्मन्, ७. १८
अस्मत्स, ७. ९५
अस्पन्दन, ६. १३८
अस्यवामीय (सूक्त), ४. ३१
√अह्, आह : अनु-, ७. १०५
अह्स्, ५. १७५, ७. १८, १९; ८. ९८
अहि, १. १२६, ५. १६५, १६६
अहि बुध्न्य, १. १२६; ५. १६५
अ-हित, ८. २९
अहि-ध्वंस, ५. १६८
अहोरात्र, ४. ३४, ७. १२१

आकर्ष्य, ४. ११९
आखु, ६. ५९
आखु-नाम, ६. ६०
आख्यात, १. ३९; २. ९४, १२१; ८. ८५
आख्यात-शब्द, १. ४४
आख्यान, १. ५३; ७ ८४, १५३
आख्याय, ५. १२५
आगस्त्य, ३. १३७
आगत, बहु० (देवाः), ७. ३०
आग्नामित्र, ७. १९
आग्नि-मारुत, १. १०१, ३. ७५
आग्नि-सावित्र,-त्री. ६ ११२
आग्नेन्द्र,-द्री, ४. १०२
आग्नेय, १. ९९; २. ७५, १२६, ३ ८, १५;-यी ३. ८, ९८; ५. ११७
आघृणि, ३. ९५, ९६
आघ्रात-मात्र, ७. ६
आङ्गिरस, ३. ८३, १०६. १२६, १४५; ५ १३९;-सी ४. २; ६. ४०
आचार्य, २. १३२, १३६, १४३; ४ १३ ५. ३९; ६. ९; ८. ९०; ५. ११२; २८, १११
आचार्यक, ५. ११९

अभ्यूह्य, २ १४२
अभ्यत्य, ४ १२२
अमति, ४ ११४
अमितौजस, ७ ५५
अमु देखिये अदस्
अमुतस, २ ९, ३ १, ५ २
अमुत्र, २ १९
अमूत, १ ८१
अमृत, ३ ८५, ७ १०९, ८, १४०
अमृतत्व, ३ ८८
अम्बर, २ ३५
अम्बर गर्भ ओघ, २ ५६
अम्बर ज, २ ३६
अम्बा ५ ५८
अयम, देखिये इदम्
अयुज, ४ ४४
अयुज, ८ २६
अयुत, ५ ३०, ६ ६१
अयोमुखी, ५ १३३
अरण्य, ५ ६७
अरण्य गोचर, ३ १४१
अरण्यानी, १ ११२, २ ७४, ८ ५०
अरिष्टनेमि, २ ५७
अरिष्टि, ४ ७२, ७ ७३
अरि सेना, ६ ११२
अरुण, ७ १४५
अरुण,-णी (गाव), ४ १०१
√अर्च=अर्चति, ३ ५१, ७ २५, १२३, १२४, १४६ ८ १५, अर्चत, ७ ३५, अर्चन्ति, ३ ४८, आर्चन्, ८ ५८, आर्चयत, ८ १
अर्चनानस्, ५. ५१, ५२, ५३, ७६
अर्चि, १ ९४, ५ ९९
अर्थ १ ६, २ ९९, १०२, ११४ ११५, ११७, ११८, ४ १, ६ १०१, ७ १४३, अर्थाय ४ १३०, ७ १०४, अर्थे ६ १००
अर्थ तत्त्व ज्ञ, १ ११८
अर्थतस्, १ १०
अर्थय, १ ९
अर्थ वश, २ ९९
अर्थ वाद, ३ ५३, १०४
अर्थ-विवेक, २ ११८
अर्थ सञ्चार, ४ ५१
अर्थ सूक्त १ १५
अर्थिन्, ३ ९६
अर्धप्सु, ८ १३७
अर्ध, ३ १२६, अर्धे (=मध्ये) ४ १३४
अर्ध पञ्चम, ६ ५
अर्धर्च, २ ५, १७, १३३, १४०, ३ ७८, ११२, ११४, १२७, ४ ६, ५. ८२
अर्धर्चिम, ३. ९७
अर्बुद, ७ १४६
अर्यमन्, ५ १४७, ६ ८, ७ ११४, ८ १२७
अर्वाञ्च, २ ९
√अर्ह, ५ ५९, १५९, ६ ६१, ६२ ७ १३४, ८ १, ५
अलक्ष्मी घ्न, ८ ६०
अलक्ष्य्-अपनुद, ५ ९१
अल्पशस, ४ १४३
अल्प स्तव, ४ ४२
अवका, ७ ७९
अवत्सार, २ १२९, ३ ५७;
अवमुक्त्य, ५ ७२
अवयव, १ ५४, २ १०३
अविज्ञात, २ ११४
अविज्ञान, ७ २
अविज्ञात प्रोदृष्ट, ८ १३२
अविद्वित्वा, ८ १३६
अविशेष्य, १ २०
अवव्यय, ८ २०
अव्यक्त वर्ण, ३ ९
अव्यय, १ ४५, ३, ३०
अव्ययीभाव, २ १०५
√अश् अश्नुते, ३ १६, ८२, ६ १४३,

अरत्नुचाते, ७. १२७
अरलीळ, ६. १५२
अश्व, १. ८४, १०९; ४. २७; ५. १२३, १३१; बहु० १. १४०, १४२
१. अश्वमेध, ८. ९२
२. अश्वमेध, ५. १३, ३१, ८३; ६. ९२
अश्व-रश्मि, ५. १४
अश्व-हर्पणी, ७. ३
अश्व-दान, ५. ८०
अश्व-संस्तुति, ३. ५१
अश्वा, ७. १
अश्वाजनी, १. ११३
अश्विन्, १. ८२; २. ८; ३. २०, २२, ८३, ९१, ९६; ४. ९८; ७. ६
अश्वोद्द, ६. ५२
अश्वय, ६. ७९
अष्टक (सूक्त), ३. ९०; ७. ११८
अष्टक, एक ऋषि का नाम, ८. १६
अष्ट-मासिक, २. ५५
√अस् वि वद्, ७. ८६; सं-नि-, ८. १२२ प्र-, ५. ९९; सम् ३. ३१
असंस्तुत, १. ११९; ३. ४८, ८१
असंत्रस, ४. २९
असत्, १. ६२; २. १२०; ८. ११०
असमाप्ति, ७. ८५
असंभव, ७ १०
असित, २. १५७
असु, २ ५४; ७. ८९, ९८, ९९
असुनीति, १. १२४; २. ५४, ७. ९२; ८. ११६
असुर, ६. ८२, १४९, १५०; ७. ५१, ६३; ८. ११५; बहु० ७. ६३; ८. २४, २६, २८, ३१
असुर-माया, ७. ७४
असूयत्, ७. १४८
असृज्, ७. ८०
असौ, देखिये अदस्
अस्तम, २. ६८
अस्तुति, ४. १७
अस्त्र (वारुण), ५. १२२
अस्थि, ७. ७८
अस्थि-सञ्चय-कर्मन्, ७. १८
अस्मत्स्, ७. ६५
अस्यन्दन, ६. १२८
अस्यवामीय (सूक्त), ४. ३१
√अर्ह्, आह : अनु-, ७. १०५
अहस्, ५. १०५; ७. १८, ९१; ८. ९८
अहि, १. १२६; ५. १६५, १६६
अहि बुध्न्य, १. १२६; ५. १६५
अ-हित, ८. २९
अहि-दैवत, ५. १६८
अहोरात्र, ४. ३४; ७. १२९
आकर्ण्य, ६. ११२
आलु, ६. ५९
आलु-रात्र, ६. ६०
आख्यात, १. ३९; २. ९४, ११३; ८. ८५
आख्यात-शब्द, १. ४४
आख्यान, १. ५३; ७. ८४, १५३
आख्याय, ५. १२५
आगस्कृत, ३. १३४
आगत, बहु० (देवाः), ७. ३०
आगामिन्, ७. १९
आग्नि-मारुत, १. १०२; ३. ७५
आग्नि-सावित्र,-त्री, ६. १२२
आग्नेन्द्र,-न्द्री, ४. १०२
आग्नेय, १. ९९; २. ७५, १२६; ३. ८, ६५;-यी ३. ८, ९८; ५. ११७
आघृणि, ३. ९५, ९९
आघ्रात-मात्र, ७. ६
आङ्गिरस, ३. ८३, १०६, १२६, १४५; ६. १३९;-सी ४. २; ६. ४०
आचार्य, २. १२२, १३६, १४३; ४. १३८; ५. ३९; ६. ९; ८. ९०; ५. ११२; ७. ३८, १११
आचार्यक, ४. ११९

अभ्यूह्य, २ १८२
अभ्यत्य, ४ १२२
अमति ४ ११४
अमितौपम्य, ७ ५५
अमु, देखिये अदस्
अमुतस, २ ९, ३ १, ५ २
अमुत्र, २ १९
अमूत, १ ८१
अमृत ३ ८५, ७ १०९, ८, ११०
अमृतत्व, ३ ८८
अम्बर, २ ३५
अम्बर गर्भ ओघ, २ ५६
अम्बर ज, २ ३६
अम्बा, ५ ५८
अयम देखिये इदम्
अयुज, ४ ४४
अयुज, ८ २६
अयुत, ५ ३०, ६ ६१
अयोमुखी, ५ १३३
अरण्य, ५ ६०
अरण्य गोचर, ३ १४१
अरण्यानी, १ ११२, २ ७४; ८ ५७
अरिष्टनेमि, २ ५७
अरिष्टि, ४ ७२, ७ ७३
अरि सेना, ६ ११२
अरुण, ७ १४५
अरुण,-णी (गाय), ८ १११
√अर्च=अर्चति, ३ ९१, ७ २५, १२३, १२४, १४६, ८ १५, अर्चत, ७ ३५, अर्चन्ति, ३ ४८, आर्चन्, ८ ५८, आर्चयत्, ४ १
अर्चनानस्, ५ ५१, ५२, ५३, ७८
अर्चि, १ ९४ ५ ९९
अर्थ १ ६, २ ९९, १०२, ११४ ११५, ११७, ११८, ४ १, ६ १०१, ७ १४३, अर्थाय ४ १३०, ७ १०४ अर्थै ६ १००
अर्थ तत्त्व ज्ञ, १ ११८
अर्थतस्, १ १०
अर्थय, १ ९
अर्थ वश, २ ९९
अर्थ वाद, ३ ५३, १०४
अर्थ विवेक, २ ११८
अर्थ-सञ्चार, ४ ५१
अर्थ सूक्त, १ १५
अर्थिन्, ३ ९६
अर्थेप्सु, ८ १३७
अर्ध, ३ १२६, अर्धे (=मध्य) ४, १३४
अर्ध पञ्चम, ६ ■
अर्धर्च, २ ५, १७, १३३, १४०, ३ ७८, ११२, ११४, १२७, ४ ६, ५, ८२
अर्धाष्टम, ३ ९७
अर्बुद, ७ १४६
अर्यमन्, ५ १४७, ६ ८, ७ ११४, ८ १२७
अर्वाञ्च, २ ९
√अर्ह, ■ ५९, १५९, ६ ६१, ६२, ७ १३४, ८ १, ५
अलक्ष्मी घ्न, ८ ६०
अलस्य-अपनुद, ५ ९३
अल्पशस्, ४ १४३
अल्प स्तव, ४ ४३
अवका, ७ ७९
अवत्सार, २ १२९, ३ ५७
अवमुच्य, ५ ७२
अवयव, १ ४४, २ १०३
अविज्ञात, २ ११४
अविज्ञान, ७ २
अविज्ञात प्रादिष्ट, ८ १३२
अविदित्वा, ८ १३६
अविशेष्य, १ २०
अवध्य, ८ २०
अव्यक्त वर्ण, ३ ९
अव्यय, १ ४५, ३, ३०
अव्ययीभाव, २ १०५
√अश् अश्नुते, ३ १६, ७२, ६ १४३,

अश्नुवाते, ७. १२७
अश्लील, ६. १५३
अश्व, १. ८४, १०९; ४. २७; ५. १२३, १३१; बहु० ४. १४०, १४२
१. अश्वमेध, ८. ९२
२. अश्वमेध, ५. १३, ३१, ८३; ६. ९२
अश्व-रश्मि, ५. १४
अश्व-सर्पिणी, ७. ३
अश्व-शल, ५. ८०
अश्व-संस्तुति, ३. ५१
अश्वा, ७. १
अश्वाजनी, १. १११
अश्विन्, १. ८२; २. ८, ३. २०, २२, ८६, ९१, ९६; ४. ९८; ७. ६
अश्वोढ्, ६. ५२
अष्ट्य, ६. ७९
अष्टक (सूक्त), ३. ९०; ७. ११८
अष्टक, एक ऋषि का नाम, ८. १६
अष्ट-मासिक, २. ५५
√अस् वि उद्, ७. ८६; सं-नि-, ८ १३२ प्र-, ५. ९९; सम् ३. ३१
असंस्तुत, १ ११९; ३. ४८, ८१
असंहास, ४. २९
असत्, १. ६२; २. १२०; ८. १४०
असमाप्ति, ७. ८५
असंभव, ७ १७
असित, २. १५७
असु, २ ५४; ७. ८९, ९८, ९९
असुनीति, १. १२४; २. ५४; ७. ९३; ८. १२६
असुर, ६. ८२, १४९, १५०; ७. ५५, ६३; ८. ११५; बहु० ७. ६३; ८. २४, २६, २८, ३१
असुर-माया, ७. ४४
असूयत्, ७. १४८
असृज्, ७. ८०
असौ, देखिये अदस्
अस्तम्, ३. ६८
अस्तुति, ४. ९७
अस्त्र (वारुण), ५. १३३
अस्थि, ७. ७८
अस्थि-सञ्चय-कर्मन्, ७. १८
अस्मत्तस्, ७. ६५
अस्यन्दन, ६. १३८
अस्यवामीय (सूक्त), ४. ३१
√अह्, आह : अनु-, ७. १०५
अहस्, ५. १७५; ७. १८, १९; ८. ९८
अहि, १. १२६; ५. १६५, १६६
अहि बुध्न्य, १. १२६; ५. १६५
अ-हित, ८. २९
अहि-दैवत, ५. १६८
अहोरात्र, ४. ३४; ७. १२९

आकर्ण्य, ६. ११९
आतु, ६. ५९
आतु-राज, ६. ६०
आख्यात, १. ३९; २. ९४, १२१; ८. ८९
आख्यात-शब्द, १. ४४
आख्यान, १ ५३; ७ ८४, १५३
आख्याय, ५. १२५
आगच्छत्, ३. १३४
आगत, बहु० (देवाः), ७. ३०
आगामिन्, ७. १९
आग्नि-मारुत, १. १०१; ३. ७५
आग्नि-सावित्र,-त्री ६ १३२
आग्नेन्द्र,-द्री, ४. १०२
आग्नेय, १. ९९; २. ७५, १२६; ३. ८, ६५,-यी ३. ८, ९८; ५. ११४
आघृणि, ३. ९५, ९६
आघात-मात्र, ७. [illegible]
आङ्गिरस, ३. ८३, १०६. १२६, १४५; ६. १३९,-सी ४. ३; ६. ४०
आचार्य, २. १३२, १३६, १४३; ४. १३८; ५. ३९; ६. ९; ८. ९०, ५. ११२; ७. २८, १११
आचार्यक, ४. ११९

आचिख्यास, १ ३६, ५८
आजि, ८ १२
आज्ञाय, ५ ७५
आज्य सूक्त, ५ ११
आत्मन्, १ ७३, २ ८६, ८७, ४ १०, १४३, [illegible] ३२, ५१, ६७, ७०, ७३, १३५ ६ ३२, ९५, ११९, १४२, ७ ५७, ६०, १२०; ८ २२, ४५, ५२, १२९
आत्म प्रभाव, ८ ७८
आत्मवत्, ६ १३४, १३६, ७ ८२
आत्म-वादिन्, ७ ७३
आत्म सस्तव, ४ १३५
आत्म-स्तव, २ ८७, ८ ४२, ८२
आत्म हित, ८ ६८
आत्म हितैषिणी, ४ १३१
आत्म वश, ४ २३
आत्म आह्वान, ६ ९६
आत्रेय, ५ ५१
आदान, २ ६, ६ ९६
आदाय, ६ ११४
आदि, ३ ४९, ५२, ५ १७१
आदिसत, ५ ११३
आदित्य, २ १२, ६ १३५, ८ १२८
आदित्य दैवत्य, ६ २, ४९, १२६
आदित्य दैवत, ३ १०८, ६ ८३, ८७, [illegible] ११७
आदेश, ३ ३९, १०९
आद्य् अन्त, १ २२
आद्याम्नय, ३ ८९
आधार, ८ १३९
आध्वर्यव, ७ १०५
आनीरवा, ५ १८
आनीय, ५ १८
आनुपूर्वी, २ १००
आनुपूर्व्य, १ १०५
आनुमत, ७ ९३
आनुमानिक,-की, १ ६०
आ-त्र, ७ ७९
√आप् अव्-, ७ ४४; प्र-, ६ ९०, ७ १५२
आपगा, ६ २३
आप्त्य, १ ११६, १२८, ८ ४०, १२६
आप्त्य, ५ १७४
आप्री, बहु०, आप्रिय, ४ १६, ६५, ५ २६, ७ १०७, ८ ३९, आप्र्य, ४ ९६, ५ २४, १५९, ६ १३०, आप्रीषु २ २८, १५१
आप्री-सूक्त, २ १५२ ८ ३७
आभरण भूषित, ३ १४९
आमुष्यायण, १ २५, २६
आ-यत्, ६ १११
आयम्य, ६ १४४
आयस, ७ ५२
आ-यात्, ६ ११२
आयुध, १ ७४, ३ ८५, ४ १०३
आयुधागार, ५ १३१
आयुस, ४ १३०, ७ ३४, ७३, १०६
आ-राध्य, ७ ४४
आरोग्य, ७ ४४
आरोहती, ७ १३०
आर्तव, ३ १५, ३४, ४ ९१
आर्द्री, १ ११३, ५ १३०
आर्त्विज, ७ ८३, १३८
आर्त्विज्य, ५ ३३, ५१, ८ ६
आर्वुदि, ८ ७४
आर्भव, ३ १३१, ४ २७, १२३, ५ १७४, ६ १३५-वी ६ १०८, ८ ७९
आर्ष, १ १४, ३ १३०, ४ ९४, ५ ७४
आर्षक, २ १२६
आर्ष्टिषेण, ७ १५५
आलुच्य, ७ ८९
आवाम, ३ [illegible]
आवि, ८ ८५
आशा, ४ ९३
आसित्, १ ७, २६, ३२, ३५, ४७, ५०, ५८, ३ १५३, ५ ३०, १३५, १७०,

६. ९, ३१, ७४; ७. १२, १९, ९६, १३५; ८. ८०, ८१, ८२, ८४, ९६
आशीर्-वाद, ३. ८२; ५. ९१, ९३; ७. १०; ८. ४४
आशीर्वाद-पर, ८. ४७
आशीर्वाद-बहुल, ७. ११३
आयु, २. २१, ५०, ७९; ६. १५०; ७. ३
आश्रय, ५. ६४; ६. ९९
आश्राव्य, २. १४२
आश्वमेधिक, ७. १५३
आश्विन, २. १२७; ३. १०२, १०४, ११२, ११९;—नी ५. ११७
आश्विना-सूक्त, ३. १०२
आसङ्ग, ६. ३१, ९९, ९३
आसुरी, ८. ६८
√आस् : आसते,
परि-उप-, २. ४९
आसक्त, ३. ९५
आसङ्ग, ६. ४१
आसन्दी, ५. २०
आसीन, ३. २
आसुर, ६. १५१; ८.३१, ३४,—री, ७.४९
आस्य, ८. ८
आहुतवत्या, १. ३७, ५५
आहवनीय, २. १४५
आहाव, ४. ११४
आह्वान, ७. १५३
√इ : एति, ३. ९६
अधि-, ४. ७३; ८. १३६;
अध्यायय, ८. १३६
उद्- : इयाय, ५. १५२
प्र-, ७. १२०
प्रति- ३. १५४; ८. १०१
उप- : इयाय, ५. ७६
इघुन्ती, ७. ४९
इज्या, ६. ७२
इज्यार्थम्, ४. १०६
इडि, इळि, ३. ४
इतर, ७. १५, १८; इतरद्, ८. १७
इतरेतर, ७. १५३
इतिहास, ३ १५६; ४. ४६; ६. १०७, १०९; ७. ७, १५३
इतिहास-सूक्त, ८. ११
इदम्, २. १२०; अयम् (अग्नि) ५. ४८, =१. ९
√इष् :
सम्- : इष्यते, २. १३५, १५८
इध्म, १. १०६; २. १४७, १५८; ३. ५
इन्दु, १. १२४, १२६
इन्द्र, १. ५, ६८, ६९, ८२, ११७; २. ७, २२, ३१, ३४, ३५, ४७, १०७, ३. ३७, ४१, ४९, ८१, ९०; ५. १४८; ७. ११४, इत्यादि
इन्द्र-चिकीर्षित, ६. १००
इन्द्र-प्रसाद, ७. ५९
इन्द्र-मातृ, २. ८३
इन्द्र-राजन्, ३. १५५
इन्द्र-वज्र, ७. २०
इन्द्रवत्, ७. १६८
इन्द्र-वायु, ३. ९४
इन्द्र-सम, ३. ११५; ७. ४९
इन्द्राग्नी, ३. १४१
इन्द्राणी, १. १२५; २. ७७, ८३; ३. ९२; ८. ५५
इन्द्रा-पर्वत, ४. ४
इन्द्रा-पूषन्, ४. ३१
इन्द्रा-बृहस्पति, ५. ५; ६. २६
इन्द्रा-ब्रह्मणस्पति, ५. ८१; ६. २७
इन्द्रा वरुण, ३. ११९
इन्द्रा-विष्णु, ४. २०
इन्द्राश्व, १. १२२
इन्द्रा-सोम, २. १०७; ४. ८४
इन्द्रिय, ४. ४०
इन्द्रोल्लाहक, ३. १००
इध्म, २. ९३
इमम् (=पृथिवी), ६. २०

इरा, २. ३५
इव, २ ९१
√इष् · ४ ४९
  इष्यते · २. ९९, ३. १२३
  अनु–, ५. १९
इषि कृत (रूप), ३ ४
इषु, १. ११५; ५. १३२, १३३, १३४
इषुधि, १ ११०; ५. १३०
इळ, १ १०७, २ १४७, ३ ४
इळस्पति, ३ ७१, ८ १२७
इळा, १. ११२, १२६, ३. १३, ८. १२६
इळावत्, ३. ४
√ईक्ष्:
  उप– · ईक्षेत, १. २२, ७६
  अव– : ईक्षेत, ८. १२४
  अनु अव– : ऐक्षन्त, ७. ६३

ईक्षमाण, ८. १२९
ईड् · ईड्यसे, ८. १३३
ईडि, ईड्, ३ ४
ईरयत्, ४ १२२
√ईश् : ईशे, २ ३५
√ईप् · ईपते, २ १०९
√ईह् · ईहेत, ८. १३२
ईळित, ३. २७

उक्त प्रयोग, २. ९६
उक्त-मन्त्र, ८. १२५, १२६
उक्षन्, ७. ४१, ५ ३१
उग्र, ६. १४१
उचथ्य ज, ४ १४
उचथ्य-बृहस्पति, ४. ११
उचथ्य-भार्या, ४. ११
उच्चावच, २. ८९
उच्चावच-मध्यम, ३. १५४
उच्छ्रती, ३. ९
उत्तम, २ ३८, ८ १४०,–मा (त्वच्), ६ १०६
उत्तर (अग्नि), ७. ६७,–रा (त्वच्), ६. १०६, (वेदि), ७. ३२–
उत्तर-सूक्त, ३. १४८
उत्तरण, ७. १२७
उत्तान-पर्ण, ८. ५६
उत्तारण, ३. १६
उत्थाय, ४. २५
उत्सङ्ग, ६. ३६
उत्सर्ग-काल, ४. १२
उदक, ६. १४५
उद-कुम्भ, ६. १००
उदय, २. ९, ५८; ३. १०, ७. १२१
उदर्क, ३. १२८
उदाहृत, ६. १५८
१. उदित, २. ६१
२. उदित, ३. १४८
उदोन्मोहित, ४. २३
उद्गातृ, ७. ७०
उद्गिरत्,–न्ती, ८. ३४
उद्गीथ, ८. १२२
उद्दिश्य, ३. ४४
उद्यत, ६. १२, १२३
उन्मत्तवत्, ७. १५०
उपजविपशुम, ४. ५७
उपदेश, १. ३८, ५२
उपद्रव, ८. १२२
उपनिषद् स्तुति, ५. ८२
उपनिषद्, २. ८२, ४. ६३
उपप्रैप, १. ३८, ५६
उपमश्रवस्, ७ ३६
उपमार्थ, १. ९१, ९२; ४. ९७
उपलभ्य, १. ४५
उपवसन, १. २५, ३८, ४२
उपसगृह्य, ५. ७६
उपसर्ग, १. ३९, २. ९४, ९५, १०३
उपस्तुत, ८. ३९
उपास्य, ८ १३०
उपोत्तम, ७. १६९
उभयथा, ८. १२९
उभयवत्, २. १५५; ३. ३१

उरस्, ४. २२
उरुवासिनी (= उर्वशी), २. ५८
उर्वशी, १. १२८; २. ५७, ८३; ५. १४९;
७. १४७, १५१
उर्वी, २. ५६
उल, ८. ८८
उलूखल, ३. १११; ३. १००, १०१
उशिज्, ४. २४
उषस्, १. १२८; २. ८, ९, ६०, ६४, ८०;
३. ८, ९, १०; ४. १२८ (मध्यमा)
१४१; ६. ८३; ७. १२१; ८ ७२
उषस्य, ३. १०२; ५. ८८, १७०; ६. १२६;
७. १४०
उष्ट्र, ६. ५९
उष्णिह्, ८. १०५

ऊन, २. ९०
ऊर्जाहुति, १. ११४

ऋक्ष, ६. ९२
ऋग्-भाज्, १. १७, १८; २. ७९
ऋक् मन्त्र, बहु०, ३. २९
ऋच्, बहु०, ३. १५; ४. ८; = ऋग्-वेद,
८. ११०, १२०, १२९
ऋजिश्वन्, ९. ११९, ६. ५५
ऋणंचय, ५. ३३, ३३
ऋत, १. १२४; २. ५२
ऋतावृध्, ३. ३८
ऋतु, ३. ३४; ४. ५७; १. ११५, १२१;
बहु० १. १७; २. ४१; ३. ३५, ३६;
४. ३४; ६. ९१; ७. ६२
ऋतु-प्रैष-सूक्त, ३ ३६
ऋते, ३. १०४; ६. १४०
ऋत्विक्-स्तुति, ८. १०
ऋत्विज्, बहु०, १. ८४; ३. ३; ७. ७०
ऋद्धि-कर्मन्, ३. ४
√ऋध् :
प्रति- : आर्धि, ७. ७५
सम्-, १. २१
ऋबीस, ५. ८४
ऋभु, ३. ८३; बहु० १. ८२, १२७;
८. १२८
ऋषि, १ ६; २. ८६, ८७, ८८; ८. १३४,
१३६, १३८; बहु० १. ८१; ३. ११६;
६. १२७, १३९; (त्रयः), ८. ७८
ऋषि-कृत, ३. ४
ऋषि-यान, ७. ११२
ऋषि-छन्दो-दैवतादि, ८. १३५
ऋषि-पुत्र, ४. ११; ५. ६३
ऋषि-श्रेष्ठ, ७. ५५
ऋषि-सत्तम, ४. १२३
ऋषि-सत्तम, ४. ७८; ५. १५१
ऋषि-सूक्त, १. १४
ऋष्टिषेण-सुत, ७. १५६

एक, २. ११२; एकस्मिन् १. १३, एके,
१. ६१; ५. १०८, ११९, १७०; ८.
२३, ३८, ६५, ७५, ९०
एक-ज, ३. ६०
एक-जात-त्व, १. ९८
एक-देवत्य, २ १४२
एक-देश, ५. ९५
एक-पदा, बहु०, ८. १०९
एक-प्रधान, ४ ८
एक-भूयस्-त्व, ३. १३०
एक-रथ, ६. २०
एक-वत्, ३. ८१; ४. १०७
एक-विंश, १. ११६
एक-शत, ४. ९५
एक-शस्, ३. २१
एकान्तराय, २. १४०
एकाल-त्रिशत, ५. १०५
ए-कार, ८. ८५
एकीकृत्य, २. ११२
एकैकशस्, २. ६५
एतद्-रूप, ५. ८७
एन्य, ७. ३२
एनस्, ४. ५९
एनस्विन्, ५. १५

एव-प्रकार, १ ५२
एव प्रकृति, १ ४०
एवयामरुद् आख्यात, ५ ९०

ऐकात्म्य, २ १८
ऐक्ष्वाक, ५ १४; ७ ८५
ऐक्ष्वाकु, ५ १२, ७ ८५, ९६, ९९
ऐतश, १ ५५, ८ १०१
ऐन्द्रव,-वी, ४ ४
ऐन्द्र, १ ११२, २ १२५, १२७, ३ ६६, -न्द्री ६ २५, ३१
ऐन्द्र वायव, २ १२७,-वी, ४ ९९
ऐन्द्र वायव्य, ५ ४, ६ १६
ऐन्द्र-सूक्त, ६ ७७
ऐन्द्राग्न, ३ १३१, ५ ८९, ६ १९, ७८, ८ ६५ -ग्नी ४ ९ ७ ११९
ऐन्द्राग्नेय, ४ ९९
ऐन्द्रा पार्वत,-ती, ४ ११०
ऐन्द्रा पौष्णा, ५ ११८
ऐन्द्रा बार्हस्पत्य, ६ ११७
ऐन्द्राभव, ४ १२६
ऐन्द्रा वरुण, ३ ६६ ४ १२४, ५ ३, १२१
ऐन्द्रा वैष्णव, ५ १२१
ऐन्द्रा सोम, ६ २७;-मी ६ ३१
ऐश्वर्य, ७ ४४, ६०

ओं-कार, २ १२५
ओजस्, ४ १४२
ओषधि ७ १२६, बहु० १ ११२, ४ ७३, ६ ९४
ओषधी स्तव, ७ १५४

औचथ्य, ३ १४६
औचित्य, २ ११८
औपनिषद, ८ ५६
औपम्य, १ ३०
औपम्य कारण, २ ८९
औरस ८ ११२
और्वश (=वसिष्ठ), २ ३६, ४४, १५६ ३ ५६
औशिज (=कक्षीवत्), ३ १२५
औषस, ३ ४५, ११३, १२४, (अग्नि) १२९, १४०, ४ १२४, ५ ६, १२०, ६ ६३,-सी ७ १४०

क, १ १२२, २ ४७, १२५, ३ ७० ५ ९८
क कोऽपि, ३ १५, के चिद्, ८ ८०
कक्षीवत्, २ १३०, ३ ५६, १४२, १५०
कक्षीवत् प्रमुख, ४ २५
कच्चिद्, ८ ३३
कण्व, ६ ३५, ३६, ३७, बहु०, ४ ९८
कण्व पत्नी, ६ ३५
करथना, १ ३५, ५१
कथय, ३ ७३ ४ ३४
कथित, ३ ९९, १२३, १५४, ४ ६, ६ १०१
कथित देवत्य, ५ ५
कद्रू ५ १४४
कनीयस, ४ १२, ६ ३६ ७ १३
कन्या, ३ १४६ ५ ५६, ६०, ६६, ७६, ६ ५४, ७६, ९९
कन्या दान, ३ १४४
कपिञ्जल, ४ ९३, ६ १५१
कपिल, २ ६६, ७ १४१
कपोत, ७ ८७, एक ऋषि, ८ ६७, ६८
√कम् चकमे, ६ ९९ कामयाम् आस ६ ७६
कल्पयत्, २ ६७
कर, ७ ५६
कर्ण, ८ ११८
कर्ण सुश्रित, ८ ११३
कतु, ३ ३०, ४९
कतृ-त्व, ४ ४५
कर्मन्, १ ७, २३, २५, २६, २८, १२०, ३ १६, ७८, १०४, १३५, ५ १६४, ६ ६९, १२०, १३७, ७ २३, ५८, १०३, ८ १८, १ ४, २१, २ २०, ६ १६०, ७ १०, १४, ११३, ८ ६, १३१, १३८, ३ ८४

कर्म-गुण, बहु०, ६. ७०
कर्म-ज, २. २१; ३. ४१, ४२, ६०
कर्मतस्, १. २७; ७. १६, १७
कर्म-धारय, २. १०५
कर्म-शंसा, ५. ६
कर्म-संस्था, बहु०, ३. ८२; ५. ९२
कर्म-समुच्चय, १ २९
कर्मोपसंग्रहार्थे, २. ८९
कलविङ्क, ६. १५१
कलश, ५. १५१
कला, ३. ८
कल्प, १. ५१
कल्पानुग, ८. १०४
कल्याण, स्त्री० –णी, ८. २६
कवच, ५. १२४
कवच-स्तुति, ५. १३२
कव्य-वाहन, ६. १६१
कशा, ५. १३२
कशिपु, ५. २०
कद्रु, ६. ४५
कश्यप, ३. ५७; ५. १४३, १४५
कश्यपार्षं, ३. १२०
काकुत्स्थ, ६. ५४
काक्षीवत, ३. १४०, १५२; ७. ४२; स्त्री० –ती, ७. ४८
√काङ्क्ष : ४. २०
काञ्चन, ५. ३४; ७. ७६
काण्व, ६. ३९, ५८; स्त्री० –वी, ४. ९९
काम, ३. ७०; ७. ५०
कामतस्, ६. ५५
काम्या, ४. २४, ५७; ५. १२७; ६. ७२, १४९; ७. ५, ८. २०
काय, स्त्री० –यी, ३. ९८
कार, २. ३२, ३८
कार्य, ५. ५१; ८. २६
काल, ३. ८; ६. १२७
कालकेय, बहु०, ७. ५३
काला, ५. १४८
काश, बहु०, ७. ७२
काश्य, ६. ४२
काश्यप, २. १५७; ८. १८
किलव, ७. ३७
किरण, २. ६५
किरातकुलि, ७. ८६
कीरिन्, ३. ९६
कीर्तन, ४. ३१, ३२, ११९; ८. १२३
कीर्तना, ५ ११४
कीर्तय, ४. ३५, ७. ५८; ७. ४८;
अनु— : कीर्तयेत, ४. १९
प्रति— : कीर्त्यन्ते, ७. १३९
कीलित, ४. ३०, १२०
कुत्स, २. २, २५; ३. ५८, १२५, १२६, १२८; ४. १८
कुत्सित-नामन्, १. ३३
कुन्ताप, ८. १०१
कुन्तय, ८. १०१
कुमार, ३. १४५, ७. ६
कुमार-रूप, ५. २१
कुम्भ, ५. १४९, १५१, १५२, १५४
कुरु, ७. १५५; बहु० ६. ११०
कुरु-क्षेत्र, ६. ५८
कुरुङ्ग, ६. ४७
कुरुश्रवण, ७. ३५
कुश, ७. ७९
कुशिक, बहु०, ४. ९८, ११४, ११५
कुसीदिन्, २. ५८
कुहू, १. १२८; २. ७८; ४. ८७; ८. १२५
कूप, ३. १३२
कूपेष्टका, ३. १३१
कूर्म, ७. ७९
कृकलास, ६. १०६
कृच्छ्र, ३. १४०
√कृत् : अकृन्तत :
नि—, ४. २२
कृतवत्, ६. ४१; ७. ५८; ८. १८
कृताहृत, २. ९७

ग्रा, बहु०, ८. १२८
ग्रन्थ, २. ९०, ९२; ५. २३
ग्रह्, ५. ३२; ७, ६५
ग्राह्य, ३. २१
नि– : जग्राह, ६. ६१
प्र– : गृह्णन्ति, २. १४२
प्रति–, ५. ७८; ६. २३
सम्– : समग्राह, ५. १४
ग्रहन, २. ९७
ग्रावन्, ७. १४६; बहु० १. ८४, ११०; ७. ११६; ८. ७४
ग्राव्ण, स्त्री० –णी, ६. ३०
ग्रीष्म, १. १३१

घर्म, ५. ४१; ८. १५, ७९
घर्म-संस्तव, ६. १३४
√घस् : जक्षुः, ६. ५८
घृणि, ३. ९५
घृत, ६. २३; ७. ७४
घृत-पृष्ठ, ४. ३३
घृत-वत्, २. ५०
घृत-स्तुति, ५. ११
घोर-पुत्र, ६. ३५
घोष, २. ६०
घोषा, २. ८२; ७. ४२, ४८
घौर, ६. ३९
√घ्रा :
अव– : जघ्रतु', ४. ६०
उप– : अजिघ्रत्, ७. ५

चक्र, ५. १२३; ६. ७३
चक्र-वत्, ४. ३५
चक्र-वर्तिन्, ५. १२३
चक्षुस्, २. १९; ४. ९४, ५. ७४, ७. ७१
√चक्ष् :
आ– : चष्टे, ३. २०
प्रत्य्-आ–, ५. ५९, ७७, ६. १३४
प्र– : चक्षते, ६. १०९
चतुर् : बहु०, चतुर्भिः=चतसृभिः, २.
चतुर्-ऋच, ६. १८
चतुर्थ (स्वर), ८. ११८
चतुर्-युज्, ३. १४७, १४९
चतुर्-विध, २. ३४
चन्द्र, १. ८२, ८८; ३. १७
चन्द्र-मस्, १. १२६; २. १६; ३. १३१; ७. १२३, १२९
चन्द्र-सूर्य, ६. १२९
चमस, ३. ८७
चामि, 'चम्' धातु, ७. १२९
√चर्, ६. २०; ७. २४, १२७, १४७ (धर्मम्), १५०, १५१
आ–, ६. ११
वि–, ८. २७
चरण, ४. २
चरु, ४ २९
चर्म-अधिपवर्णीय, ३. १०१
चक्षुप, ८. ११९
चान्द्रमस, ७. १२५
चायत्, ७. १२९
चायनीय, ७. १२९
चायमान, ५. १२४, १३८
चारु, ७. १२९
चिकीर्षत्, १. १०२, ४. ६८
चिकीर्षित, ४. ५८; ६. १००
चित्र, ६. ५९, ६०
चित्र-भानु, ७. ६५
चिद्, २. ९१
चिन्तयत्, ५. ६७, ७. ४६
चिन्ता, ७. ४३
चुमुरि, ४. ६७
चेतस्, ४. ११३, ७. १०१
चोदित, ५. २४

√छन्द् : छन्दयाम् आसुस्, ७. १५७
छन्दस्, १. १४, १३०, २ १४, ४४; ८. ३९, १३४, १३६–१३८
छन्द -सूक्त, १. १६

छाग, ४. ३१
छान्दस, २. १०१
छान्दोमिक, ६. १०८
√छिद् : अच्छिनत्, ५. १५; अच्छिदत्, ६. १५०

जगत्, १. ९६; ४. ३७
जगती, २. १४; ८. १०६
जघन्य-ज, २. ६०
जङ्गम-स्थावर, १. ६१; ८. ११६
जठर, १. ६५
√जन् : जज्ञे, ३. ११; ५. ९९; ७. ५०; जायते, १. ७८; ८. १३६; जनय, ४. ९५; ७. २; ८. १९
अधि-जायते, ५. १६६
जन, १. १३
जनयितृ, २. ३७
जन-हित, ३. ३७
जन्मन्, ३. ११; ४. ७४; ५. १६४; ७. १०३
जन्माहित-लक्ष, २. १२१
जन्य, २. ३७
√जप्, ७. १५, २०, ९१; ८. १३६
जप, ८. १३४
जमदग्नि, २. १५६; ४. १२५; बहु०, ५. १५४
जय, ८. १३
जरा, ७. ४३
जरायु, ५. ८७
जल, ५. १५१, १५२; ६. ८८
जात, १. ९२
जात-मात्र, ४. १३१
जात-विद्या, २. ३०
जात-वेदस्, १. ६७, ९७, १०८; २. ३०, ३१; ४. ९६, ९३; ८. ७
जात-वेदस्य, १. ९९; ३. ११७, १२९, १३०; ४. ६५; ८. ८८, ८९
जामि, ५. १४६
जान, ५. १४, १८
जामदग्न, स्त्री० -ग्नी, ५. २५; ८. ३६, ३७
जामातृ, ५. ५७, ५८, ५९
जाया, ५. १९
जाया-पति, ३. १५५, १५६
जाल, ६. ८८
√जि : जयेवहि, ५. १२६
जिगमिषु, ४. ९६
जिघांसु, ६. ११२; ७. ५०
जिज्ञासु, २. ११९
जिन, ५. १२४
जीर्ण, ४. २१
√जीव् : ३. १९; ६. १३७, १३८ सम्-, ५. १६; ७. २९
जीवनार्थम्, ७. ११०
जीवपुत्र, ५. ९२
जीव-आवृत्ति, ७. ८५
√जुष् : ७. ९६; ८. ३१
जुहू २. ८२; ३. ५८; ८. ३१
जेतृ, २. ३७
जोष्ट्री, १. ११४
√ज्ञा :
अनु- : जज्ञे, ५. ८०
अति-वि- : जानन्ति, १. १२
ज्ञाति, ७. १२२
ज्ञान, ३. १३७; ४. ४३; ७. १०९; ८. १३५
ज्ञान-संस्तव, ८. ९३
ज्या, १. १११
ज्यामिमघविग्रणी, ५. १२९
ज्यायस्, ६. १६३
ज्येष्ठ, ६. ७७; ७. १५६
ज्येष्ठ-वत्, ४. ११२
ज्योग्-जीवन, ७. ११
ज्योतिस्, १. ९०; ६. १४४; ७. १२७; ८. १४०; बहु० (त्रिपु), ३.
√ज्वल् :
उद्- : अज्वलत्, ५. २१

तत्त्व, ८. १३०

तत्त्वतस् ४ ४७
तत्त्व दर्शिन्, १ १०
तत् पुरुष, २ १०५
तत् पूर्व सूक्त, ३ १२७
तत् प्रधान, १ ७२
तथा, ४ ७५ ५ १०१, १२७, १२८, ६ २३ १२३ ८ १, ३१
तथा रूप, ५ ८७; ६ ९४, ८ ६२
तद् गत, ५ ९५
तद्-गुण, २ ९६
तद् देव, १ ६
तद् दैवत, ८ १०१
तद् चित्त, १ ३
तद्वित, २ १०६
तद् भक्त, १ ७२
तनन २ २६
तनय, ५ १६४, ७ ५३
तनु, २ २६, ३ १, ४ ७२
तनूनपात्, १ १०६, २ २६, १४७, १५६, ३ १
तनूनपाद् द्वितीया, ३ ३१
तनू नपात्, ७ ३५
तनू नामन्, २ ७७, १२८
तनू-नेत्र, ४ १५
तनू मनस्, ६ १४४
√तप् ५ १५५, ६ १४०, १४१, ७ ४९, अभि- अतपत्, ४ १५
तपस्, ४ ४७, ५९ ६६, ७१ ९५, ५ १५५, १५६, ६ १००, १४०, १४१, १४२, ७ ४९, ८ १३०
तपस्विन्, ५ १५०
तमस्, २ ६०, ६२, ६७, ३ ९, ४ १४, ५ १२
तमस्वती, ३ १०
तरन्त, ५ ६१, ६३, ८०
तरन्त पुरुमीळ्ह, ५ ६२
तरु वत्, ३ २८
तात, ७ ४४
तापस (मन्यु), २ ५३, (अग्नि), ३ ५८
तार्क्ष्य, १ १२३, २ ५७
तार्क्ष्य दैवत्य, ८ ७७
तालव्य, ८ ११०, ११५
तावत्, ३ १४७
तिग्म-तेजस्, ६ ८४
तित्तिरि, ६ १५१
तिर्यग् योनि, ६ ६२
तिस्र तिस्र (देवता), १ ६९, (देव्य), २ १४९, ३ १२, ६ १३६
तुरासाह्, ४ ७५
तुरीय, १ १२९
तुल्य नामन्, १ ९२
तुल्य रूप, ५ ६७
तुल्य-वयस् ५ ६८
तुविज्ञात, ४ ८२
√तुष् तोषय, ४ ५८
तूर्णंश, २ ५७, ३ १६
√तॄ अतरत्, ८ ३२
तृच, २ १७ १२६
तृचाधम, ८ ९७
तृण, ४ ६३
तृणपाणिक, ५ ११३
तृतीय (स्वर), ८ ११३, ११८
तृतीय सवन ३ ८९
तेजस्, १ ९८ २ ६३, ६ ३७, ७ २
तैजस, १ ८८
तैरिन्दिर, ६ ४७
त्याज्य, २ १००
त्रयस्त्रिंश (स्तोम), २ १३
त्रसदस्यु, ५ १३, ३१, ६ ५१, ७ ३५
त्रि त्रय (अग्नय) ७ १४२ (अधिपा), ४ ४१, (आपय), ८ ७८, (लोकाधिपतय), ८ १२१, (स्वरा) ८ १२१, त्रीणि (शिरांसि), ६ १५०, त्रिषु ३ ३१
त्रिणव, २ १

त्रित, २, ५८, १३६, १३७, १५२; ६. १४७
त्रि-दिव, ७. १००
त्रिधा, १. ६३, ६४; ४. ३५; ७. १२०
त्रि-बन्धुर, ३. ८६
त्रि-विक्रम, २. ६४
त्रि-विध, २. ७२; ३. १२, १४, ४२
त्रि-विधा, ४. ३५ (त्रिधा)
त्रि-वृत्, १. ११५
त्रिशिरस्, ६. १४७, १४९, १६२
त्रिशोक, ६. ८१
त्रिष्टुभ, १. १३०; ८. १०६
त्रिस्, ४. १०५
त्रि-संवत्सरिक, ५. ९७
त्रि-स्थान, १. ९५; ३. १२
त्रिस्थान अधिष्ठित, ८. ९१
त्रैसन, ४. २२
त्रैपद, ४. ८
त्रैवृष्ण, ५. १३, १४
त्र्यम्बक, ६. ३
त्र्यरुण, ५. १४, ३१, ३३
त्वः-पद, २. ११४
त्वक्षति, 'त्वक्ष्' धातु, ३. १६
त्वग्-दोषिन्, ७. १५६; स्त्री० —णी, ६. ९९
त्वग्-दोषोपहतेन्द्रिय, ८. ५
त्वच्, ६. १०६
त्वत्-प्रसादतस्, ६. ५६
त्वष्टृ, १. ८४, १०८, १२५; २. १४९; ३. १५, १७, २५, ३७, ८३, ८४, ८८; ५. १४८; ६. १६२; ७. ७
त्वाष्ट्र (कर्म), ३. ८४; (त्रिशिरस्), ६. १४७; स्त्री०-ष्ट्री, ४. ८६; ७. ३, १२
त्विप्, ६. १२१
त्विषि-तस्, ३. १६

दक्ष, ४. ८२; ७. ११४; ८. १२८
दक्ष-सुत, ३. ५७
दक्षिण, ४. ७५; ५. २३; ७. ६०, ११५
१. दक्षिणा, २. ८४; ३. ६९; ८. २२
२. दक्षिणा, ५. १५९; ८. २२
दक्षिणीयतम, ५. १५८
दक्षिणेन, ७. १२७
दण्डार्ह, २. १०६
दण्ड्य, २. १०६
दत्त, ५. १४१
दद्रव, २. ३४
दधि, ६. ९५
दधिक्रा, १. २५; २. ५५
दध्यञ्च, २. १२; ३. २२, २३, १२१
दनायु, ५. १४४
दनु, ५. १४४
दम, ८. १३०
दमिति, ६. ७४; ७. १३१
दर्पित, ७. ५४
दर्शन, ४. १९
दश, २. १०८; ३. १४६
दशम (अहन्), ५. १३५
दशाक्षर, ७. २१
दस्युम, ६. १२
दस्र, ७. ६
√दह् : अदहत्, ५. २२
√दा, ३. १४८; ५. ३१, ३२, ३४, ५६, ५८, ७२, १३९, १४५; ६. ५१, ६९, ८२, १२३
परी : ददे, ४. ११७
प्र— : अदात्, ३. १८, १५६; ४. ५३; ५. ६३; ६. ७९, ८५

दाक्ष्य, ८. १३०
दातृ, ८. २३
दातृत्व, ३. ६१; ८. २३
दाधिक, ५. १, १७३
दान, ३. १४०, १५३, १५४; ४. ११३; ५. १४०, १४१, १६२; ६. ४१, ४४, ४७, ८०, ९५, १२०; ७. १४७।
दान-तुष्ट, ५. २९
दान-शक्ति, ६. ५९
दान-स्तुति, ६. ४५, ९१

दानव, ७. ५०, ५१, स्त्री० -वी, ६. ७६
दार, बहु०, ६. ५३
दार-संग्रह, ५. ८२
दार्भ्य, ५. ५०, ७६, ८७
दाशतयी, ३. १५४; ८. ८८
दास, ४. २१; स्त्री० -सी, ४. २५
दिग्ध, ५. १३३
दिति, ५. १४४
दिदृक्षु, ५. ५६
दिदृक्षु, ४. १
दिधक्षत्, ६. ३७
दिन, ४. ३४, १३२
दिनान्त, ७. १२१
दिव् : द्यौस्, ६. १२३, ७. ९६; ८. ४७, १२७। दिवि, ३. १४, ४. ६६; ७. ५३
दिवाकर, २. ६१
दिव्-आदि, ४. ६
दिवौकस्, ४. ६२; ५. ४२; ७. ११८
दिव्य, ३. ११, ८६, १०३; स्त्री० -व्या (वाच्), २. ७२
दिव्यात्मन्, ७. ७७
√दिश :
उप - : दिश्यते, ३. १४१
दिश्, बहु०, ४. ९८; ८. १२८
दीदिष्यत्, ६. २०
दीप्त-तेजस्, ५. ६५
दीप्तिमत्तर, ३. १८
दीर्घ, ४. १४; ७. ७३
दीर्घ-तपस्, ८. ६७
दीर्घ-तमस्, २. १२९, १५४; ३. १४६; ४. १४, २१, २३
दुःख, ७. ८८, १५२
दुःख-शोक-परीतात्मन्, ६. ३३
दुन्दुभि, ६. ११०; ५. ११२
दुर्ग, ६. १३७
दुर्गा, २. ७७
दुर्भग, स्त्री० -गा, ७ ४२
दुर्मित्र, ८. १७
दुवस्यु, २. १२९; ३. ५९
दुष्-कृत्व, २. ११९
दु-स्वप्न-घ्न, ८. ६७
दुःस्वप्न-नाशिन्, स्त्री०-नी, ३. १३९; ५. ८९
दु-स्वप्नाद्य-प्रणाशिन्, स्त्री० -नी, ४. ८३
√दुह् : दुदुहे, ६. २३
दुहितृ, ४. ११०. १११; ५. ७३, १४५
दूती, ८. २७, २८
दूत्य, ८. २५
दूरात्, ७. ६४
√१. दृ, : आ-द्रियेत् २. १५५
√२. दृ : दृणाति (दृणान्), २. ३५
दृति, ३. ९५, ९६, ९७
√दृश्, ४. ९८; ६. ९४; दर्शय ५. ६३; ६. ११९; प्र-, २. १६२
दृष्ट, ५. ८९; ८. ६६, ८७, १००
दृष्ट लिङ्ग, ४. ८०
दृष्ट-वत्, स्त्री० -ती, ८. ३६
दृष्टि हीन, ४. २१
देव, बहु०, १. ८३; ६. ९८; ७. ५४, ६३, ६४, ६८, ७१, ७२। ८. ९, ४९, ११२, १२५
देव-गण, ४. ३६; ६. १५६
देव-गुरु, ६. ११३
देवता, १. १२८; २. ८८; ७. १३५; ८. ८, १३८
देवता-नामधेय, १. १७
देवता-नामन्, १. ११
देवता आर्ष अर्थ छन्दस्-तस् १. १४
देवता-वत्, २. १३६
देवता वाहन, १. ११९
देवता-विद्, ८. १२४, १३१
देवता लिङ्ग, ८. २१
देवत्व, १. ९८
देव दारु, ७. ७८
देव-देव, १. १०४, ३. ८८; ३. १२६
देव-देवत्य, ३. ११२
देव-नीय, ८. १०१

देव-पत्नी, बहु०, २. १२, ७८, ११३; ३. ९२; ५. ४५; ८. १२८
देव-प्रहित, ३. ८६; ७. ६५
देवर, ७. १४
देवर्षि-पितृ-पूजार्थम्, ४. १२६
देव-वत्, ६. १०
देव-सुतोपम, ३. १४४
देवापि, ७. १५५, १५८; ८. २, ३, ४
देवासुर, ५. १४५
दैवी, ५. ७५; ८. ८, ७६; ३. ९२; (विश्वस्), १. १०८; ३. ८
देश, ८. ११५
देश-काल-तस्, २. ११८
दैत्य, ४. ४७; ६. ११५; ७. ५०, ५४
दैर्घतमस, स्त्री० -सी, ३. १५२
दैव, ३. १२५; (अग्नि), ६. १६१
दैवत, १. १, २, ४, ५; २. १२४; ३. १०९; ८. १३४, १३३
दैवत-ज्ञ, १. २
दैवत-विद्, ८. १२९
दैव्य, (होतारः), ४. १०४; (होतारौ), २. १४९; ३. ११
दोग्ध्री, ३. ५०, ७९।
दोषा, ३. १०
दौत्य, ५. ७४
द्यावापृथिवी, ३. ९३; ३. १३८
द्यावापृथिवीय, ५. ७
द्यु-भक्ति, ३. ११३; ६. १५६
द्यु-भू, ५. ११४
द्यु-मत्, ८. ८
द्यु-वत्, २. ८१
द्यु-स्थान, ३. ५; ८. ४८
√द्रम् : द्रमति, ७. १२१
द्रविण, २. २५; ३. ६३
द्रविणो-द्, २. ६१, ६२, ६५; ३. ६३
द्रविणो-दस्, १. १०६; २. २५; ३. ३८, ६५, १२१
द्रव्य, १. ४२, ४५
द्रष्टृ, ५. १७०
द्राविणोदस, ३. ६४
द्रुघण, १. १११; ८. ११, १२
द्रु, १. १३
द्वन्द्व, २. १०५; ५. १४८; ८. २०
द्वन्द्व-भूत, १. ११३
द्वन्द्व-शस्, ६. २१; ८. १९
द्वादशक, ३. ३४
द्वादशधा, ४. ३५
द्वादशार्घ्य, २. १४६
द्वार्, (देव्यः), १. १०७; २. १४८; ३. ६
द्विगु, २. १०५
द्वि-चात्वारिंशक, ६. ८१
द्वि-ज, ७. ८६, ८७
द्वितीय (स्वर), ८. ११३, ११४, ११७
द्वि-देव, ३. १२८
द्वि-देवत, २. १४०, १४२
द्वि-दैव, ३. ४१, ८०
द्वि-दैवत, २. १४५; (सप्त), ३. ८१
द्वि-धातुज, २. १०३
द्वि-पद, ३. ८२; ४. ८
द्वि-पदा, ६. ९९; ८. १०९
द्वि-प्रधान, ४. ५, ८
द्वि-वत्, १. ७५; ४. १४७, १०८
द्विवत-स्तुति, ४. ५, ६. १९
द्विपद्-द्वेष, ३. ११३; ४. ११८
द्रुघ, २. १७; ३. १५५; ६. १३६, ८. ५४
द्रुपद, ३. ८०; ७. ८९, ९८

धन, २. २५; ५. ३१; ८. ३०
धन-काम, ५. १०
धन-कृप्य, ३. १४७
धनाशित्, ७. १३५
धनुर्-आदान, ७. १५
धनुर्-मुक्त, ५. १३४
धनुष्मत्, ६. ११२
धनुस्, १. ११०; ५. १२९; (ऐन्द्र), ७. २७

धन्विन्, ७ ५३
धर्म ४ ३६ ७ १४७
धम काम, ५ १०
धर्म व्यतिक्रम, ८ ३
√धा दधुस्, ७ १९
अभि, १ ३०
अव, ४ २१
नि अधत्ताम्, ३ २२
सम् दध्यात्, २ १००
धातु २ १०२, ७ ८०
धातु ज, २ १०४
धातु विभक्ति, २ १०१
धातु उपसर्ग अवयव गुण शब्द, २ १०३
धातृ, १ १२५, २ ५६, ४ ८८, ५ १४७, ७ ११४
धाना, ७ ३१
धारण, ७ १०१
√धाव अधावत, अधावन्
अभि–, ६ १२ ८ १३७
उप–, ७ ५५
धावत्, ६ १२
धिष्ण्य, (अग्नीन्), ४ १०४
धीवर, ६ ८८, ९०
धुनि, ४ ६७
धूम, ४ ४१
√धृ धारय, ५ १५५
नि– ५ ८४
धेनु १ १२९ २ ७८ ३ ५०, ७९, ८५, ४ ३६, ८ १२५
धैर्य-कार्य, ४ १३४
ध्मात, २ १५८
ध्माति, २ १५८
√ध्या ध्यायेत्, ६ १४५
ध्रुवम् ३ ७

न, २ ९१
न कार, २ ९२
नक्तोपस्, १ १०८, २ १४८ ३ ८
नख, ७ ७९
नगोह्य, (=अगोह्य), ८ १२७
नञ् पूर्व, ३ ९
नदत्, ६ १२
नदी, ६ ११०, १ ११२ २ ७३, ८३, ४ २४, १०५, १०७, १०८, ६ १,२१
नदी स्रोत, ४ २१
नदी वत्, २ १३६
नपात्, २ २७, ३ १, ५ १०३, ७ ३५
नपुंसक, १ ४०, २ ९६
नप्तृ, २ ५१
नभाक, ३ १२८
√नम्
सम्– नमेत्, २ १०१
नमस्, ५ ७८
नमस्-कार, १ ३७, ५४, २ १२३ ८ ११८
नमस् कृत्वा, १ १
नर, २ ६५ ३ २, ३
नराशंस, १. १०७, ११०, २ २८, ११५, १४७, ३ २, ३, ६७
नराशंस वत्, २ १५६, ३ ३१, ३२
नवक, २ ८५, ३ ६६, ७५, ११७
नवति, ६ ११५, ७ ५१
नवम, २ ५६, ६ १३०
√नश्, ५. १७
नष्ट, ७ ६३
नष्ट रूप, ४ ६४
नष्ट सञ्ज्ञ, ७ ८४
नाक, २, ६६
नाकुल, ८ १४
नानानीय (सूक्त), ६ १२९
नानान्वयोपाय, २ ९९, ११९
नानाप्रकार, १ ३४
नाना रूप ५ ९२, ६ ३२, ८ ७२
नाभाक, ३ ५६

नाम-तस्, ७. ४९; ८. १७
नामधेय, १. ८७, ८८
नामधेयानुकीर्तन, १. ८९
नामन्, १. ७६, ८५; २. ९६; ५. १२५; ८. ८५
नाम-लिङ्ग्य, २. ७१
नामाख्यात-विभक्ति, २. ९४
नामान्य-त्व, १. ७०, ७२
नामाह्वान, १. ८६
नाराशंस, ३. १५४; ७. ११९
नारी, ४. ८३; ६. ४७
नाशन, ८. ४५
नाशनार्थस्, ७. ९५
नासत्य, ७. ६; ३. २१, ३१; ७. ४८ (?); ८. २०
नासिकाग्र, ८. ११३
नासिक्य, ८. ११८
नाहुष, ६. २०, २२
निकृत्-य, ६. ८२
निचिन्य, ७. १
निगद, ८. १०४
निताय, ७. १३
नितान, २. १३६
निगृहीत, ४. ११२
निचृद्, ८. १०७
निदर्शन, २. १००, ११०
निदान-भासाविगम, २. ६९, ७४
निदान-संज्ञक, ५. २३
निधान, २. ११३
√निन्द् : निन्दन्ति, ७. ३७
निन्दा, १. ३५, ४९
निपात, १. ३९, ७८; २. ३, ८२, ८९, ९३; ३. २५, ३६; ४. ५४, ९६; ५. ११२; ६. ८६, १३५; ७. १४५; ८. ५२, ६०, १२९
निपात-भाज्, ४. १०, ९२, १२८; ५. ९१, ९३, १००, ११०; ६. १३०; ७. १४१
निपात-भाज्, १. ९३; २. ७५, ८१
निपात स्तुति, ३. ११९
निपातित, २. १३४, ३. ६७, १२१; ४. १०५; ७. २१; ८. ४०
निपातिन्, ४. ११०, १२६, १२८; ६. ६७, १२८; ३. ५३; ७. ३९
निपातार्थ, ६. ९७
नियर्हण, २. ४
निमुच्, १. ३०
नियम, ८. १३४
नियुक्त, ४. २८; ५. ३
नियुत्, ४. १४०
नियोग, १. ३६, ५१; ५. ७५, ८. १३०
निरर्थक, १. ३१
निरुक्त, ४. ७४, ६. १३४
निरुक्त-वत्, २. १११, ११२, ११३
निरस, ४. ७९
निरुच्य, ४. ४८
निरुक्ति, ७. ९१
निर्णय, २. ११७
निर्मथ्याहवनीयार्थ, २. १४५
निर्वक्तृ, १. ९६
निर्वचन, १. २३
निर्वपत्, २. १०६
निर्वाच्य, २. १०४
निर्वाच्य-लक्षण, २. १०३
निर्वृत्ति, १. ४४, ४५
निवास, १. २५, २६
निविद्, ३. ५७, ७८; ८. १००, १०४
निशाचर, १. ३२
निशास्त, ८. १०३
निशीथ, ३. १०
निषण्ण, ५. ३०
निषद्, २. ८२
निष्क, ३. १४८, १४९
√नी, १. ९०; २. ५३
नीयमान, ४. २७
नु, २. ९१

√नुद् : अनुदत्, ४. २३
  परा, ४. १३४
नृ, १. ९१; ३. ३; ७. ६०
नृप, ४. ३
नृप-क्षय, ५, १९
नृपर्षि-कुल-ज, ५. ५७
नेक्षसेन, ३. ५९
नेम (भार्गव), ६. ११७, ११८
निपातिक, १. ४७, १९; २. ७१, ७९
नैरुक्त, २. ११९; १. २४
नैर्ऋत, ७. ९९; ८. ६७; ७. ९१
मोथस्, ३. १२८

पक्षिन्, ८. ११५
पक्षि-रूपिन्, ४. ९४
पङ्क्ति, १. १३०; ८. १०६
√पच्: पपाच, ४. १२६; अपच्यन्त, ५. १७
पक्थस्, ४. १००; ६. ५०; ७. ४१
पञ्च (जनाः), ७. ६६, ६९
पञ्चदश, २. १
पञ्चधा, ४. ३५
पञ्चम (स्वर), ८. ११९
पञ्चर्च, ४. १२६; ५. १८, ८९, १०९, ११९
पञ्चाशत्, ६. ५१, ५४
√पठ्, ८. १२९
पणि, ८. २४, २६, २५, ३६, ३८
√पत्, ३. २३; ७. ५, ८८
  अभि-, ४. ६७, ७. ८८
  नि-, ५. १४९; निपात्यते, २. ९२, ९३
पतङ्ग, ८. ७५
पति, ६. ७३, १५९, १. ७५, १. १२९; ६. ४०, ५२; ७. ४३, १३०
पतित, ५. १५१; ७. ८९, १०१
पति व्रत, ४. ३
पति-संवननी, ८. ५७
पत्नी, ७. ११९; २. ८; ३. ६
पथि, ५. ३५, १४०; ७. ६५
पथ्या, १. १२८; २. ७८; ७. ९३, १०५, ८. १२५
√पद् :
  प्रति-, १. १०२; ३. १५०
  प्र-, ६. २२; ७. ४३
पद्, ८. ३४; ६. ८५
पद, २. ६३, ९३; ८. ६८; ४. १२१; २. १००, १०३, १०४, १११, ११६, ११७, १४२; ३. ४६; ८. १७; ६. १७, ८५; ८. २१, ४२, ४३
पद जाति, २. ११४
पद-व्यवाय, २. ११३
पदक्षस्, ८. १०१
पद-संघातज, २. ११७
पदानुसारिन्, ८. ३५
पदार्थ, २. १०८
पद्धति, ८. ३५
पद्म-निधि, ६. ५५
पयस्, ६. २३, ९४; ८. ३०, ३१, ३४
पयस्विनी, ५. ९२; ८. ७२
पर (मधु), ३. ११७, (ब्रह्म), ६. १४४; ८. ९२; ८. ९७
परम, ३. १२३
परमेष्ठिन्, १. १२५, ८. ४५
पराकद्दास, ७. ११८
पराङ्-मुख, ६. १५२
परामश, ५. २४
परामृष्ट, ५. २३
परावृत्त, ४. ४६
परिकीर्तन, ३. ४७
परिचारिन्, ४. २१
परिदेवना, १. ३५, ५०
परिधि-कर्मन्, ७. ११
परिनिष्ठित-कर्मन्, ३. ८९
परि-वृंहित, ३. ५
परिमाण, ५. १५४
परिवर्तिन्, ४. ३४
परिष्वज्य, ४. ६०

परिसंख्या, २. ७१
परीहा, ५. ७४
परीक्ष्य, ३. ८०; ५. १३
परीणाम, २. १२१
परुच्छेप, २. १२९; ३. ५६, १२५
परुष्णी, ६. ९६
परोक्ष, ३. १२१; ५. २; ७. १, ९, ८. ५२
परोक्ष-वत्, ७. ३१
परोक्ष-वैश्वदेव, ५. ४७
परोक्षोक्त, ४. ३२
पर्जन्य, १. ८२, ११७, १२२; २. ५, ३६; ८. २, १२८
पर्जन्याग्नि-विवस्वत्, ४. ३८
पर्जन्य-अनिल-भास्कर, ७. १८
पर्वत, २. ३; ३. २३; ६. १३८; ८. १२८
पर्वत-वत्, ४. ५
पलायन, २. १०६
लिङ्ग, ४. ६३
पवमान (अग्नि), ३. ६६; २. २५; (सोम), ६. १३०
पवमान-वत्, ६. १३०
पविभ्रावयाज, १. ९६
√पश् : पश्यति, ३. १४५; अपश्यत्, ६. १६०
अनु–, ७, ६४
पशु, २. १३८; ६. ९४; ७. ७४; ८. १२४
१. √पा : पाति, १. ३९; ४. ३४; ५. १९६; ७. २४
२. √पा, ३. ९०; ६. १०२, ११४; ७. ३१; ८. ३०
पाक-शासन, ६. ७३; ७. १४८; ८. २५
पाक-स्थामन्, ६. ४२
पाटा, ८. ५६
पाणि, ४. ७५; ७. १०२
पातृ, २. ३९; ३. २६
पाद, २. ५, १७, ९०, १३३, १४५; ३. ७८, १०५, १२६, १२७, १३८; ५. ७६, १११, १३३, १३५; ६. ३७, १२५, १२९, १३५, १४७; ७. ८, ९३, १२५, १४०; ८. १०९; (प्रथः), ७. ९२
पाद-सूक्त अग्नार्षेय-नामन्, २. ९८
पाश्वाधर्च, ४. ८
पाद्यार्ध्य-मधुपर्क, ५. ८२
पाप, ४. २३, ६८; ६. १४६
पाप-कृत्, ७. ९५
पाप-चेतस्, ८. २८
पाप-रोग, ७. ७२
पापाभिशङ्का, ६. ३७
पापोपम, ८. १३६
पाप्मन्, ६. १५३
पायु, ५. १२७
पार, ८ २४, ३३
पार्जन्य, ६. २५
पार्थ, ३. ५७
पार्थिव, १. ९९, १०५; २. ३९; ३. ३५, ९१, ७४, ७६; ५. ४८, ६१; २. ७२; ३. ९३; ७. १७
पार्थिव-मध्यम, १. १०१; ३. ११
पार्श्व, ५. ६७
पार्श्वतस्, ७. १५१
पार्श्वस्थ, ७. १४९
पालन, ६. ३२
पालय : पालयति, ३. २९
पावक, ४. ३१; ७. ६१, ९९
पावन, ८. ८७, ९२
पावमान, ६. १३५, १४१; ६. १२७, १३१, १४४
पाश, ६. १४, १५
पिताघुत्र, ५ ६४
पितु, १. ११३
पितृ, ३. १५०, १५१; ५. १०९, १२८; (देव), ६. ३; (वरुण), ६. १४, १५; (विवस्वत्), ६. १५७; (वात), ८. ७१, ८८; ३. ११७; १. १२३; ६. १४७, १५६, १५७, १५८, १५९; ७. १९, ६८, ७१, ८३; ८. ११२, १२८

पितृत्व, ६ ३८
पितृ देव असुर, ६ १६०
पित्त, ७ ८०
पित्र्य, ६ १५९
पिशाच, ५ १४६, ८ ११५, ५. १९, २२
पीति, ३ ७७
पीत्वा, ६ ११५ ८ ३१
पुस, १ ४०, २ ९६, ५ ४९, ६ ४०
पुत्र, ३ ८३, ११५, ५ ७८, १०२, १२७, ६ ६८, १४९, ७ ४३, ४९, (गृहपते), ७ ३५
पुत्रक, ४ ६०
पुत्र काम, ८ ८१, ८२, ८४
पुत्र काम्या, ४ २४
पुत्र ता, ३ ११५
पुत्र शत, १ ९८, ६४
पुत्र शोक परिप्लुत, ६ २८
पुत्रिका, ४ ११०
पुनर् ग्रह, २ ९७
पुर, ८ ६६
पुरंदर, ४ ७६ ५ १३७, ६ ८१, १०४
पुरंधिया, ३ ७९
पुरस्, √कृ के साथ, ७ ७६, √धा के साथ ५ १८, ७ ८७, ८ ६
पुरस्तात्, ८ १२३
पुरा, ५ ७७, २ ९, ७ १२०
पुरी, ७ ५१
पुरीष पद, ८ १०२
पुरुमीळ्ह, ५ ६१, ६८, ८०
पुरुष (देखिये 'मेध'), २ १५३
पुरुष विग्रह, ५ ६८
पुरुष सूक्त, ७ १४३
पुरूरवस्, १ १२४, २ ५८, ७ १४७
पुरोधातृ, ५ ६
पुरोधास, ६ १४९
पुरोहित, ३ १०६; ५ १४, १५, १२६, ७ ८५
पुष्कर, ५ १५४, १५५
पुष्पवत्, ६ ५६
पुस्यत्, २ ६३
√पू पुनाति, ६ १४२
√पूज्
  प्रति-, ४ ११५
पूजयित्वा, ५ ७९
पूजा, ५. ६२
पूत, ६ १४३
पूरणार्थ, २ ९०
पूरुषाद्, २ १११
पूर्ण, ३ ९५, ९६
पूर्व, ६ १०६
पूर्व-ज, ७ ७३
पूर्व युग, ४ ३१
पूर्वयुगीन, ४ ३१
पूर्व सम्भूत, ४ १३
पूर्वापर, ६ १४२
पूर्वापरी भूत, १ ४४
पूषन्, १ ८२, ११८, २ २, ७, १०, ६१, ३ ९५, ९६, ५. १४८
पृथक्-कर्म स्तुति, ६ ७०
पृथक्त्व, १ ९५, २ २८, ७१, ३ ४९, ५ १२८
पृथक् पृथक् स्तुति, ३ ४०
पृथक् स्तुति, ३ ४२, ४३, ४ ४२
पृथग् देवत, ४. १२४
पृथिवी, १ ११२, १२९, २ ११, ७४, ८१, ७ ५३
पृथिवी जात, ७ ७२
पृथिवी स्थान, १ १०५
पृथिव्य् अन्य-आश्रय, १ १२०
पृथिव्य् आदि, ७ ५२
पृथु श्रवस्, ६ ७९
पृश्नि मातृ, ५. ७१
पृश्नि-सूक्त, ५. ११३
पृषती, ४ १४१
पृषध्र, ६ ८५
पृष्ठ, ५ ३६

पृष्ठवाह्, ५. ७१
पृष्ठ, ५. ७५
पैजवन, ५. १६२
पैतामह, ७. १४८
पौरुष, २. १५; (सूक्त), ७. १४३; ८. १०९
पौलोम, ७. ५३
पौलोमी, ८. ६३
पौष्ण, ३. १०८; ५. ११८; ६. ४३; ७. ८, ९३; ५. ११४; ६. ७१, ७४
पौष्ण-सावित्र-सौम्य, ५. १२५
प्रउग-देवता, २. १२५
प्रकरण, २. ९३, ९६, ११८
प्रकल्पित, ३. ८१
प्रकाश, ३. ६५; ५. २२
प्रकाशवत्, ५. ९२; ६. ५९
प्रकीर्तन, ४. ३०
प्रकृत, ३. १५०
प्रकृति, २. १०८
प्रक्रिया, १. ९५
प्रक्षिप्य, ३. ११२; ६. ८८, १०५
प्रगाथ, ३. १११; ६. ३५, ३८, ४३, ५०, ८०, ८४
प्रचोदित, ५. ७५
प्रच्यावयत्, २. ५९
√प्रछ्, ५. ६९; ६. १३७; ८. ३६, ३०, ३३
प्रजा, २. २७; ३. १; ३. ४६; ७. १५०; ८. १, ३, ४, १८
प्रजा-काम, ५. ९७; ८. १८
प्रजापति, १. ६२, ८३, १२५; २. १२४; ३. ६९, ७२, ८८; ५. ४४, ९७, १००, १०१; ७. १०, ४८, १३७, १४१; ८. १०२, १२७
प्रजापति-तस्, ७. ५७
प्रजापति-देवता, ८. १०८
प्रजार्थिन्, ३. ३२
प्रजावत्-जीवपुत्र, ५. ९२
प्रजावत्, ८. ८०
प्रणय, ८. १२३
प्रणीत, ७. ६७
प्रति-गृह्य, ३. १५०; ५. ३५
प्रतिपूर्वक, ५. ९०
प्रतियोग, ३. ५२
प्रतिराध, १. ३७, ५५
प्रतिलोम, २. ९
प्रतिवाक्य, १. ३७, ५०
प्रतिषेध, १. ३८, ५३; २. ९२
प्रतिहार, ८. १२३
प्रतीची, ७. १३५
प्रतीचीन, ७. १८
प्रत्नवत्, ६. ४६
प्रत्यक्ष, १. ११; ८. १३१
प्रत्यवरोह, १. १०२
प्रत्याख्यात, ५. ६०
प्रत्यक्षत्व, २. ११६, १५१; ३. ३४; ६. १; ८. ८१, ९१
प्रथम (स्वर), ८. ११६, ११४
प्रदर्शित, ५. २५
प्रदाय, ७. ९९
प्रदिष्ट, ३. ४८, ४९, ८१, १४१; ५. ११
प्रधान, १. ७८; २. ९९; ४. ९, ५; ५. ९६; ८. ९९
प्रधान-गुण-भूत, ५. ९६
प्रधान-तस्, ५. ११०; ७. ११६
प्रपद्यमान, ७. ११३
प्रपद्य, ३. १४२
प्रबोध, ७. ५५
प्रभव, १. ६३
प्रभा, ६. १२६
प्रभाव, १. ३४; ८. ३४
प्रभूत्व, २. ६; ७. ६०
प्रमूत, ७. ६०
प्रमाद, १. ३८, ५६
प्रम्यत्, ७. १९
प्रयत तस् ८. २४
प्रयाज, ७. ७४; ८. १०३

प्रयात, ५. ७२
प्रयुक्त, २. ६९
प्रयुञ्जान, ८. १३४
प्रयोग, १.९०; ५.९४; ७. १८,११०, १५४; ८. १२४
प्रयोग-तस्, १. ५९
प्रयोग-विद्, १. १२
प्रलय, १. ६१
प्रलाप, १. ३७, ५५
प्रवचयत्, ५. ७३
प्रवर्ग्य, ५. ३५
प्रवल्हिका, १. ३५, ५७
प्रवाद, २. १८; ३. ४१, ६५, ४. ३९, १०७
प्रवाद-बहुल-त्व, ४. ४३
प्रविभज्य, २. १०६
प्रविश्य, ७. ४७
प्रव्यथित, ५. १८
प्रशंसा, १. ३५, ४८
प्रशास्य, ३. ३, ४. ६०
प्रशस्य, ४. ९५
प्रश्न, १. ३५, ५०
प्रसङ्ग, ३. ४७, ५२, ६८; ४. १९, २८, ८१; ५. १४२; ६. ७२; ३. ५३
प्रसङ्गज, ६. २८
प्रसङ्ग-तस्, ५. १७१
प्रसङ्ग-परिकीर्तन, १. १२
प्रसन्न, ५. १९; ६. ८९
प्रसाद्य, ५. १८, ५०, १२५
प्रसुति, १. ९६; ३. ३०
प्रस्कण्व, ६. ८५
प्रस्ताव, ८. १२२
प्रस्तोक, ५. १२४
प्रस्वापिन्, ६. २
प्रहर्षित-मनस्, ६. ६०
प्रहित, ४. २५; ६. १४९
प्रहृष्ट, ४. ३
प्रह्लाद-तनय, ७. ५३
प्रह्व, ४. ७१, ५. ७६; ६. ५४, ८. ४
प्रउग, ४. ९२; ६. १७
प्राक्, ३. १०; ८. २१
प्राच्, ७. ११५
प्राजापत्य, ३. ६९; ५. १४३; ८. २२, ४१, ६४, ८०
प्राजापत्य-आश्वमेधिक, २. १५३
प्राञ्जलि, ५. ५१; ६. ३८
प्राञ्जलि-स्थित, ८. ४
१. प्राण, २. ३५; ४. ३९, ४०
२. प्राण, ७. ७१; ६. १४४
प्राण-दृष्टि, ८. १३५
प्राण-भूत, २. ५१
प्राण-व्रत, ७. ८२
प्राण-अपाण, ७. १२६
प्रातः-सवन, १. ११५
प्राक्षाय, ३. २४
प्रादुर्, √अस् के साथ ५.६७; ७. ४५,६६
प्राधान्य, , १. ६, ७५; २. १३८; ३. ७; ६. १७, ८. ६०
प्राधान्य-तस्, ५. १०७; ८. ६२
प्रायशस्, ३. १५१
प्रायश्चित्तार्थम्, ८. ६९
प्रासाद, ६. ५६
प्रास्त, ५. १७
प्रिय, ७. १४९
प्रियकाम्या, ६. १४९
प्रियस्थ, ४. ७०
प्रीत, ३. १०३; ५. ७१, १३७; ६. १०४; ७. ४६, ७६, ७७, १००; ८. ८
प्रीतात्मन्, ४. ५५
प्रीति, ७. १; ७. १४९, १५०
प्रेत, ७. १३, १५, १८
प्रेतानुगमन, ७. १४
प्रेताग्निस् ६. १५८
प्रेप्सु, ८. १३
प्रैष, १. ३५, ५७, २. १५२, ३. ३६; ८. १००, १०३
प्रैष-गत, २. १५४

प्रैप-सूक्त, २. १५२, १५४

फल, ८. १२४
फल-प्रदर्शन, ३. १५१

बद्ध, ६. १४; ७. १३५
बद्ध्वा, ४. २१; ६. ८८
बध्यत्, ५. १३४
बन्ध्,
प्रति० : अबध्यत,
बन्धु-प्रभृति, ३. ५९; ७. ८६
बभ्रु, ७. ३३
बर्ह्
निः बर्हय, ४. ६९
बर्हिस्, १. १००; २. १४८; ३. ५
बल, १. ८७; २. २५; ३. ६२; ४. ११३,
१३२; ६. ११४
बल-काम, ३. ३२
बल-कृति, १. ८७
बल-पुष्टि-कर, ८. ३२
बलवत्तर, ५. ९४
बल-वित्त, ३. ६१
बहु, १. १३; ३. ८२
बहुत्वेकान्त-रुचित, ३. ३५
बहु देवता, १. ७५; ४. ७
बहु-देव, ३. ८०
बहु-दैवत, २. १२८, १३३; ३. ४१, ४३,
१२८; ६. ८१
बहुधा, ४. १४३; ५. ३९, १४१
बहु-प्रकार, १. १९
बहु-प्रधान, ४. ८
बहु-रूपत्व, ६. ९५
बहु-वद्, ३. ८२; ४. १०७, १०८
बहुवत्-स्तव, ३. ८२
बहु-विध, ५. ६३
बहु-व्रीहि, २. १०५
बहु-दास, ४. ८; ६. १४७
बह्व्-एक-भानुज, २. १०३
बाधितुम्, ७. ५४

बाध्यमान, ७. ५५
बार्हस्पत्य, ४. ९, १२४; ६. २५
बाल, ४. १२०
बाल-भाव, ४. ३
बाष्कल, ८. ८५
बाहुश्रुत्य, ८. १३०
बाह्य (मन्त्र), ५. २४
बिभ्यत्, ४ ८२
बुद्धि, ८. १३०
बुध्वा, ५. ६०; ७. ५७
बुध् : बुध्येत, ३. ४८; अबुध्यत, ५.
६९; बुबुधे, ६. १००, १४०
अनु-, ४. ११४; ६. ३१
बुध, ५. १६६
बुध्न्य, ५. १६६
बृबु, ५ १०८
बृहद् (स्तोत्र), ८. ७८; (साम),
१. १२१
बृहती, ८. १०५
बृहदुक्थ, २. १३१, ३ ५५
बृहस्पति, १ ८२, १२२; २. ३, ३९; ३.
८६, १३३, १३७, १५६; ४. १२, १३;
५. १०२, ६. ११०, ११२, ११६;
७. १३७
बृहस्पति-प्रचोदित, ३. १३६
बृहस्पति-स्तुति, ४. ८५
बोधित, ८. ७
ब्रह्म-कर्मन्, ५. १५८
ब्रह्म-चारिन्, ४. ५९
ब्रह्म-जाया, २. ८२; ८. ३६
ब्रह्मणस्-पति, १. १२२, २. २, ३. ६६, ७१
ब्रह्मन्, १. ६२, २. ४०, ११९; ७. १०५
८. १४०; ३. १८; ८. ९३; ५. १२६,
५. १२५; ७. ५०
ब्रह्मर्पि-त्रा, ४. ९५
ब्रह्म-वादिन्, २. ८४
ब्रह्म-हन्, ६. १५२
ब्राह्म, २. १२५; ८. ९८; ४. ११३; ६.
१५२; ८. १०९

ब्राह्मण, १ ४१, ५ २७, १५७, ६ ११७, १२९, ७ ७२, ८ १००, ११०, ५ १५८
ब्राह्मण कुमार्, ५ ११
ब्राह्मण शासन्, ७ १४
ब्राह्मणस्पत्य, ३ १०७
ब्राह्मण उक्त, ५ ११
ब्रुवत्, ६ २०
ब्रू अब्रुताम्, ३ २१
निर्- ब्रूयात्, २ १०६

भक्त, ४ ५५
भक्ति, १ ६, ७३, ७६, ७७
भक्ति-तस, ५ १७२
भक्ष भक्षयेत, ७ ३१
भक्षयित्वा, ६ १०६
भग, २ १०, ६२, ५ ११७, ६ ८, ७ ११४, ८ १२८
भग दैवत, ५ १६६
भगवत्, ५ ७८
भग अन्तर, ७ ४६
भज्, १ ५, १८, ७८, ८८, ११३, २ ७४, ७४, ७६, ८०, ८१, ३ १४, ७ ६५, १४३, ७ ११२, ८ २९
भण् भण्यते, ३ ५४
भयोद्विग्न, ८ ३५
भरद्वाज, २ ६३, ३ १२८, ४ ९८, ५ १०२, १२४, १३७, १३९, १४०
भर्तृ, ७ १, ४७, १३३
भवत्, १ ६१, ५ १२६
भविष्य, १ ४०, ४ २९
भव्य, १ ४०, ६१
१ भाग, २ ८९, १३६, ६ २१, २२, ८ २९
२ भाग, ३ ४५, ५१, ५, १६७, ३ ९८
भाज् (सूक्तस्य), १ १००
भात्, २ ६२
भारत, ५ ८३
भारती, ३ १३, ५ १०१
भार्गव, २. ५१, ८ ७०, ४ ११
भार्म्यश्व, ६ ४६, ८ १२
भार्या, ५ ५९, ८ १९
भाल्लवेयी, ५ १५९
भाव, १ ७५, ३ २१, ४ ५९, ६८, ७३, ६ ३८, ८ २१
भाव प्रधान, २ १२१
भावयव्य, ३ १५०, १५५, १५६
भावयव्य सुत, ३ १४३
भाव विकार-ज, २ १२२
भाव वृत्त, २ ८६, १२०, ५ ८७, ११२, ७ १२३, १४०, ८ ४६, ५६, ५९, ६५, ९१
भाव वृत्ति, ७ १३५
भाव्य, ३ १४०
भाष आभाषत
अभि-, ५ १००
प्रति-, ४ १२
भासयत्, २ ६२
भास्कर, ७ २८
भित्त्वा, ७ ५२
भिद् विभिदु, ६ ६४, भिन्धि, ७ १४९, अभिनत्, ७ १५०
भिष (सूक्त), १ २४
भिषज्, ७ १५४
भीत, ४ ६९, ८९
भीम पराक्रम, ४ ६७
भुज् भुञ्जते
उप-, ८ ११५
भुरिज्, ८ १००
भुवन, ७ ६०
भू, २ ७३, ७ ५, ९३, १०१
भू भूत, ६ ५७, ९०
सम्-, ५ १५०, ७ ६
१ भूत, १ ४०, ६१
२ भूत, २ २४, ३ २४, ३०, ७ १२८
भूत करण, ८ ८५

भूल-चल्, ४. २९
भूनांश, ८. १८, १९
भूति, ३. ३२
भूपति, ५. १९
भूम, ५. १११, १२३; ८. ४०
भृ : बिभर्ति, ८. ७६
भृगु, ५. ९९; १. १२८; ४. ९८; ६. १५६; ८. १२५
भृशम्, ४. २३
भेषजार्थम्, ७. ९१
भैषज्य, ८. ३४
भोज, ६. ४२; ४. ९८; ८. ९३
भ्राज् : भ्राजते, १. ९३
भ्रातृ (मध्यम), ४. ३३; (यवीयस्) ४. ११२; (कनीयस्), ७. ११; ७. १५५; (बान्धवाः), ३. ५९; (त्रयः) ४. ३२; ७. ८९, (महतः) ४. ५१; (सूचकाः), ७. ६१; (पूर्वजाः), ७. ७३, ७७
भ्रू, ८. ११३, ११७

मख, १. ११५; ३. ४५
मङ्गल, १. २५, ३२
मज् : मज्जतिः
नि-, ३. २४
मज्जा, ७. ७९
मणि, ५. १२३
मण्डल, ३. २८, ११६, ५. १०३; ६. ३९, १३०, १४५
मण्डूक, १. १०९; ६. २७
मत, ३. १२२; ५. ५६
मति, ३. १४४
मत्त, ७. २३
मत्स्य, ५. १५२
मथ् : मथ्यति, ३. ६२
मथ्यमान, ३. ६४
मद् : मादयसे, ४. ७८
मद्-गृह, ६. ५५
मद्-दैवत, ७. ७२
मद्-देवत्य, ७. ७४
मधु, ३. १७, १९, २१, ९६, १२३; ४. १२६, ६. १४५
मधुच्छन्दस्, २. १२६; ३. ५७
मध्य, ३. ११६; ४. १३४; ८. ११३, १२७
मध्यंदिन, २. ९; ७. १२१
मध्य-भाग, २. ३१
मध्यम, १. ६६, ६९, ९३, ९४, ९९, १२०; २. २६, ३८, ४१, ४३, ४५, ७२. ८५; ३. ७६, ९९ (अग्नि), ११६, १२० (अग्नि); ४. ३३; ५. १० (अग्नि), ३५ (अग्नि), ४२ (वायु), ४८ (अग्नि), ४९ (वायु) ८८ (पृथिवी) १६६; ६. ११ (अग्नि), १२८, १२९, १५५ (यम); ७. ३३ (अग्नि), १०६, १०७ (वायु) १४२ (अग्नि); ८. ३९ (अग्नि)
मध्यम-स्थान, १. १०३, १२१; २. ७; ३. ७४
मन् : मन्वते, १. २५; मन्यते, ३. ७६, ११२, १३०, १५०, १५६; मन्येते, ३. १००; ४. ४, १८
मन-आवर्तन, ७. ९०
मनस्, ५. ५४, ५५, ६०, ६५, ७३; ७. ७१, ८२, ८५; ८. ७६, १३२
मनु, २. १२, १३०; ३. ५५, १२१; ७. २, १०३, १०७
मनुष्य, ५. ९; ७. ६८, ७१
मनो-वाग्-देह-भोजन, ६. १४३
मन्त्र, १. ८०, ८६, ८७, ११९; २. २०, २१, ६८, १०१, ११०, ११२, ११८, १३२; ३. ३७, ४६, ४८; ५. ५८, ९४, ९५, ९६; ६. १५७; ७. ३६, ४५, ११०, १३८; ८. १०९, १२४, १३१, १३८; २. १३२; ८. १२९
मन्त्र-तस्, ७. १७
मन्त्र-दर्शिन्, १. ३४; ५. ६६

मन्त्र द्रष्टा, १. १, ५ ५८
मन्त्र दृष्टि, १ ३
मन्त्र दैवत विद्, ८ १३२
मन्त्र प्रयोग, ५ ९४
मन्त्रय
  अनु- अमन्त्रयत्, ५ १२८
  अप- मन्त्रया चक्रे, ५ २०
मन्त्र वित्तम, २ १२२
मन्त्र विद्, १ २२, ९०, ५ ९३
मन्त्रविन् मन्त्रवित्तम, ३ १३३
मन्द्रु, २ १४१, -द्रू, २ १४२
मन्द्र (स्वर), ८ ११३, ११५, ११९, १२०
मन्द्र कर्पण-संयुक्त ८ ११३
मन्द्र स्थान समाहित, ८ १२०
मन्यमान, ४ १२१
मन्यु, १ १२६, २ ५२, ४ १२४
मन्वान ६ ११२
ममता, ४ ११
ममता सुत, ३ ५६
मरीचि, ५ १४३
मरुत, १ ८३, १०३, ११७, १२७, २ ३५, ३ ३७, ७४, ७५, १०७, ७ १०५
मरुत् प्रति, ६ ११३
मरुत्वत्, ३ ९४, ४ ५६
मरुद्-गण, २ १४४, ५ ६७
मरुद् गण प्रधान, २ १४१, १४३, १४४
महत्, ८ १४०
महर्त्विन्, ७ ११२
महर्षि, १ ८१, ५ ६५, ८ १२७
महातपस्, ४ २५
महा दोष, ४ ११९
महा-द्युति, ५ १४७, १५२
महा नम्नी, ३ ५५
महा नदी, ६ ९६
महा नाम्नी (ऋच), ८ ९८, १००
महा यज्ञ, ४ ११२
महा यशस्, ५ १५२
महा वीर, ५ ३४, ३५
महिमन्, ५ १६४
महिषी, ५ ५६, ६३
महेन्द्र, २ १४४
महेन्द्र सदन, ४ ७६
महौषधि, ८ ५६
√मा मीयते, ५ १५३
  निर्- -मिमीते, ७ १२९
मास, ४ २९, ७ ७८
माता पुत्र, ४ ३९
मातृ, ६ ९०, ७ ९७
मातृत्व, ६ ३८, ९१
माध्यमिक (गण), ३ २५
मान, ५ १५३
मानस, ७ २१, ८ ६९
मान्य, ४ ५२, ५ १५३
मान्यव, ७ ११७
मामक, ७ ४४
माया, २ ४२
माया-चक्र, ७ ८८
माया भेद, ८ ७५, ७६
मायाविन्, ७ ८६
मारीच, ५. १४३
मारुत, ३ १०७
मारुतैन्द्र, ४ ४४
मास्, मासि मासि, २ ५२
मास, २ ५६, ४ ३४
मास कृत, २ ११२
मासिक, २ ५६
माहात्म्य, १ ३०
माहित्र (सूक्त), ८ ८६
मित्त, ८ १०९
मिताक्षर, २ ९०, ९२
मित्र, १ १२३, २ ४, ४८, ५ १४७, १४८, ७ ११४
मित्रातिथि, ७ ३५
मित्रार्यमन्, ६ ८१
मित्रा वरुण, १ ८३, ३ ९४
मित्रा-वरुण दृक्षास तुविजात-भगर्यमन्, ४ ८२
मित्री कृय, २ ४८

मिथुन, ६. १६२; ७. १
√मी : मीयन्ते, :
प्र-, ४. १२०
मीव, ६. ८८
मुख, ५. १; ६. १०२, १५१
मुख्य, ३. ३७
मुख्यतम, २. ८
√मुच् : मुमुचुः, ६. ८९
प्र- : मोचिरे, ६. १५
मुद, ५. ५३
मुद्गल, ६. ४६; ८. १२, ९०
मुधा, ७. ४३
मुनि, ३. १०६, १३५; ५. १४४; ७. ४७
मुनि-सत्तम, ८. १८
मुसल, ३. १०१
मुसलोलूखल, १. ११२
√मुह : मुमोह, ७. ८८
मुहूर्त, ४. ६६; ५. १४५; ७. १५७
मूले, २. ३२
मूर्तिमत्, ७. १४६
मूर्धन्, ४. ६०, १२०; ८. ११२, ११६
मूर्धन्वत्, ३. १८
मृग, ४. ८९
मृत, ७. ३५
मृत-पत्नी, ७. १३
मृत-शिशु, ७. ११
मृत्यु, १. १२२; २. ५५; ७. १०, १६
√मृश् : ममर्श, ४ १२
मेघ, ४. ४१; ५. १६६
मेदस्, ७. ७८
मेध (पुरुषस्य), २ १५३
मेधा, २. ८४
मेधातिथि, २. ६४, १३०, १५५, १५७; ३. ५५
मेधा-सूक्त, ८. ५८
मेध्य (अश्व), ४. २७
मैत्री, ४. १७, १२३
मैत्रावरुण, २. १२७; ३. १०५; ४. १२५;
-णी, ६ ६५, ७२, १२४
मैत्रावरुणि, ५. १६०
मैथुन, ४. १२; ६. १५४; ७. ४, १३३
मोहित, ७. ५४

~

यव, ७. ६८
यक्ष्म-नाश, ७. १५४
यक्ष्म-नाशन, ८. ६४, ६८
यक्ष्म-नाशिन्, ७. १६३
यक्ष्यमाण, ५. ५०
√यज्, ८. ११४; ६. २१; ७. ५९; ८. ७; ५. ५३; ८. ५
यजत्, ६. ५८
यजमान, ६. ७२; ७. ७०; ८. ८०
यजुस्, २. १५२, १५३, १५४; ८. ११०, १३०
यज्ञ, ३. ११६; ५. १५८; ७. ३१, ७४, ७७, ११२; ८. १३०, १३५
यज्ञार्थम्, ७. १४३
यज्ञिय, ७. ७२
यज्वन्, ६. ७३, ७५
√यत् : यतेत, ६. ११९
यथा-क्रमम्, २. ७१
यथा न्यायम्, २. २३
यथा-रूपम्, ७. १३८
यथा-वाक्यम्, २. १२२
यथा-विधि, ८. ६
यथा-स्थानम्, २. ७२; ७. ५२
यदृच्छया, ५. ९९
यद्-दैवत, ८. १०३
√यम् : यच्छति, ३. १
प्र- : अयच्छत्, २. २५; ६. १६२
यम, १. १२३; २. ११, ४७; ३. ५८; ६. १५४, १५५, १५७, १५८, १५९, १६३; ८. ९८
यम (यमज), ६. १६३
यम-पुत्र, २. ६०
यम-यमी, ६. १६२

यमी, १. १२८, २ ७७, ८३, ६ १५४
यव, ६ ५८
यविष्ठ, ७ ६१
यवीयस, ४ ११२
यशस्विनी, ४ ५७, ५. ५४
यहु, २ ६४
√या
अभि अयात्, ६ ११०, ७ १०४,
अयुस, ७ ९०, ८ २०
√याच् अयाचतम्, ३ २०
याच्ना, १ ३५, ४९
याजमान, ७ १३८
याज्ञिक, ८ ९९
याज्य, ५. ५५
याज्या, २ १३८
याज्यार्पित, ५ ३४
यात्, ८ ८७
याथातथ्य, १ ४
याहश्चिक, १ ३०
यादृश्, ७, १३४
यावत्, ८ १९
युक्त, ४ २४
युग, ६ १०५
युगपद्, ५ ९८, ६ ५४, ८ ३७
युग पर्यन्त, ८ ९८, म, ३ २४
युग्म, ४ ४४; ७ ३०, ८ २९
√युज्
नि अयोजयत्, ५ ७४
॥ युज्यन्ते, ७ १५ युङ्क्ते, ८ १३१
सम् यजयेत्, १ ११८
युद्ध, ४ १३१
युद्धादि, ५. १२४
युद्धोपकरण, ५. १२८
युध्, ५ १२४, १२५, ७, ६३
युध्यत्, ८ १६
युयु सु, ५ १२५
युव-काम्या, ६ ७७
युवम् युष्मान्, ८ २७
यूप, ४ १०१
यूपवत्, ३ २८
योग, ७ ८८, १०९, ८ ८४, १३०, १३६
योगित्व, ३ ११५
योत्स्यमान, ६. ११९
योद्धृ, ५ १२७
योधयत्, ४ १३२
योनि, १ ६२, ८ १४०
यौप, -पी, ४ १००
यौवन, ६ ५५, ७ ४४

रक्षस्, ८ ११५
रक्षो भूत, ६ ३४
रक्षोहन्, ६ १३४
रक्त, ७ ७८
रजस (त्रीणि), २ ६३
रण देवता, ५ १२१
रति, ६ ५५
रत्न, ५. १२३, ६, ५२
रथ, १ ८४, ११०, ३ ८९, ९५, १४७, १४९, ५. १४, १५, १२३, ८ १२,३५
रथ-घोष, ५. १३१
रथ छिद्र, ६ १०५
रथतर, १ ११६, ८ ७८
रथ प्रोष्ठ, ७ ८५
रथवीति, ५ ५०, ७३, ७४, ७७
रथस्पति, ८ १२७
रथाभिमर्शन, ५ ११२
रथीतर, ४ ७३
रपस्, ७ ९५, ८ ५०
√रभ रेभे
आ, ७ ५४
√रम् रमये, ६ ५४
रम्य, ५ ७५
रयिमत्, ४ ७२
रव, २ ३५, ४२
रवि, ३ १०, १७
रश्मि, १ ६३, ६८, ९४, २ ६२, ७७, ३ १७, ४ ३८, ५ १२०, (सप्त) ४ ३३

रस, १. ६८; २. ३२; ७ १२७
रसादान, २. ६
रसा-पार-निवासिन्, ८. २४
रहस्य, ६. १२९
रहः-सयोग-काश्यप, ४. ५७
राका, १. १२८; २. ७८
राका-सिनीवाली, ४. ८७
राक्षस्, ५. १४५; ७. ६८
राक्षोघ्न, ६. २८
राक्षोघ्न-आग्नेय, ८. ४०, ६५
राजन् (वरुण), ६. १४, (माहुष) २०, (कुरुङ्ग) ४४, १३८
राज-पुत्र, ७. १५५, १५६
राज-पुत्री, ५. ५३, ५४
राज-यक्ष्म-हन्, ८. ६४
राजर्षि, ३. ५४; ४. ९८; ५ २९, ५०; ६. ५१; ७. २, १४७
राज्ञी, ४. २
राज्य, ७. ५४, १५७; ८. १, ४, ५
रात्रि, ४. १३२, ५. ८४, ६. ११
रात्रि-संस्ताव, ३. १०५
रात्री, १. ११२; २. ७४, ८४, ५. ७४, ७५; ८. ४४
राध्य-उपस्, ३. १३८
√राध् : राध्यते, ८. ९८
राष्ट्र, ८. २
रासभ, ४. १४१
राहूगण, २. ४५
रिक्थ, ४. १११
√रिभ् : रिभ्यते, ३. ९६
रिरंसु, ४. ५८, ५९
रुक्म, ५. ७२
रुक्म-वक्षस्, ५. ६८
√रुद् : अरोदीत्, २. ३४
रुद्र, १. १०३, १२२; २. ४, ३२; १. १२७; ५. ४७; ८. १२८
रुद्र-पत्नी, ५. ४६
रुद्र-सूनु, ५. ६९
रुवन, २. ५९
√रुह् : रोहति, ७. १३
अधि-, २. ६७
आ- : रुरोह, ७. ४
रूढि-गत, २. १०२
रूप, २. ११९; ३. ७६; ४. १८; ८. १११; २. १५८; ३. ४
रूप-कृत, १. ८४
रूपवत्ता, ७. ४९
रूपवद्-भार्य, २. १०७
रूप-विकर्त्, ३ २५
रूप-वीर्य, ४. १३४
रूप-संपन्न, ३. १४४
रेतस्, ४. १११; ५. १४९
रैवत, २. १३
रोग-घ्न, ३. ११३
रोगापनुत्ति, ३. ११४
रोदसी, १. १२९; २. ७८, १४३; १. ८३, ११३, ४. ६, ९८; ७. ९४, ९५, ११६; ८. १२५
रोमन्, ४. २; ७. ७८
रोमशा, २. ७७, ८३; ३. १५५, १५६.
रोह. १. १०२
रोहित, ४. १४०
रौदसी, ५. ११७
रौद्र, ३. १३९, ५. १०६;-द्री, ३. १०८, ५. ३८
रौद्र-सौर्य-औषस्, ४. ९९
रौप्य, ७ ५२
रौशम, ५. ३४

√लक्ष्, ५. १५४, ७. १४०
उप-, १. १२; ८. ७९
लक्षण-संपद्, १. ११
लक्षित, ८. ८१
लब्ध-वत, ५. ६६
लब्धानु, ७. १०२
√लभ्, ६. ६८; ७. ५०; ८. १८
उप-, ३. १३८; ४. ५२

लाक्ष, ८ ७१
लाक्षा, १ १२९, २ ८४
लाव, ८ ४०
लिङ्ग, १ ४५, ८६, ८७, २. ९५, ९७, १००, १०२, ११८, ३ ११०, ८ २१, ८१, १०४
लिङ्ग सम, १ २०, ३ २९, ६ ६९
लिङ्ग भाज्, ३ १११
लिङ्ग-वाक्य, ५ ९३
लिङ्ग-वाक्य विकार, ७ १०८
लिङ्गोक्त दैवत, ४ १२९, ८ ६५
लुश, २ १२९, ३ ५५
लोक, १ १३०, २ ६२, ७ १२०, (त्रय), १ ९०, १०१, ९ ५०, ६ १२१, १ ९२
लोकाधिपति (त्रय), १ ७३
लोकाधिपति (त्रय), ७ १२१
लोप, २ ११६
लोपामुद्रा, २ ८३, ४ ५७
लौकिक, २ १०१
लौक्य, १ ४
लौह्य, ८ ६१

वशाज, ६ ३९, ५८
वक्ष्य, ६ १४२
वक्तु काम, ७ ८४
√वच् वक्ष्यामि, १ १, ४ ३२, (मा) वोच, ३ १९, ऊच, ७ ६ , उच्यसे, ३ १५३
प्र- , वक्ष्यामि, १ ८५
प्रति- ऊचु, ६ २१
वचन लिङ्ग, १ ४३
वज्र, १ ८४, ८७, ३ २३, ४ ५, ६ ८२, १२३, १५०, ७ २५, १८९, १५०
वज्र धृक्, ७ ३२
वज्र सस्तव, ६ १२०
वज्रिन्, ३ २३, ११५
√वद् वदति, ४ १७
अभि- वदन्ति, ८ ९६, अवाद यताम्, ५ ६५
वि प्र-, ४ १०
सम्- ऊदे २ ८५, ऊदिरे, ४ १०५, ६ ८९, ७ ८१
वध् (मा) वधी, ४ ५२, वधीत् ३ २१
वधू, ३ १४७, ६ ५१, ७ १३१, १४२
वधूमत्, ३ १४९
वन, ६ ३५, १०१, १२८, ८ २, वनानाम् (पति), ३ २६
वनस्पति, १ ९६, १०९, २ १५०, ३ २६, २७, ७ ६२
√वन्द् ववन्दे, ४ १
√वप्
निर्- उप्यते, १ ७८, ११९, वपन्ते, २ १६
वपुस्, ४ ६६
वयस्, ५ १४६
वर, ३ २४, ४ ७१, ७४, ६ ५८, ७ ५०, ६५, ७६
वर-दान, ७ १२२
वरिष्ठ, ७ ८७
वरिष्ठा, ५ १४४
वरुण, १ ११७, ११८, १२२, २ २, ७, ११, २२, ५९८, १४७, १४८, ७ ११४
वरुण दैवत, ६ ९३
वरुण मित्र देव, ४ ६
वरुणानी, ३ ९२
वरुण अर्यम मित्र, वहु०, ३ १०७, ६ ५०, ८ ८६
वरुण इन्द्र अग्नि सोम, वहु०, ८ ४१
वर्ग, १ ५, २ ८५ ८६, ८७, ७ ११६
वर्ण, २ ११६, ७ १५
वर्ण-गोत्र आदिक, ३ १४५
वर्ण-गोत्र अविरोध, ३ १४४
वर्ण सघात, २ ११७
वर्तन्ती, ६ १३७

वर्तिन्, -नी, ३. १२
वर्मिन्, ५. १२९
वर्ष, बहु०, ७. ४२
वर्ष-सहस्र, ६. २०
वर्षा, बहु०, २. १२
वर्षिष्ठ, २. ६७
वल, ६. ६४
वश, २. ९६
वश, ६. ७९
वषट्-कार, ७. ६१; ८. ११३
√वस् । वसति ३. १२४; उवास ७. ४३;
ऊपतुः, ६. ६५
नि-, ७. १४७
वसत्, ६. ३६
वसति, वस् धातु, ५. १५६
वसन्त, १. ११५
वसन्ती, ६. ४०
वसिष्ठ, २. ६२, १३०; ३. १२८; ४. ९८, ११९; ५. १५०, १५१, १५४, १५७, १५८, १६३; ६. ११, ३४
वसिष्ठ-द्वेषिन्, नी, ४. ११७
वसिष्ठ-शाप, ७. ५९
वसिष्ठ-अगस्त्य, ५. १६४
वसु, ५. ६३, १३९, ६. ८५
वसु, बहु० १. ११६, २. १२; ८. १२०
वसुकण, ३. ५५
वसुक्र, ७. ३०
√वह्, ६. २१, २२, ७. ६५
आ- । अवाहयत, ३. १६२
वहन, १. १५९
वाक्-पूर्व, ८. ११३
वाक्-प्राण, ४. ३९
वाक्य, २. ८८, ८९, १००, ११७; ८. ६४
वाक्य-ज, २. १०४
वाक्यार्थ-निर्णय, २. ११७
वाक्यार्थ-दर्शनार्थीय, १. ४१
वाक्-सूक्त, ८. ४३
वाग्-देवत्य, २. १२५; ८. १२२
वाग् विद्वस्, ७. ११३
वाच्, १. ७४, १२८; २. ३९, ४४, ५०, ७२, ७६, ७९, ८१, ८४, १३८; ३. १२, १४; ४. ३६, ३९, ७२, ८५, ११३, ११४, ११५, ११६; ५. २, ९८, १००; ६. १२१, १५२, ७. ७१, १०६, १०७; ८. ८, ७६, ९१
वाचस्पति, १. १२५, २. ४४; ३. ७१
वाच्य, १. ६२; २. ९६
वाज, ३. ८३; ६. १३५
वाजिन्, ७. ३; बहु०, २. १२; ४. १४१, १४२
वाजिन-दैवत, ५. १६७
वात, १. १२५, २. ५
वातजूति, ८. १२७
वात-देव, ८. ४९
वाधूय, ७. १३४
वाभ्र्यश्व, २. १५५
वाम, ४. ३२
वाम-तस्, ४. ८९
वामदेव, २. ४०; ३. ५७; ४. १३२
वायव्य, १. ८७; २. १२७; ८. ४९
वायु, १. ५, ६८, ६९, ८२, १२२; २. २, ४, १६, ३२, १२४; ३. ९४
वायु-देवत, ८. १०८, १२२
वार्, ४. ३८
वारुण, ३. ९८, (जन) ६. १३
वारुणि, (=वसिष्ठ), ६. २४, ३३
वारशिख, बहु०, ५. १२४, १२५, १२६, १२७
वारिषाकप (=वार्षाकप), ९. ६९
वार्य, ४. ७४
वार्षसहस्रिक, ६. २२
वार्षाकप, ७. १४३
वार्षिक, ८. ६
वाद् = ववाद, ४. ९३
वासतीवर, ५. १५९
वासस्, ४. ३०, ४१; ६. ५२; ७. १३२

वासिष्ठ, ५. १५९
वास्तु, २. ४३
वास्तोष्पति, १. १२३; २. ४३; ६. ४८
वास्तोष्पत्य, ६. २
वाहन, १. ७४; ३. ८७; ४. १४३
वाहनार्थ, ३. १४७
विंशति, २. ९४; ५. ३०
विकर्ण, ८. १२०
विकार, १. १२१; ७. १०८
विकुण्ठा, ७. ४९
विक्रम्य, ६. १२२
विक्रीणत्, ४. १२३
विग्रह, २. १०६, ११२
√विच्.
वि॰ : वेचयन्ति, २. ९४
विचिकित्सित, २. १४१, १४४
विचेतन, ४. ११३
विछन्दस्, ८. १०९
विजन, ६. ९९
विजरारोग, ७. ४७
विज्ञान, ३. १३०; ७. ११०
विज्ञाय, ७. ३
वितत (यज्ञ), ५. ५३
वित्त, २. ३०
१. √विद् :
अधि- : वेत्ति, २. ३०
२. √विद् :
अनु-, ७. ११२
विद्धि, ५. १०२
विदित, १. ३३, ८. ७६
विदित्वा, ४. १; ६. ३८; ७. ४; ८. २८
विद्या, ३. १४२
विद्युत्, १. ५४, ९४; २. ३३
विद्वस्, ७. ११२, ११३
विधातृ, १. १२६; ५. १४७; ८. ७०, १२६
विधि, ५. ९४
विधि-दृष्ट, ४. ७७; ५. २४
विधि-वत्, ६. ११४
विधूय, ७. ७७
विनता, ५. १४४
विनाशन, २. १२१; ८. ५०
विनिक्षिप्य, ५. ८४
विनियोग, ७. ११३; ८. १०
विनिर्जित, ५. १२५
विनिश्चय, ३. २९
विपाट्छुतुद्री, ४. १०६
विपाश्, १. ११४
विपुल, ५. ७०
विप्रकृष्ट, २. १००
विप्रवाद, २. १३१
विफल, ५. ८२
विभक्त, ४. ६
विभक्त-स्तुति, ३. ३१, ८२
विभक्ति, १. ४३, ४५; २. ९४
विभज्य, ७. १२०
विभय, ७. १३२
विभाग, २. २०
विभिन्दु, ६. ४२
विभु, ६. ११३
विभूति, १. ७१; ३. १२३; ४. ३७
विभूति-स्थान-जन्म, १. ९६
विभूति-स्थान-संभव, १. १०४; २. २०
विभ्वन्, ३. ८३
विमद, ३. १२८
विमान, १. १२१
वियोगार्थम्, ७. १४९
विराग, ७. १३२
विराज्, ८. १००
विलपत्, ६. ३३
विलपित, १. ३६
विलाप, १. ५३
विवर, ६. १२३
विवस्वत्, २. ४७, ५. १४७; ६. ६८, १६२, १६३; ७. २, ४, ७, ११९
८. १२७
विवस्वत्-सुत, ६. १५४
विविक्त, ३. २०

विविच्य, ८. १३९
विविध, ४. ३१; ५ १३१; ७ ५०
विविधायुध, ७. १११
√विश् : विशति, ८. १४०
आ- : अविशत्, ८. २
प्रा : अविशत्, ६. १२; ७. ९२
उप- : विवेश, ५. २२
नि-, १. १००
विशति = √विश्, २. ६९
विशस्य, ४. ३०
विशोप, २. १०९
विशेष-तस्, ७. १३८
विशोग-श्राविन्, २. ११०
विश्व, १. १३४; विश्वे (देवाः), २. १२; ७. ४१; (देवाः), १. ८४; ३. ९५; ४. ९८; ५. ९७, १५५; ७. ७६; ८. १०६; (दिवौकसस्), ७ ११८; विश्वान् (देवान्), ३. ४४; विश्वैः, ३. ६०; (देवैः), ८. ६२; विश्वेषाम्, ३. ६; ८. १०६; (देवानाम्), ८. १०
विश्व-कर्मन्, १. १२३; २. ४९; ६. ५६
विश्व-भैषज्य, ८. ५०
विश्व-रूप, ४. १४३; ६. १५२
विश्व-रूप-शुक्र, ६. १४९
विश्व-क्षिप्र, २. १२८; ३. ३३, ४२, ४३
विश्ववारा, २. ८२
विश्वा, ५. १४४
विश्वात्मन्, ४. १३१
विश्वानर, १. १२७; २. ६६
विश्वामित्र, २. ४८, १३१, १५७; ४. १०५, ११५, ११९
विश्वामित्र-वचस्, ४. १०८
विश्वावसु, ७. १२०
विश्वे देव-गण, ३. १३६
विश्वेश, ८. १४०
विष, ७. ४४
विष-घ्न, ४. ६४
विषय, १. १२०; ८. १०७
विष-शङ्का, ४. ६४
विष्णाति = √विष्, २. ६९
विष्णु, १. ८२, ११७, २. २, ११, ६४, ७०, ३. ५९; ५. १४८; ६. १२२, १२३
विष्णु-न्यङ्ग, ५. ९०
विसंवाद, ५. ९५
विसर्ग, ४. ३८
विषुमत्, १. ९३; २९. ५८
विस्तर, १. ७९, ८०
विस्तार, ८. ३२
विस्पष्ट, ८. ८८
विस्मय, १. ३८, ५७
विस्मित, ५. ६९
विहव्य, २. १३१; ३ ५७
विहित, ८. १३५
विहीन, ७. १५०
वीड्वङ्ग, २. १४७
वीर्य, ७. ५४, ६०
वीर्य-वत्, ५. १४९
√वृ, ५. ३३, ५१, ६. ३८, ५४
वृकण, ७. ४१
वृक्ष-बर्हिस्, १. ६५
वृष-द्रोणी, ५. ८३
√वृत्
अनु- : वर्तन्ते, ३ ६
उप- : वर्तेत, ६. १३५
नि- : अवर्तत, ५ ६०; वर्तेताम्, ५. ६१
परि- : वर्तते, १. १२०
वृत, ४. २३; ७. १५१
वृत्त, ५. ६०
वृत्ति, २. १०९
वृत्र, २. ६, ६. ११२, १२१, १२२
वृत्र-समार्दित, ६. १०९
वृत्र-शङ्का, ७. ११३
वृत्र-हन्, ४. १२६; ६. ११०
वृद्धि, २. १२१

वृश (जान), ५ १४, १८, १९
√वृष्, वर्षति, १ ६८, ४ ३४, ७ २४,
ववर्ष, ८ २
वृषन्, २ ६६, ६७, ७ १४१
वृषभ, १ १११, ३ १४८, ६ ५२,
८ १२
वृषाकपायी, २ ८, १०, ८०, ७ १२०
वृषाकपि, २ १०, ६७, ६८
वृष्टि, २ ३३
वृष्टिकामेज्या, ८ ५
वृष्ण्य अर्थम्, ८ ९
वेग, ७ ५
वेद, ५ ५८, २ ४४
वेद वित्, ५ ५८
वेदार्थ-तत्व, ७ ११०
वेदि, ७ ३२
√वेन् वेनति, २ ५१
वेन, २ ५१
वषट्, २ ६९
वैखानस, २ २९
वैदर्भि, ५ ६२
वैदिक, १ ४, २३
वैदेह, ७ ५८, ५९
वैद्युत, ३ ७७, ८ ४४
वैन्य, ८ ४१
वैराज, १ ११६
१ वरूप, २ १३
२ वैरूप, ८ ३७
वैरूप्य, १ २६
वैवाहिक, ७ १३८
वैविध्य, १ १४, १६
वैश्वकर्मण, ७ ११७
वैश्वदेव, २ ८१, १२५, १२८, १३२,
१३३, ३ ३३, ४२, ४७, ५१, १२२,
१३१, १४१, ४ ७, ८, ३१, ४२, ५
१६५, ८ १२८, —वी, ३ ९९, ४ ९,
१२३, ५ १०६, १०४, ६ १३३
वैश्वदेवक, २ १२७
वैश्वदेवत, ८ १२३
वैश्वदेव्य, ७ ३९
वैश्वानर, १ ६७ ९७, १०६, २ ११, ४
९७, १०२, ५ १०४, ६ ४६, ७
६१, १४२, ८ १९७
वैश्वानर-स्तुति, १ ९९
वैश्वानरीय, १ ९९, १०२, ३ ११७,
१२९, ४ ९६, ५ १६१
वैष्णव, ३ ९३, ८ १०२
वैष्णव्य, ८ १०२
वोळ्ह, ३ ५०, ५९
न्यस, ६ ७८, ७ ५८
व्यञ्जन, ३ ११९
व्यञ्जित, १ ६४
व्यतिकीर्ण, २ १०४
व्युत्यय, ६ १७
व्यपेक्षा, ५ २४
व्यपोहितुम्, ६ १४०
व्यवस्थित, २ ३४, ६ १११, ११२,
७ ५२
व्यस्त, २ १२३, १२४, ३ १४, ६०,
८ १२४
व्याख्यात, ६ १२९
व्याप्तिमत्त्व, १ ९८
व्याहृति, २ १२३
व्याहृति-दैवत, २ १२३
व्युत्पत्ति, २ १०८
व्योमन्, १ ९१, २ ३२, ४२, ५६, ३
१४, ४ ४६, ६६
√व्रज् अव्रजत्
अनु-, ४ ३
व्रज, ८ २७
व्रजत, २ ५२, ३ १४३, ४ ११७
व्रजित, ३ १३५
व्रजनी, ४ १०१
शक्तु, ५ १०९
√शस, ६ २, १०४, १४०, १५०, ४.

१७; ५. १४०; ६. ५३, १२०, १३१,
१६०; ७. २३, ९६
अनु– : शंसति, १. १०३
प्र– : शंसति, ३. १०१
√शक् : अशकत, ६. १२२
शक, ४. ४३
शकट, ५. ३१; ६. १०५, १३८
शकुनि, १. १०९
१. शक्ति, २. ३२
२. शक्ति, ४. ११२
शक्ति-प्रक्षालन, ८ १०
शक्ति-मत्-ता, ७. ६०
शक्र, ३. ३८; ४. ३, ७०; ६. ५३, १०४,
११४; ७. २९, ३०
शक्वरी, १. १२३
शङ्ख-निधि, ६. ५५
शचीपति, ३ २०; ४. ७४; ५. १३८, ६.
५३, १३७
शची-सहाय, ४. १
शत, ३. १४८, १४९; ८. २
शत क्रतु, ४. ४६, ५२; ६. १५२
शत-धा, ४. १२०
शत-योजन, ८. २२
शतर्चिन्, ३. ११४, ११६
शत्रु, ५. १२७; ७. ६०, ८४
शंतनु, ७. १५५, १५६; ८. १, ३, ६
शंनोमित्रीय, -या, ३. ७९
√शप् : शपते, ६. ३३
शपु-काम, ६. ३७
शबर, ८. ७२
शब्द, २. ९९, १०१; ३. ८०
शब्द-रूप, २. १०८
शम्या मात्र, ५. १५२
√शम् : शामयत् :
प्र–, ४. ५३
शरद्, १. १३५
शरीर, ४. ४०; ७. १०१
शरीर-पात, ६. ८९
शरीरिन्, -णी, ५. ९८
शर्कर, ७. ७९
शर्म, २. ४६
शर्यणावती, ३. २३
शल्यक, ६. १०६
शशीयसी, ५. ६३, ६४, ८०
शश्वती २. ८३; ६ ४०
√शस् . शस्यते, –. ३३; ५ १७५;
६. १०८
शस्त्र, १ १०२, ४. २२; ५. १७५
शाकिनी, ६. १३६
शाकर, १ १३१
शान्ति, ८. ९०
शाम्य-अर्धम, ७. ९५, २१ ९४; ८ ८०
शाप, १. ३९, ४९; ६. ३४
शार्ङ्ग, ८. ५४
शार्यात, २ १२९; ३ ५५
शालसुषय, ७. ६७
शाश्वत, ३. १०९; ५. १२६
√शास् .
अनु– : अशात, ४. १३१; शासति,
४ ३; ७. ३७
आ– : शास्ते, ५. १३५; ६. ३१; ७.
११, १२, १९, १३४, १३६;
८. ८२
शास्त्र-विद्, ३. ४८
√शिष्, ३. ८४; ८. ४
शिशायन, २. ११४
शिरस्, ३. २१, २२, २३; ४. २२, ..
१५; ६. ३६, १५०
शिशिर, २. १२
शिशु, ५. १६; ६. १२९
शिष्य, ३. ८३
शीतोष्ण-वर्ष-दातृ, ७. २८
१. शुक्र, ४. १२; ५. ९९, १५१; ७.
६, ७८
२. शुक्र, ६. १४४
शुक्र-प्रतिषेध, ४. ११

शुक सकर, ४ १३
शुक्र, ५ ८०
शुचि (अग्नि), १ ६६, ३ १२९
शुतुद्री १ १४
शुन, ५ ८
शुन देवी ५ ७
शुन शेप, १ ५४, २ ११५, ३ १०३
शुनासीर, ५ ८, १ ११४, ५ ८, ०
शुभस पति, ५ ८४, ७ ४३
शुध्यु, ६ १४२
शूल्क स्थूणा, ४ ३०
शेप ८ ५०, ७ ३७
शैवक, ७ ७९
शोकय
अशोकयत, ७ ३६
शौनहोत्र, २ ४०, ४ ७८
श्मशान, ६ १६०, ७ ३५
श्याव ३ १४७, ६ ५२, ४ १४९, –वी, ३ ८
श्यावाश्व, ५ ५२, ५५, ५६, ६०, ६४, ६५ ६९, ७२
श्येन, १ १२६, ४ १२६
श्येन रूप, ४ १२६
श्रद्, २ ९५
श्रद्धा, १ ११९, २ ७४, ८४
श्रवण, ३ ११९
श्राद्ध, ८ ५८
श्री, २ ८३
श्री पुत्र, ५ ९१
श्री सूक्त, ५ ९१
√श्रु शुश्राव, २ १२२ श्रूयन्ते, ७ ७२
श्रुत, ४ १२०, ५ ५०, ८ ८७, १३५
श्रुत बन्धु, २ ५३
श्रुतर्वन्, ६ ९५
श्रुति, ४ १३९, ५ २३, ८३, १५९, १६०, ६ ३४, १४८ ७ ६२, ८ १३८
श्रष्टय-कर्मन्, ५ १५६
श्रोत्र, ७ ७१
श्रौत, ३ १४२
श्लाघा, १ ३६, ५३
श्लोक, २ ४२
श्वन्, ४ १२६, ६ १२, १५९
श्वशुर, ७ ३१
श्वस्, ४ ५०

षट्क, ८ ५६
षडविंश, ६ ८४
षड्विंशति, २ २२
षड् (विकारा), २ १२१ ,
षष्ट (षर्षाणि), ७ ४२
षष्ठ्युपाधिक, ३ १४९
षष्ठ, ५ १३०; (स्वर), ८ ११९
षळच्, ३ २७
षोळशार्च, ३ १२६
षोळ्हा, ४ ३५

सयुक्त, ७ ८४
सयोगार्थं, ७ १२६
सवत्सर, २ १६, ४ ३५, ६ २७
सवनन, ३ ५९, ४ ५३, ८ ३२, ९५
सवलयत, २ ६१
सवाद्, ३ ८८, ४ ३४, ४०, ५ १६३, १६४, ६ १५४, ७ २९, १४८, १५३
सविज्ञान पद ५ ९५
सविद्, ७ १४०
सशय, १ ३५, ५१
सस्कार्य व्रत सयुक्त, ६ १५८
सस्तव, १ ११७, ३ १०९, ४ २७, १३१, ५ १७२
सस्तविक, २ १५
सस्तुत, २ २, ३ ३६, ८३, ११०, ४ ६, २८
सस्तुत वत्, ३ ८१
सस्तुति, १ ७५, ६ १६१
सस्था, ३ ८२, ५ ९३
सस्थित, ५ ६७

सकल, २. १४४
सक्त, ५. ५५
सक्तु, ६. १०३
सखि, ४. १; ७. ५६
सखित्व, ४. २, ७५, ७७
सखी, ७. १५१
सख्य, ३. १०६; ७. १०३
संकल्प, १. ३७, ५५
संकल्पवत्, १. ५४
संकुसुक, २. ६०
संख्या, १. ४५; ८. १६
संख्यात, २. ९६
संगति, ५. ७७
संगृहीत्वा, ९. ४०
संग्रामाङ्ग, ५. १३६
सचतुर्दश, ६. १४६
√सज् : असज्यत :
सम-, ७. ५१
सजूः, ३. ४६
सजोषस्, ३. ४६
संज्ञान-वत्, ४. २९
संज्ञा, २. १३४; ३. ८२; ५. ९३; ८. ९९
संज्ञान, ८. ९५
संज्वर, १. ३८, ५६
१. सत्, १. ९२; ७. २३
२. सत्, १. ६२; २. १२०
सत्र, ५. २७, १४९; ६. २२; ७. ५९
सत्र-सद्, ८. १३३
सत्त्व, १. २३, ८१
सत्त्व-संगति, १. २९
सत्-पति, ३. ७०
सत्य, २. ४०, ४२
√सद् : सीदति, सीदत्
अव-, १. ९०; ४. ११३
वियुत, ५. ५३
प्र-, ८. ३
सद्-असत्, ८. १४०
सदसस्-पति, ३. ६७, ७०
सदस्य, ५. १५९
सदृश, २. ९७; ७. १
सद्यस्, ५. ७३
सनातन, ६. १४४
सनामन्, १. ९१
संताप, १ ३६, ५२
संत्यज्य, ५. १६
संदधत्, ७. १२८
संधि, ८. १२९
संनिधि, ६. १३९
संनिपात, २. १३२
सपत्नघ्न, ८. ६९, ९४
सपत्न निबर्हण, ८. ९२
सपत्नी, ६. ५७; ८. ६३
सपत्न्य्-अपनोदिक, ८. ५७
सपुत्र, ५. ५२, ५३, १०२
सपुरोहित, ३. १४४
सप्त (स्थानि), ५. ११३; (स्वराः), ८. १२१
सप्तक, ७. ५१, ११६
सप्तगु, ७. ५५, ५६, ५७
सप्तति, ६. ५१
सप्त-सुंदासम, ६. ४५
सप्तदश (स्तोम), २. १४
सप्तर्षि, २. ११; ३. ५८; ८. १२३
सप्ति, ३. ५०, ७९
सफल, ५. ८५
सबर, ३. ८५
सबर-दुघा, ३. ८५
सभार्य, ३. १४३
समग्र, २. ७६
समर, ६. ११५; ७. ५१
समस्त, २. १२३, १२४; ३. १४, ६०; ५. १७५, ८. ११०, १२४
समस्तार्थ-ज, २. १०४, १४४
समा, ८. २
समादाय, ६. १००
समान-छन्दस्, १. १९
समान-धर्मिन्, ३. १२८

समान वयस्, ५. ६८
समामन्त्र्य, ३ ८८
समाम्नाय, १ १
समायात्, ५ २२
समाश्रित, ८, ११७, ११८
समास, १ ७९, २ २८, १०६
समाहित, ८ १२०
समुत्थाय, ३ २४
समुत्पन्न, ६ ६२
समुद्धृत्य, ५. ८५
समुद्र, २ ११; ६ १३८
समुद्र गा, ६ २०
समेत, ७ १२९
सपद्, १ ११, २. १५८
सप्रवाद, ३ १५५
सप्रेष्य, ४ ९४, ५. ७४
सवन्ध, ३ ९८
सबोध्य, ३ १४५
सभव, १ १०४, २ २०, ३ १
सभूत ५. १५१, १५२, ८ ७९
सभृत, २ ५६
सभेद, ४ १०६
समत, ४ ११९
समन्व्य, ५. ५९
समित, ५ १५३
समोह, ७ ८१
सम्यग भक्ति दिदृक्षु, ३ ७३
सयूथ्य, ४ २८
सरण्यू २ १०, ८०, ६ १६१, १६३, ७ १, ३, ४
सरण्यू देवता, ७ ७
सरमा, १ १२८, २ ७७, ८३, ८ २५, २७, २८, ३३
सरस्, २ ५०, ३ २३, ७ १५०
सरस्वत्, १, १२३, २ ५१, ४ ३९, ४२, ६ १९
सरस्वती, १ १२८, २. ५१, ७४, ७६, ८१, १३५, १३७, ३ १३, ४ ३६, ३९, ६ २२, २३, २४, ५९, १३५
सर्प, ७ ७२, ८ ११५
सर्पिस्, ६ १४५
सर्व, ३ १०३
सर्व-कर्मन्, ५ १५८, ■ १२४
सर्व कार्य, ७ १२८
सर्व-गत, ६ १२१
सर्व-स्वत्व, ३ १३४
सर्व नामन्, २ ९७
सर्व भूत, २ १९
सर्वभूत हन, ७ ४४
सर्व रिप्र प्रणोदन, ८ ९२, ९३
सर्व-वेद, ५ ५३
सर्वाङ्ग-शोभन, ५ ६६
सर्वान्तर, २ ६९
सर्वावाप्ति, २ १३४
सलक्षण, ७ ३
सलिल, ४ ४१, ४३, ५ १५५; ६ ८८
सवन, ३ ९०, (तृतीय), २ १३, (मध्यम), १ १३०
सवर्चस्, २ १४१
सवर्णा, ६ ९८
सवितृ, १ ८४, १२५, २ १२, ६२, ३ ८८, ९८
सव्य, ३ ११४, ११५
सव्रीळ, ७ ९७
ससर्परी, ४ ११३
ससोम, ३ १२५
सहमान, ५ २२
सह रक्षस्, ६ १६०
सहस् (यहु), ३ ६४
सहसा, ५ २१, ६ ८८
सह-सुत, ८ ६१
सहस्र, ३ १४९, ६ ६१, (त्राणि), ७ ७५
सहस्र तम, ३ १७
सहस्र दक्षिण, ५. ३३
सहस्र युग पर्यन्त, ८ ९८
सहित, ४ ७६, १४१, ५ ९७, १३८, ६ ३५, ३९, ६३, ७ ७७, ८ ४

√स्नाः स्नान्ति, स्नेत्
  नि-अच, १. ८६, ८९
साङ्गोपाङ्ग, ५. ५३
साध्य, १. ११६; २. १२; ४. ३६; ५. ९७; ६. १४४; ८. ११७, १२८
सानुग, ३. १४३
सानुलिङ्ग, ३. १५२
सान्त्वयितृ, ६. १३
सान्त्य, ४. ३
सामन्, १. ११९, १३१; २. १३; ८. ११०, ११७, १२२, १२०
सामर्थ्य, १. १२२
साम-स्वर, ८. ११९, १२१
सामान्य, २. ११०
सामान्य-वाचिन्, २. १०९
सामामिक, १. ७९
सम्राज्य, १. ११८
सायम, २. ६४
सायाह्न-काल, २. ६८
सायुज्य, १. २१
सायुध, ४. ६७
सारथि, ५. १३०
सारमेय, ६. १२
सारङ्गत, २. १२५, १३८; ५. १२९; ६. १९, ८८; ७. ५९
सार्ञ्जय, ५. १२४, १३९
सार्थ, १. ९
सार्धं, ४. १०८
साधर्म, ५. २०; ७. ५१
सार्पराज्ञी, २. ८४; ८. ८९
सान्नाय्यी-सुत, ३. १३२
सालोक्य, १. ११, ९८; २. २१; ५. १०१; ७. १४४
सावर्ण्य, ७. १०३
सावित्र, ३. ४५, १०५;—त्री, ३. ५०, ७८; ६. १३२
सावित्र-सौम्याग्नि-मारुत, ४. ९९
सावित्री (सूर्या), २. ८४; ७. ११९
साहचर्य, १. १९; ३. ७५; ५. १५२; ७, १४४
साहाय्य-काव्य, ५. १३७
सिंहिका, ५. १४४
सिकत (= सिकता), ७. ७९
√सिच् :
  अभि-, ६. १५३; ८ १
√सिध् :
  नि- : निषेध, ३. १९
  प्रति-, ७. १३, ११०, १११
सिनीवाली, १. ११८; २. ७७
सिन्धुद्वीप, ६. १५३
सीमा, १. १२९; ५. ९
सीर, ५. ८
√सु : सुपुत्रे, २. ११३; सुषाव, ६. १०२
  प्र- : सौति, १. ६२
सु-ईर्यंव, ७. १२८
सुख, २. ४६
सुग, ७. ६५
सुगन्धि-तेजन, ७. ७८
सुत (सोम), ४. ५७; ३. १८; ४. ११२; ५. १०१, १४६; ७. ४७, ११४, ८.१९
सुता, ५. ५१; ७. ८५
सुदक्ष्, ६. १०४, १०५
सुदास्, ४. १०६, ११२
सुदास, ६. ३४
सुदुर्जय, ८ ३३
सुधन्वन्, ३. ८३; ८. १२७
सुपर्ण, १. १२४; ८. १२७; ७. ४८
सुप्रिय, ७. ५६
सुप्रीत, ३. १८; ६. ११९
सुबन्धु, ७. ८९, ८७, ८८, ८९, ९४, ९९, १००
सुभग, -गा, ७. ४७
सुमनस्, ७. ६५, ७६
सुमङ्गल, ६. १४०; ७. ४९
सुमहायशस्, ". ७२
सुमित्र, ८. १७
सुर, ६. ११७
सुर-द्रुम, १. ५६

सुरभि, ५. १४४
सुरा पाण, ६ १५१
सुलोमन्, ६ १०४
सुवीर, ४ ७२
सु वीरय, ७ १२८
सुषामन्, ६ ६७
सुसहृष्ट, ६ १११
सहृस्त्य, ७ ४७
सूक्त, १ १३, ३ २५, ८ ९९
सूक्त प्राय, ३ ८०
सूक्त भातिन्, ८ २०,–नी, १ १९, ६०, १ ७७, ३ ५३
सूक्त भाज, १ १७, १८, ९९, ४ ९९, ५ १४२, ६ १५९, ८ ९९ १२९
सूक्तर्ग्-अर्धर्च पाद, १ १
सूक्त वाद, ८ १००
सूक्त गत, ६ १४५
सूक्त-शब्द, ८ १००
सूक्त शेष, ३ ९३, १३८, ४ १४४, ७ १०१, ८ ९, १६
सूक्त सहस्र, ३ १३०
सूक्तादि, ३ ४५, ८ १५, ४२
सूक्तान्त, ७ ३९
सूक्त-अभिधान, ८ १००
सूक्त-एकदेश, ८ १०१
सून (= सूना), ४ २९
सूत, ३ १५३
सूरि, २ २४
सूर्य, १ ५, ६१, ६९, ८२, ८८, १००, २ ८, १०, २२, ६१, ७०, १२४, ४ ६३, ७. ११४, १२८
सूर्य स्तुय, ४ ११४
सूर्य दैवत, ८ ११९
सूर्य प्रसूत, १ १०१
सूर्य वत्, ६ १२४, १३६
सूर्य सस्तव, ३ ४४
सूर्य मस्तव-संयुक्त, ३ ४२
सूर्या, २ ८, ९, ७९, ८१, ८४, ३ ४०, ७ ११९, १२१, १३०
सूर्या चन्द्रमस्, ७ ८१, १२६, ८ १६
सूर्य अनल सम द्युति, ५ १०१
सूर्य अनिल, ७ २८
सूर्य अनुग, १ ७७
√सृ सरति, ७ १२८
√सृज ससृजे, २ ५३
उत् सृजामि, ३ १९
सोभरि, १ ४८, ६ ५८
सोम, १ ८२, ११७, १२६, २ २, ४, १०७, ६ १०१, १०२, १०९, १११, ११३ १३०, १३६, ७ ९, ७४
सोमक, ४ १२९
सोम दैवत, ७ ८३
सोम पति, ७ ७८
सोमपान, ६ १५१
सोम पायिन्, ४ ५४
सोम प्रधान, ४ १३७
सोम भाग, ५ १५६
सोम सूर्य, ८ १२५
सोमा पौष्ण, ४ ९१
सोमेन्द्र, ३ ६७
सौचीक, ७ ६२
सौत्रामण, २ १५३
सौदास, ६ २८
सौन, ४ २९
सौपर्ण, –र्णी, ६ १२०
सौपर्णेय, ३ ११९
सौभाग्य, ७ ४५
सौम, –मी, ५ ४१, ४४
सौम्य, ३ ११३, १२४, ६ २९, १४१ (मण्डल), ७ २३, ९२, ८ १११
सौर, –री, ४ ४१, ११३, ५. ११८, ६ ५, ९
सौर्य, १ ८७, २ ७, ३ ११३, १२९, ८ ११०, –र्या, ६ ६, १२६
सौर्य वैश्वानर, २ १६
सौर्य वैश्वानराग्नि, २ १८
सौर्य वैश्वानरीय, २ १७
सौर्या चान्द्रमस, –सी, ७ १२४
सौवर्ण, ५. ३१, ३५, ६ ५६
स्कन्द् चस्कन्द, ५ ९९, १४९
–न ५ ८४

स्तीर्ण, २. ५७
√स्तु : स्तोष्यते, ७. ४५; अस्तौत्, ३. ३६; ४. १६; ६. २६, ६२; ८. ७१
सम- : स्तूयन्ते, ३. ७
अभि-सम-, ३. ४४
स्तुत-वत्, ८. ६८
स्तुति, १. ६, १४, ३५, ४७, ६०; २. १२१; ३. ७
स्तुति कर्मन्, ३. ४
स्तुति-काम्य, ८. २०
स्तुति-दर्शिन, ७. ५७
स्तुत्य-आशिस्, १. ८
स्तूयमान, ३. १०३
स्तोकोधा, ५. २५
स्तोतृ, १. २२
स्तोत्र, ८. ७८
स्तोत्रिय, १. १०३
स्तोम, १. ११५; ७. १, १२
स्त्री, १. ४०; २. ९६; ३. ४१; ४. १, १३२, १३५; ५. ७५; ७. १२
स्त्री-धर्म, ७. ६५
स्त्री-लिङ्ग, ६. ७६
स्थल, ५. १५१; ६. ८८
स्थविर, ३. ४७
√स्था :
अभि- : अतिष्ठत, ६. १३०
आ- : तस्थे, ७. ४३
प्र-, ५. १३६
स्थान, १. ७१; २. २१, २६
स्थान-लोक, ३. ६८
स्थान-विभाग, १. ७०
स्थावर, १. ६१; ८. ११६
स्थास्नु-जङ्गम, ४. ३७
स्थित, ७. १२१
स्थिति, २. ११८
स्नात, -ता, ४. ५७
स्नायु, ७. ७८
स्नुषा, ५. ७६, ७९; (इन्द्रस्य), ७. ३०
स्पर्धा, ६. ५७
√स्पृश्, ७. ५६, १०२
स्पृहा, २. ३५, ५३
√स्मृ : स्मरति, ८. ८५
स्रवत्, ५. ८६; ७. ६६
स्रवन्ती, ७. ११५
स्व, ३. २२; ५. ८५; ६. ४१, १२३; ७. २३
स्वक, ८. ७१
स्व-जन्मन्, ४. १०
स्व-द्वार-गर्भार्थिन्, ८. ८३
स्वधा, ८. ११२
स्वधिति, ४. ३०
स्वनय, ३. १४३, १५०; ४. १
स्व-निलय, ३. १४२
√स्वप् ३. १४८; ४. ६९; ५. ८५; ६. ३३
प्र-, ६. ३३
वि- : अस्वप्यत्, ६. १३
स्वप्न, ६. ११
स्वप्नान्त, ६. १४८
स्व-बल, ६. ११
स्व-बाहु-वीर्य, ७. ५२
स्व-भाव, ८. ३१
स्व-माया, ७. १५०
स्वयम्, ८. ८९
स्व-यूथ्य, ४. २८
स्वर, २. ११५; ८. ११२, ११४, ११६, ११७, ११८, ११९, १२१
स्व-रश्मि, २. ६५
स्वर-सामन्, ३. १२१
स्वराज्, ४. १०७
स्वर्ग, १. ८; ६. ९०, ११४; ७. १५२, १५७; ८. १३३
स्वर्ग-जिगीषु, ३. १४३
स्वर्ग-आयुर्-धन-पुत्र, ६. ७
स्वर्भानु-हत, ५. १२
स्वसृ, ८. ८७
स्वदर्प-वीर्य, ६. ३१
स्व-वयस्, ५. ६२
स्व-वाक्य, २. ५८
स्व-शरीर, ४. ११७
स्वस्, २. ८२; ३. ७७, १४९; ८. २८
स्वगृह, ८. ६०

स्वस्ति, १ १२८, २ ७८, ७ ९३, १०५,
८ १२५
स्वस्त्ययन, ७ ९०, ८ ६७, ८७
स्वस्त्यात्रेय, ३ ५६
स्वाध्याय, ८ १३३
स्वाध्याय फल, ६ १४३
स्वाध्याय अध्येतृ प्रशस्तव, ६ १३३
स्वापयत्, २ ६८
स्वाभिधेय, २ ११७
स्वाहा, ३ ३०
स्वाहा-कार, ८ १११
स्वाहा कृति, १ १०९, २ १५०, ३ २९
स्विष्ट कृत्, ७ ७५

हत, ६ २८, ३४
हत वत, ६ १५२
√हन्, ६ ३२, ११५, १२२, ७ ५१, ५२, ६२, ८ ३४, ३७
अप अहनत्, ४ २२, ११४
आ– हन्ति, ५ १६६
वि आ– घ्नन्ति, ४ ९९
हन, ७ ४४
हन्त ५ ६६, ७८
हय, ४ २८
हय रूपिन्, ७ ४
हर, ५ ११
हरण, २ १९, ४ ३८, ७ १३३
हरस, ५ २१, ५ १७
हरि, ३ ८६, ४ १४४, ४ १३०
हरित्, ४ १४०
हरि वत्, ४ १
हरि वाहन, ४ ६७, ५ १५७, ८ ३५
हर्यपीया नदी तट, ५ १३८
हर्ष, ५ ६६
हर्षित, ३ १५३
हविर् धान, १ ११४, ३ ९२, ५ १५५
हविर् भाज्, ८ १२९
हविष् पङ्क्ति प्रधान, १ ८६
हविस्, १ ७८, ११८, ११९, २ १६, १३८, ३ ७, ६३, ७४, ४ २९, ६ ५८, ९३, ७ ७३, १४२, ८ १०३, १३१, १३२
हव्य, ४ ५०, ७ ६५
हव्य कव्य वह, ६ ११०
हव्य वाहन, ७ ६३, ७७
हस्त, ७ १३५
हस्त घ्न, १ ११०
हस्त-त्राण, ५ १३२
√हा हीयते, ८ १३८
हान, २ १२१
√हि अहिनोत्
प्र–, ८ २५
हिंकार, ८ १११, १२३
हितार्थिन्, ७ ९९
हिम बिन्दु, ३ ९
हिमवत्, ५ ६५
हिम शब्द, २ ११०
हिरण्मय, ३ १०३
हिरण्य-गर्भ, २ ४६
हिरण्य स्तुति, ८ ४५
हिरण्यस्तूप वा, ३ १०६
हीन, २ १००
√हु, ८ १३२
हुत, ३ ५
√हृ अहरत्, ३ २२
अप–, ३ १२२, ८. २४
आ–, ५ ९१ (सत्रे), ८ ३१, ३६
वि आ– जहार, ४ १४
हृदय गम, ४ ७२
हृद्य, ८ ६२
हृष्ट, –ष्टा, ४ २
हृष्टात्मन्, ४ ११५, ६ ६१
हेमन्त, १ १३१
हैम रौप्य आयस, –सी, ७ ५२
होतृ, ७ १४, ७०, (दैव्यौ) १ १०८, ३ ११
होत्र, ७ ६६, ६७
होत्रा, १ ६५
होम, ८ १३४
√ह्वे हूयसे, ३ ७७
आ–, ४ १३१, ६ १०२, ७ १००
उप–, ३ ८४

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
१६४

शौनकीय

बृहद्देवता

(ऋग्वेद के देवताओं और पुराकथाओं का सारांश)

(मूल, हिन्दी अनुवाद, तुलनात्मक टीकाओं और परिशिष्टों से युक्त)

सम्पादक और अनुवादक
रामकुमार राय
प्राध्यापक
बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, संवत् २०२०
मूल्य : १५-००

Phone : 3145

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
164



THE

BṚHAD-DEVATĀ

ATTRIBUTED TO

S'AUNAKA

(A Summary of the Deities and Myths of the Ṛgveda)

Edited with Original Sanskrit Text, Hindi Translation, Notes and Appendices

By

RAMKUMAR RAI
Banaras Hindu University.

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Varanasi-1 (India)
1963

भूमिका

यद्यपि वैदिक साहित्य के अन्तर्गत बृहद्देवता का पर्याप्त महत्त्व है, तथापि इधर अनेक वर्षों से इसका एक भी संस्करण उपलब्ध नहीं था। और इसका हिन्दी अनुवाद तो अब तक हुआ ही नहीं। ऐसी स्थिति में जब चौखम्बा संस्कृत सीरीज के संचालकों ने मुझ से इसका मूल और हिन्दी अनुवाद सहित एक संस्करण तैयार करने का प्रस्ताव किया तो मैंने इसे स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप यह ग्रन्थ अपने गुणों और दोषों के साथ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

मूल बृहद्देवता के अब तक दो संस्करण निकल चुके हैं: एक श्री राजेन्द्रलाल मित्रा के सम्पादकत्व में सन् १८८६ में, रायल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, से प्रकाशित हुआ था, और दूसरा श्री ए० ए० मैकडानेल के सम्पादकत्व में सन् १९०४ में हर्वर्ड ओरियण्टल सीरीज में। हर्वर्ड संस्करण में मूल के साथ-साथ अंग्रेज़ी अनुवाद भी छपा है। प्रस्तुत संस्करण का मूल इस हर्वर्ड संस्करण पर ही आधारित है, क्योंकि, जैसा स्वयं मैकडॉनेल ने भी अपने संस्करण की भूमिका में लिखा है, श्री राजेन्द्रलाल मित्रा के संस्करण का पाठ बहुत शुद्ध नहीं है। साथ ही उसमें अनेक स्थलों पर एक ही श्लोक कई-कई बार मिलता है। इसके विपरीत मैकडॉनेल ने उपलब्ध पाण्डुलिपियों के आधार पर यथा शक्ति एक प्रामाणिक और विश्वसनीय मूल प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

जहाँ तक हिन्दी अनुवाद का प्रश्न है मैंने मैकडॉनेल के अंग्रेजी अनुवाद से कोई विशेष सहायता नहीं ली है क्योंकि मेरी समझ से उनका अंग्रेज़ी अनुवाद कहीं-कहीं भ्रामक और भारतीय आत्मा के विपरीत भी है। इस बात के लिये भी मैं सर्वत्र सतर्क रहा हूँ कि हिन्दी अनुवाद मूल श्लोकों का अनुवाद ही रहे टीका या अर्थ न बन जाय। अतः अनुवाद में ऐसा कुछ भी नहीं कहा गया है जो श्लोक द्वारा प्रत्यक्ष व्यक्त नहीं होता। इसका अपवाद केवल वे ही स्थल हैं जहाँ वाक्य-विन्यास अथवा अभिव्यक्ति की स्पष्टता की दृष्टि से कुछ बातों का लिखना आवश्यक हो गया है। उदाहरण के लिये, अनेक श्लोकों में वैदिक प्रतीकों का व्यवहार किया गया है तथा यह प्रतीक कहीं तो किसी वैदिक ऋचा को, कहीं अर्ध ऋचा को, और कहीं सम्पूर्ण सूक्त अथवा सूक्त समूह को व्यक्त करते हैं। ऐसी दशाओं में अनुवाद में प्रतीक को लिखने के बाद '- से आरम्भ सूक्त/ऋचा/अर्ध ऋचा', आदि भी लिखा गया है जिससे अर्थ स्पष्ट हो जाय। इस प्रकार के स्थलों के अतिरिक्त अनुवाद में और कहीं भी अतिरिक्त व्याख्यात्मक शब्दों का समावेश नहीं मिलेगा।

श्लोकों पर लिखी टिप्पणियाँ अधिकांशतः मैकडॉनेल के संस्करण से ली गई हैं। किन्तु मैंने केवल तुलनात्मक और सन्दर्भात्मक टिप्पणियों को ग्रहण किया है क्योंकि बृहद्देवता के मूल्यांकन में उनका पर्याप्त महत्त्व है। मैकडॉनेल की टिप्पणियों में कहीं-कहीं कुछ सन्दर्भ संकेत अशुद्ध भी मिले, किन्तु मैंने उन्हें ठीक कर दिया है। ग्रन्थ के अन्त में विभिन्न परिशिष्टों में बृहद्देवता के तुलनात्मक और विस्तृत अध्ययन के लिये प्रायः समस्त उपलब्ध सामग्री प्रस्तुत कर दी गई है। इन परिशिष्टों के लिये भी हर्वर्ड संस्करण से पर्याप्त सहायता मिली है। इस प्रकार मेरा प्रयास इस संस्करण को उपयोगिता की दृष्टि से हर्वर्ड के दुष्प्राप्य संस्करण के समकक्ष बना देना रहा है।

इस सम्बन्ध में मैं हर्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रति विशेष रूप से आभार प्रकट करना चाहता हूँ, जिसके प्रकाशन-अधिकारी ने मुझे मैकडॉनेल द्वारा सम्पादित और हर्वर्ड ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित बृहद्देवता के संस्करण की टिप्पणियों और परिशिष्टों के उपयोग की अत्यन्त उदारतापूर्वक स्वीकृति प्रदान की है।

अनुवाद की पाण्डुलिपि तैयार करने, तथा अनेक अंशों के प्रूफ-संशोधन में मुझे पं० शिवचरण शर्मा से पर्याप्त सहायता मिली है, जिसके लिये मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस के उदीयमान संचालक, श्री मोहनदास तथा श्री विट्ठलदास जी को क्या धन्यवाद दूँ! इन लोगों की तत्परता और सतत उत्साह के कारण ही न केवल बृहद्देवता के प्रस्तुत संस्करण वरन् मेरे अनेक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन सम्भव हो सका है। भारतीय संस्कृति और संस्कृत साहित्य को समृद्ध करने की दिशा में इन लोगों के प्रयास की हमारे देश के राष्ट्रपति तक ने सराहना की है।

अन्त में मैं यही कहना चाहता हूँ कि मनुष्य का कोई भी कार्य पूर्ण और निर्दोष नहीं होता, और फिर मैं तो एक साधारण और अल्पज्ञ व्यक्ति हूँ। अतः मुझे आशा है कि विद्वान् पाठक प्रस्तुत कृति के प्रति सहानुभूति-पूर्ण दृष्टिकोण रखते हुये मेरी त्रुटियों को मुझे सूचित करेंगे जिससे मैं भविष्य में उनका परिमार्जन करने के साथ-साथ अपना ज्ञानवर्द्धन भी कर सकूँ।

रामकुमार राय

विषय-सूची

अध्याय १

वर्ग	पृष्ठ
१ देवताओं को जानने का महत्त्व; वैदिक-त्रयी	३
२ स्तुति और आशीस्	४
३ सूक्तों के विभिन्न प्रकार	५
४ सूक्तों के देवता, मन्त्रों के देवता, और नैपातिक देवता	६
५ नामों की उत्पत्ति	७
६ शौनक का दृष्टिकोण : सभी नाम कर्म से उत्पन्न होते हैं	८
७ मांगलिक नाम, विभिन्न प्रकार के मन्त्र	९
८ विभिन्न प्रकार के मन्त्र तथा अभिव्यञ्जनात्मक पद्धतियां	१०
९ संज्ञा और क्रिया की परिभाषा	११
१० विभिन्न प्रकार के मन्त्रों के उदाहरण	१२
११ समस्त स्थावर-जङ्गम के स्रोत के रूप में सूर्य और प्रजापति	१६
१२ अग्नि के तीन रूप	१७
१३ त्रयी और आत्मन्, वाच् के तीन रूप	१८
१४ सूक्त का प्रधान देवता	१९
१५ देवों के नामों की गणना	२०
१६ अग्नि, इन्द्र-वायु, और सूर्य को समर्पित सूक्तों की विशेषता	२१
१७ तीन अग्नि	२२
१८ अग्नि, जातवेदस् , वैश्वानर : मूलत समान, किन्तु इनका विभेद	२३
१९ अवरोहक क्रम से तीनों लोकों के देवता	२४
२० पार्थिव अग्नि का प्रतिनिधित्व करनेवाले देवता	२५
२१ अग्नि के साथ सम्बद्ध अन्य देवता	२८
२२ इन्द्र से सम्बद्ध मध्य-स्थान का देव-समूह	२९
२३ इन्द्र के क्षेत्र से सम्बद्ध देवता तथा दैवीकृत पदार्थ	३०

अध्याय २

१ इन्द्र-स्थान के देवता	३२
२ सूर्य-क्षेत्र के देवता : सूर्य की तीन पत्नियां	३३

वर्ग	पृष्ठ
३ सूर्य और वैश्वानर, अग्नि के रूप हैं	३५
४ अग्नि के पाँच नाम, अग्नि द्रविणोदस् , तनूनपात् की उत्पत्ति	३७
५ नराशस, पवमान , जातवेदस्	३८
६ इन्द्र के छब्बीस नाम वायु वरुण, रुद्र, इन्द्र	३९
७ पर्जन्य, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, क्षेत्रस्य-पति, ऋत	४०
८ वास्तोष्पति, वाचस्पति, अदिति, क, यम	४२
९ मित्र विश्वकर्मन् , सरस्वत् , वेन, मन्यु	४४
१० असुनीति, अपा नपात् , दधिक्रा, धातृ, तार्क्ष्य	४५
११ पुरूरवस् , मृत्यु । सूर्य के नाम सवितृ, भग	४६
१२ पूषन् , विष्णु, केशिन् विश्वानर, वृषाकपि	४८
१३ विष्णु की व्युत्पत्ति नैपातिक नामो की गणना नही कराई जा सकती	४९
१४ त्रिविध वाच् उसके पार्थिव और मध्यम रूप	५०
१५ वाच् के अन्य मध्य स्थानीय रूप इसके चार दिव्य रूप	५२
१६ स्त्री द्रष्टियो के नाम तीन वर्ग	५३
१७ आत्म-स्तुतियो तथा सवाद वाक्यो के देवता, निपात	५५
१८ उपसर्ग , लिङ्ग	५७
१९ सज्ञा, सर्वनाम आशय अन्वय	५८
२० शब्दो का विग्रह समास के छ प्रकार	५९
२१ शब्दो का विग्रह और अर्थ	६०
२२ यास्क की अशुद्ध व्याख्यायें वर्णलोप	६२
२३ शब्द और अर्थ , क्रिया मे भावप्रधानता होती है	६४
२४ व्याहृतियो और ॐ के देवता	६५

ऋग्वेद के देवता

२५ प्रथम तीन सूक्त , विश्वदेव-सूक्तो के ऋषि	६६
२६ विश्वेदेव-सूक्तो की प्रकृति	६८
२७ सरस्वती को सबोधित ऋग्वेद के स्थल । इन्द्र-सूक्त	६८
२८ ऋग्वेद १ ६ मे इन्द्र, मरुतो के साथ सम्बद्ध हैं	७०
२९ ऋग्वद १ १२, तथा आप्री सूक्त १ १३ के देवता	७१
३० ग्यारह आप्री-सूक्त	७२
३१ आप्री-सूक्तो मे तनूनपात् और नराशस , अग्नि का एक रूप इध्म	७३

वर्ग पृष्ठ

अध्याय ३

ऋग्वेद १. १३-१२६ के देवता

१ तनूनपात्, नराशंस, इळ; बर्हिस् ७५
२ दिव्य द्वार; रात्रि और उषस् ७६
३ दो दिव्य होता, तीन देवियाँ, त्वष्टृ ७७
४ दिव्य त्वष्टृ, दध्यञ्च् और मधु की कथा ७९
५ दध्यञ्च् का अश्व-शिर, मध्यम त्वष्टृ ८०
६ वनस्पति, स्वाहाकृतियाँ ८१
७ तनूनपात् और नराशंस ऋग्वेद १ १४ और १५ के देवता ... ८३
८ ऋतुओं को समर्पित सूक्त : ऋग्वेद १. १५ ... ... ८४
९ विश्वेदेवों को समर्पित तीन प्रकार के सूक्त ८५
१० किसी सूक्त के देवता का निर्णय कैसे किया जाय ... ८७
११ प्रमङ्गात्मक देवता तथा सूक्त का स्वामित्व । वैश्वदेव सूक्तों के द्रष्टा ८८
१२ वैश्वदेव सूक्तों के द्रष्टाओं की गणना ८९
१३ द्रविणोदस् की व्याख्या । ऋग्वेद १ १६-१८ के देवता ... ९१
१४ ऋग्वेद १. १८ के देवता । प्रजापति के आठ नाम .. ९२
१५ प्रजापति के नाम (क्रमश:) । ऋग्वेद १ १९ देवता ... ९४
१६ किसी ऋचा, इत्यादि, के देवता का किस प्रकार निर्धारण करना चाहिये ९५
१७ ऋभुओं और त्वष्टा की कथा ९७
१८ ऋग्वेद १ २०-२१ के देवता ९८
१९ ऋग्वेद १ २२ (क्रमश:), ऋग्वेद १. २३ : पूषन् आघृणि ... ९९
२० ऋग्वेद १. २४-३० के देवता १०१
२१ ऋग्वेद १ ३१-४० के देवता १०२
२२ ऋग्वेद १ ४१-४७ के देवता १०३
२३ ऋग्वेद १. ४८-६० । सव्य की कथा । शतर्चिन्-गण ... १०४
२४ ऋग्वेद १ ६१-७३ । व्याहृत खिल । ऋग्वेद १ ७४-८९ ... १०५
२५ ऋग्वेद १ ९०-९३ । प्रथम मण्डल के ७४-१६४ सूक्तों के अन्तर्गत सूक्त-समूह १०७
२६ ऋग्वेद १. ९४-१११ । ध्रुवपदों से युक्त सूक्तों के ऋषि कश्यप के खिल १०८
२७ ऋग्वेद १. १०५ : त्रित की कथा १०९
२८ ऋग्वेद १. ११२-१२१ के देवता ११०

वर्ग पृष्ठ
२९ कक्षीवत् और स्वनय की कथा १११
३० राजा के उपहार। नाराशंसी ऋचाओं १ १२६ ६–७ सम्बन्धी विचार ११३

अध्याय ४

ऋग्वेद १ १२७-४ ३२ के देवता

१ रोमशा और इन्द्र। ऋग्वेद १ १२७–१३६। युगल-स्तुतियां ११५
२ विभक्त स्तुतियाँ। ऋग्वेद १ १३७–१३९। वैश्वदेव सूक्त ११६
३ दीर्घतमस के जन्म की कथा ११८
४ दीर्घतमस को प्रकट सूक्त ऋग्वेद १ १४१–१५६ ११९
५ दीर्घतमस की कथा (क्रमशः) १२०
६ ऋग्वेद १ १५७–१६३ के देवता १२१
७ ऋग्वेद १ १६४ के देवता तीन अग्नि संवत्सर १२२
८ ऋग्वेद १ १६४ के विषय वस्तु का विवरण (क्रमशः) १२३
९ ऋग्वेद १ १६४ (क्रमशः)। ऋग्वेद १ १६५ इन्द्र तथा मरुद्गण १२४
१० इन्द्र मरुद्गण और अगस्त्य ऋग्वेद १ १६९ १७० १२७
११ ऋग्वेद १ १७१–१७८। अगस्त्य और लोपामुद्रा ऋग्वेद १ १७९ १२८
१२ अगस्त्य और लोपामुद्रा। ऋग्वेद १ १८०–१९० १२९

द्वितीय मण्डल

१३ ऋग्वेद २ १ १२ के देवता। गृत्समद इन्द्र और दैत्यगण १३०
१४ गृत्समद और इन्द्र १३१
१५ इन्द्र और गृत्समद की कथा (क्रमशः) १३२
१६ ऋग्वेद २ २३–३० के देवता १३३
१७ ऋग्वेद २ ३१–३५ के देवता १३४
१८ ऋग्वेद २ ३६–४३ के देवता। कपिञ्जल के रूप में इन्द्र १३५

तृतीय मण्डल

१९ विश्वामित्र ऋषि। ऋग्वेद ३ १–६ के देवता १३६
२० ऋग्वेद ३ ७–२९ के देवता १३८
२१ ऋग्वेद ३ ३०–३३ के देवता विश्वामित्र सुदास् और नदियाँ १३९
२२ ऋग्वेद ३ ३१ एक पुत्रिका-पुत्री। विश्वामित्र और शक्ति १४०

वर्ग पृ०
२३ विश्वामित्र और वाच् ससर्परी। वसिष्ठों के विरुद्ध अभिचार ... १४१
२४ ऋग्वेद ३ ५३, २१–२४। ऋग्वेद ३ ५४–६० के देवता ... १४२
२५ ऋग्वेद ३ ६१–६२ के देवता १४३

चतुर्थ मण्डल

२६ ऋग्वेद ४ १–१५ के देवता १४३
२७, २८ ऋग्वेद ४ १८–३०। इन्द्र का जन्म और वामदेव के साथ युद्ध १४४
२९ विभिन्न देवताओं के वाहनाश्व . . . १४६

अध्याय ५

ऋग्वेद ४. ३३–७. ४९ के देवता

१ ऋग्वेद ४ ३३–५२ के देवता १४८
२ ऋग्वेद ४ ५३–५८ के देवता १४९
३ ऋग्वेद ५. १, २८ के देवता। त्र्यरुण वृशजान की कथा ... १५१
४ त्र्यरुण की कथा (क्रमश) १५२
५ अन्य कृतियों में ऋग्वेद ५ २, २ ९ के सन्दर्भ। ऋग्वेद ५ २९, ४० के देवता १५३
६ अत्रि की दान-स्तुति १५४
७ ऋणचय का बभ्रु को दान। ऋग्वेद ५ ४१–५१ के देवता .. १५४
८ ऋग्वेद ५ ४१-४३ का विस्तृत वर्णन १५५
९ ऋग्वेद ५ ५३ (क्रमश) ४४–५५ के देवता ... १५६
१० ऋग्वेद ५. ५१–६० के देवता १५७
११ श्यावाश्व की कथा ... १५८
१२ श्यावाश्व की कथा (क्रमश) १५९
१३ श्यावाश्व की कथा (क्रमशः) १६०
१४ श्यावाश्व की कथा (क्रमशः) १६१
१५ श्यावाश्व की कथा (समाप्त) १६३
१६ ऋग्वेद ५. ७३–७८। सप्तवध्रि की कथा १६३
१७ ऋग्वेद ५. ७९–८७ के देवता। खिल १६४
१८ प्रजावत् और जीवपुत्र के खिल। मन्त्रों का व्यवहार ... १६५
१९ भृगु, अङ्गिरस् और अत्रि के जन्म की कथा ... १६६

वर्ग पृ०

षष्ठ मण्डल

२० भरद्वाज की उत्पत्ति। ऋग्वेद ६ १–३६ के देवता ... १६७
२१ ऋग्वेद ६ ३७ ४४ ४५ ४७ के देवता ... १६८
२२ ऋग्वेद ६ ४७ (क्रमश), और ६ ४८ के देवता ... १६९
२३ ऋग्वेद ६ ४९–६२ के देवता ... १७०
२४ ऋग्वेद ६ ६३–७४ के देवता। सात रत्न ... १७१
२५ ऋग्वेद ६ ७५ अभ्यावर्तिन् और प्रस्तोक सार्ञ्जय की कथा ... १७२
२६ ऋग्वेद ६ ७५ के देवताओं का विस्तृत उल्लेख ... १७३
२७ ऋग्वेद ६ ७५ (क्रमश) ... १७४
२८ चायमान और प्रस्तोक की कथा ... १७५

सप्तम मण्डल

२९ वसिष्ठ की वंशावलि। कश्यप की पत्नियाँ ... १७६
३० मित्र-वरुण और उर्वशी की कथा ... १७६
३१ अगस्त्य और वसिष्ठ का जन्म ... १७७
३२ वसिष्ठ और उनके वंशज। ऋग्वेद ७ १–३२ के देवता ... १७८
३३ ऋग्वेद ७ ३३–३८ के देवता ... १७९
३४ ऋग्वेद ७ ३८–४३ के देवता ... १८०
३५ ऋग्वेद ७ ४४–४९ के देवता ... १८१

अध्याय ६

ऋग्वेद ७. ५०–१०. १७ के देवता

१ ऋग्वेद ७ ५०–६६ के देवता ... १८३
२ ऋग्वेद ७ ६६–८५ के देवता ... १८४
३ वसिष्ठ और वरुण का कुत्ता ऋग्वेद ७ ८६–८९ ... १८५
४ ऋग्वेद ७ ९०–९६ के देवता ... १८६
५ नाहुष और सरस्वती की कथा ऋग्वेद ७ ९५–९६ ... १८६
६ ऋग्वेद ७ ९७–१०४ के देवता ... १८७
७ ऋग्वेद ७ १०४ का विस्तृत विवरण ... १८८

अष्टम मण्डल

८ कण्व और प्रगाथ की कथा ... १८९

वर्ग			पृष्ठ
९ ऋग्वेद ८ १–२१ के देवता	...	...	१९०
१० ऋग्वेद ८ ५–१८ के देवता	...	...	१९२
११ ऋग्वेद ८. १९ : त्रसदस्यु के दानों की स्तुति		...	१९३
१२ ऋषि द्वारा माँगे गये वर। सोभरि और चित्र की कथा		...	१९४
१३ सोभरि और चित्र की कथा (क्रमश) ऋग्वेद ८ २२–२५		...	१९४
१४ ऋग्वेद ८ २६–३१ के देवता। ८ २९ पृथक्-कर्म-स्तुति है			१९६
१५ ऋग्वेद ८. २९ और ३१ का विस्तृत विवरण। ऋग्वेद ८.३२–३४ के देवता	...	...	१९६
१६ इन्द्र और व्यश की बहस। ऋग्वेद ८ ३५–४६ के देवता		...	१९८
१७ ऋग्वेद ८. ४७–५६ के देवता	...	..	१९९
१८ ऋग्वेद ८ ६०–६७ के देवता	..	...	१९९
१९ ऋग्वेद ८. ६८–७५ के देवता	...	. .	२०१
२० ऋग्वेद ८ ७६–९० के देवता	...	...	२०१
२१ अपाला की कथा	...	.	२०२
२२ अपाला की कथा (शेषांश)। ऋग्वेद ८ ९२–९३ के देवता			२०३
२३ देवों के पास से सोम के पलायन की कथा		...	२०४
२४ सोम के पलायन की कथा (क्रमशः)	...	...	२०५
२५ ऋग्वेद ८ १०० सम्बन्धी विवरण। विष्णु द्वारा इन्द्र की सहायता			२०६
२६ ऋग्वेद ७ १०१ के देवताओं से सम्बन्धित विवरण		...	२०७

नवम मण्डल

२७ ऋग्वेद ९ १–८६ के देवता	...	...	२०८
२८ ऋग्वेद ९ ८७ ९६ ११२, के देवता	..	...	२०९
२९ इन्द्र और ऋषिगण। तप का माहात्म्य	...	...	२१०

दशम मण्डल

३० ऋग्वेद १० १–८ के देवता। त्रिशिरस् और इन्द्र	...	२१२
३१ ऋग्वेद १०. ९–१४ के देवता	...	२१३
३२ ऋग्वेद १०. १४ के देवता (क्रमशः), और १५ १६। तीन अग्नि		२१४
३३ सरण्यू की कथा : ऋग्वेद १०–१७	...	२१५